मैत्रायणी
संहिता

मैत्रायणी संहिता

लेखिका
डॉ० वेदकुमारी विद्यालंकार
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापिका, संस्कृत-विभाग
गौरी देवी राजकीय महिला महाविद्यालय
अलवर (राजस्थान)

बांके बिहारी प्रकाशन, आगरा - २
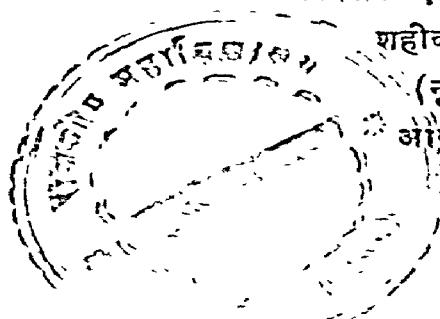
समर्पण

जीवन मे "सत्य शिवं सुन्दर" के प्रेरक

श्रद्धेय जनक-जननी
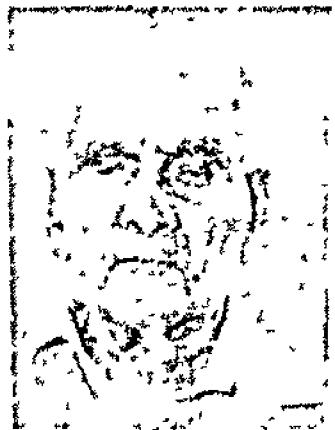
प० शिवलाल जी कौशिक

श्रीमती चन्दनदेवी जी

को

पुण्य-स्मृति मे सादर-सस्नेह

समर्पित

आमुख

यह अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि डॉ० वेदकुमारी विद्यालंकार ने 'मैत्रायणी-संहिता' नामक ग्रन्थ जो कई साल पहले लिखा था वह आज प्रकाशित हो रहा है। यज्ञ के लिये परमोपयोगी यजुर्वेद का शुक्ल और कृष्ण के रूप में विभाग और फिर उनका विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में विस्तार कब और क्यों हुआ, यह कह पाना अत्यन्त कठिन है, और फिर जिन आधारों पर यह विभाग-विस्तार परम्परा से किया जाता है, वह कितना प्रामाणिक और सार्थक है। यह प्रश्न और भी दुरूह है। मैत्रायणी-संहिता को ही लीजिये। इसे कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा माना जाता है। एक तो इसका पुराणों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है और दूसरे यह शुक्ल यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के अधिक निकट है। तैत्तरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद शाखा) के क्रम। मन्त्र और ब्राह्मण इसमें संकीर्ण नहीं है जैसे कि तैत्तरीय और काठक संहिताओं में। इसमें प्रत्येक यज्ञ के मन्त्र पृथक् हैं और ब्राह्मण भाग पृथक्। जिस प्रपाठक में मन्त्र और ब्राह्मण एक साथ हैं। वहाँ भी पूर्व अनुवाकों में मन्त्र हैं और उत्तर अनुवाकों में ब्राह्मण हैं (दे० प्रथम अध्याय)। जब कोई मूल यजुर्वेद है ही नहीं या उपलब्ध नहीं है तो मन्त्रों की संख्या और स्वरूप अध्यायादि के विभाजन और यज्ञ विधि के निरूपण में तथा संयोजन में पर्याप्त भेद होते हुए इसे किसी की शाखा कहना कहाँ तक उपयुक्त है। वह यजुर्वेद कहाँ है जिसकी १०१ शाखाएँ थीं? या फिर शाखाओं से भिन्न यजुर्वेद की अवधारणा यदि प्रसिद्ध है तो उन्हें शाखा क्यों कहा गया। एक समस्या और है। मैत्रायणी-संहिता (जिसमें कीथ की गणना के अनुसार तैत्तरीय संहिता से २२४ अनुवाक कम हैं) के चार काण्डों में अन्तिम काण्ड को खिल (मूल भाग से भिन्न परिशिष्ट) माना गया है। इस खिल काण्ड के अनेक मन्त्र तैत्तरीय संहिता के ५ तथा ७ काण्डों को छोड़कर अन्य काण्डों में बिखरे हुये मिलते हैं पर वहाँ इन्हें खिल नहीं माना गया है। मैत्रायणी-संहिता में १७०१ मन्त्र ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों तथा परिशिष्ट से गृहीत हैं जिनमें से १०६२ तो इसके चतुर्थ काण्ड में ही सम्मिलित हैं फिर उसे खिल कहने का क्या अभिप्राय है? इतनी बड़ी संख्या में ऋग्वैदिक मन्त्रों से मैत्रायणी-संहिता की निर्मिति है तो उसे स्वतन्त्र वेद या वेदान्तर की शाखा घोषित करने की क्या अर्थवत्ता

है। इस प्रकार अन्य संहिताओं की भांति मैत्रायणी के स्वरूप को लेकर अनेक प्रश्न उठते हैं। इनमें प्रश्नों को न कीथ ने तैत्तरीय संहिता के अध्ययन में उठाया था और न उसे घोंडिर ने अपनी अभी हाल में प्रकाशित वैदिक लिटरेचर में उठाया है।

जैसा कि सुविदित है मैत्रायणी-संहिता के चौदह यज्ञों का व्याख्यान पूर्वक प्रतिपादन है। इसी में अभ्याधान की अन्यत्र अप्राप्य सात समन्यक क्रियाएँ उपलब्ध होती हैं, अभ्युपस्थापन में प्रवासोपस्थापन विधि की पूर्णता यहीं दृष्टिगोचर होती है, दर्श पूर्ण मास की १५ समन्यक क्रियाएँ अन्य संहिताओं में निरूपित नहीं पाई जाती, इसी प्रकार अग्निष्टोम भाग की जो १३ समन्यक क्रियाएँ यहां वर्णित हैं वे अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती और सात क्रियायें एवं मन्त्र जो अन्यत्र प्राप्त होते हैं वे इसमें नहीं मिलते। मानव श्रौतसूत्र के वाजपेयभाग में जिन ६ मन्त्रों का विनियोग निर्दिष्ट है वे इस संहिता में नहीं अपितु तैत्तरीय सहिता में उल्लिखित है, दशपेय को राजसूय का महत्त्वपूर्ण अंगाभग माना जाता है, उसका निरूपण तैत्तरीय में है पर उसका कोई भी संकेत मैत्रायणी में नहीं मिलता; अश्वमेधयज्ञ के सम्बन्ध में इन दोनों संहिताओं में बहुत अन्तर है, इसके निरूपण में मैत्रायणी वाजसनेयी के अधिक निकट और अनुकूल है जबकि काण्क संहिता का संकलन तैत्तरीय से अधिक मेल खाता है, प्रवर्ग्य भाग का निरूपण न तैत्तरीय में है और न काण्क में, मैत्रायणी वाजसनेयी, तैत्तरीय आरण्यक और शतपथ ब्राह्मण में उसका प्रतिपादन मिलता है, गोनामिक का निरूपण तो केवल मैत्रायणी संहिता और मानव श्रौत सूत्र में ही मिलता है। मैत्रायणी के अनुसार चतुर्दश यज्ञों का सांगोपांग विवेचन करते हुए विदूषी लेखिका ने मूल संहिता के गहन एवं तलस्पर्शी अध्ययन के साथ-साथ शतपथ ब्राह्मण तथा मानव श्रौतसूत्र का प्रतिपद सहारा लिया है ताकि संहिता में अस्पष्ट तथा अव्याख्यात अंशों का भी प्रामाणिक अनुसन्धान हो सके। यही नहीं विभिन्न यज्ञों का प्रतिपादन करते हुए उन्होने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाये हैं। जैसे कि—

(१) क्या चातुर्मास्य याग राजसूय यज्ञ का अंग था जो बाद में स्वतन्त्र यज्ञ बन गया?

(२) सम्भवतः चरक सौत्रामणी राजसूय का अंग याग रही होगी तथा कोकिली सौभामयी का क्रमिक विकास हुआ होगा?

(३) क्या प्रवर्ग्य याग सोमयाग की विशिष्ट विधि थी अथवा मूलतः यह स्वतन्त्र था और बाद में इसका सोमयाग से सम्बन्ध हो गया?—इन प्रश्नों और इसी प्रकार की स्थापनाओं पर पुनर्विचार हो, यही इस ग्रन्थ की वास्तविक सार्थकता है।

मन्त्र तथा यज्ञ (क्रिया) का सम्बन्ध निरूपण करते हुए बहुश्रुता डॉ० वेदकुमारी की मान्यता है कि कुछ मन्त्र एवं क्रिया साक्षात् अर्थतः संबद्ध हैं, कुछ का क्रिया से सम्बन्ध अर्थतः न होकर याज्ञिक या यजमान के भावन-चिन्तन से है और शेष

प्रतीकात्मक है। मन्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध मे यज्ञ के प्रसग से यह चिन्तन नवीन भी है और कुछ सुदीर्घ परम्परा से सबद्ध भी। किसी मन्त्र का क्रिया विशेष से सम्बन्ध (विनियोग) किन आधारो पर हुआ, यह स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय है। पर सहिताएँ और विशेषत ब्राह्मण इस दिशा की ओर सकेत अवश्य देते हैं, निरुक्त और निघण्टु भी उसी सार्थक सम्बन्ध का निर्वचन करते हैं। पर इस सबके बावजूद भी अत्यन्त सुनिश्चित आधार अभी खोजना शेष है। मन्त्र किसे कहा जाय, एक ही मन्त्र कही किसी रूप मे कही किसी रूप मे मिलता है, कही वे ही मन्त्राक्षर एक मन्त्र माने जाते हैं, कही दो। शायद इस समस्या का समाधान कठिन जानकर ही सायण ने कहा था कि जो याज्ञिक कहे वह मन्त्र है। उसके अर्थ की समस्या और भी निगूढ है, भाषा वैज्ञानिक आधार भी पर्याप्त है या नहीं यह भी सदिग्ध है।

इधर स्टॉल जैसे विद्वानो ने एक यज्ञ (अग्निचयन) को लेकर अनेक दृष्टियो से चित्राकन किया है और उसे नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि भी दी है। प्रत्यक्ष यज्ञ की प्रतीकात्मकता तो भारतीय चिन्तन परम्परा मे आरण्यक से ही प्रारम्भ हो गई थी। उपनिषदो के ब्रह्मवाद ने, गीता आदि के योग ने याग सस्कृति का रूपान्तरण कर दिया था। तथापि अपने विभिन्न रूपो मे यज्ञ निगम परम्परा मे ही नही अपितु आगम-परम्परा मे भी सुप्रतिष्ठित होता रहा। आज भी वह सर्व प्राचीन यज्ञ सस्था जीवित है।

सभी वैदिक विद्वान् एव यज्ञ की सामाजिक तथा सास्कृतिक अर्थवत्ता मे रुचि रखने वाले मनीषी मैत्रायणी-सहिता के इस गहन, प्रामाणिक एव वैदुष्यपूर्ण अनुसन्धान से निश्चित ही लाभान्वित होगे और उन्हे आगे कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ डॉ० वेदकुमारी द्वारा वैदिक यज्ञ के अनुसधान की इतिश्री नही अपितु अथश्री होगा। मैं इस ग्रन्थ का हृदय से स्वागत करता हूँ, विदुषी लेखिका को साधुवाद एव आशीर्वाद देता हूँ तथा विद्वानो से इसे पढने का आग्रह करता हूँ।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
प्रोफेसर सस्कृत-विभाग
निदेशक, मानविकी पीठ
तथा जैन अनुशीलन केन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

प्रस्तावना

अब तक उपलब्ध ग्रन्थो मे यज्ञो का विवरण दो रूपो मे ही दिया गया है। प्रथम प्रकार के ग्रन्थ सायणाचार्य या भट्ट भास्कर के तैत्तिरीय-संहिता पर और पं० मधुसूदनजी ओझा सरस्वती के यज्ञ-सरस्वती नामक ग्रन्थ मे माध्यदिन-संहिता पर किये गये भाष्य हैं, जिनमे मन्त्रार्थ, मन्त्र-विनियोग और ब्राह्मण-व्याख्यान का घुला-मिला ऐसा रूप है, जिनसे यज्ञ का क्रमिक रूप स्पष्ट नहीं हो पाता है और दूसरे प्रकार के यज्ञतत्त्वप्रकाश जैसे ग्रन्थो मे दिया गया यज्ञ-वर्णन पूर्णत सूत्रग्रन्थो पर आधारित है। इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द, पं० कपाली शास्त्री, पं० मधुसूदनजी ओझा, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० मोतीरामजी शर्मा तथा पं० युधिष्ठिर मीमासक ने अपने-अपने अनेक लेखो मे, और डॉ० कीथ ने अपने "रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेदाज एण्ड उपनिषद्ज्" तथा तैत्तिरीय-संहिता के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका मे, डॉ० पोतदार ने अपने "सैक्रिफाइस् इन ऋग्वेद" मे, डॉ० फतहसिंह ने "कान्सेप्ट आफ यज्ञ इन वैदिक सोशियालाजी" और "भारतीय समाज मूलाधार" मे तथा डॉ० नरेश पाठक ने अपनी पुस्तक "ऋग्वेद मे यज्ञ कल्पना" मे यज्ञ के सम्बन्ध मे विविध प्रकार से लिखा है। किन्तु इन सब विद्वान् लेखको ने अपने-अपने विचारानुसार यज्ञ की आध्यात्मिक वैज्ञानिक, सामाजिक अथवा तान्त्रिक व्याख्या की है, या यज्ञो की सामान्य ऐतिहासिक और तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। "श्रौतकोष" मे प्रत्येक यज्ञ के सम्बन्ध मे संहिताओ मे उपलब्ध सामग्री को संकलित करने का और श्रौतपदार्थनिर्वचन मे यज्ञ और यज्ञीय शब्दो और उपकरणो का सामान्य परिचय देने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। किन्तु यज्ञ के सम्बन्ध मे इतनी सामग्री के होते हुये भी संहिताकालीन शाखा-सम्प्रदाय के अनुसार यज्ञ का स्वरूप बताने वाला कोई ग्रन्थ नही था। सर्वप्रथम इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये इस ग्रन्थ की ओर प्रवृत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त यज्ञो की वैचारिक पृष्ठभूमि और यज्ञ-विधि की प्रतीकात्मकता को ब्राह्मणों के आधार पर समझना भी इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

उपर्युक्त प्रयोजनों को दृष्टि मे रखते हुए इस ग्रन्थ मे प्रथम बार सम्प्रदाय-विशेष मे प्रचलित यज्ञो के स्वरूप को तथा अन्य सम्प्रदायो से भिन्नता को वर्णित

किया गया है, यह इसकी पहली विशेषता है। इसकी दूसरी विशेषता विविध ब्राह्मण-व्याख्यानों के आधार पर यज्ञों के सामान्य प्रयोजनों को चित्रित करना है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व इस बात में है कि–

१. यह ग्रन्थ संहिता-सम्प्रदायों के बीच के कुछ याज्ञिक मतभेदों को सामने रखकर इन मतभेदों पर पहली बार गहन अध्ययन की भूमिका प्रस्तुत करता है।

२ संहिता के मन्त्र-क्रम और उसके ब्राह्मण भाग के वर्णनों को ही प्रधान मानकर इस पुस्तक में यज्ञों को सूत्रानुसारी की अपेक्षा अधिकाधिक संहितानुसारी वर्णित करते हुए यज्ञों के संहिताकालीन और सूत्रकालीन अन्तरों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। अतः यह पुस्तक यज्ञों के क्रमिक परिवर्तन-परिवर्धनों के ऐतिहासिक अध्ययन की प्रारम्भिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

३ इस ग्रन्थ में यज्ञों के दार्शनिक-प्रयोजनों और उनके प्रतीकों की जो पृष्ठभूमि व्यक्त की गई है, उसके अनुसार यज्ञों की मूलगामी पिण्ड-ब्रह्माण्ड-रचना की विधा के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन और गवेषणा की दिशा भी स्पष्ट हो सकेगी।

४. इसमें वर्णित मन्त्र-विनियोग के आधारों पर वेद-मन्त्रों के याज्ञिक अर्थों को समझना सरल होगा।

५. इस पुस्तक में वर्णित यज्ञ की प्रतीकात्मकता, मन्त्र-विनियोग के स्वरूप और पर्याय-विवेचन के आधार पर ब्राह्मण-व्याख्यानों की अनेक गुत्थियों को सुलझाना भी सम्भव हो सकेगा।

इस पुस्तक के अध्ययन की प्रथम समस्या थी मैत्रायणी-संहिता पर किसी भी भाष्य, टीका या अनुवाद का न होना। संहिता के विषय में अन्य अधिक जानकारी का भी अभाव है। अब तक पूर्णतः उपेक्षित इस संहिता के अध्ययन के लिये मानवश्रौतसूत्र के साथ-साथ तैत्तिरीय-संहिता के सायण-भाष्य और शतपथ-ब्राह्मण का पग-पग पर आश्रय लेना आवश्यक हुआ है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि संहिता में अश्वमेध, सौत्रामणी और प्रवर्ग्य यज्ञों के सिर्फ मन्त्र ही हैं। ब्राह्मण-भाग नहीं। अतः इन यज्ञों के लिये इन ग्रन्थों पर और भी अधिक निर्भर रहना पड़ा है। इसी से इसके अध्ययन में समय और श्रम अपेक्षाकृत अधिक लगे हैं।

दूसरी अधिक जटिल समस्या यज्ञ-विधियों के वर्णन के समय सामने आई। एक सम्प्रदाय-विशेष की दृष्टि से यज्ञों के वर्णन का यह प्रथम प्रयास है। और मन्त्र ब्राह्मण और सूत्र मे कैसा समन्वय संहिताकालीन सम्प्रदाय को अभीष्ट होगा, इस विषय मे कोई अन्य लिखित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, दूसरी ओर संहिता के मन्त्रभाग, ब्राह्मण भाग और मानवश्रौतसूत्र मे स्पष्ट अन्तर दीखता है। अत कितनी यज्ञ-विधियाँ ग्राह्य हो, और किस क्रम से अनुष्ठित हो, यही महत्त्वपूर्ण समस्या रही। इस समस्या के समस्त आधार और इसके समाधान के उपायों की गवेषणा करने मे ही इस पुस्तक के "यज्ञ-प्रक्रिया का क्रम-निर्धारण" नामक तृतीय अध्याय का जन्म हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ यज्ञ-विधियों के स्वीकरण और क्रम-निर्धारण के विषय में "यज्ञो की तुलनात्मक स्थिति" नामक षष्ठ अध्याय मे भी यथास्थान विवेचन किया गया है।

इस पुस्तक की मुख्य विषयवस्तु मैत्रायणी-संहिता के अनुसार यज्ञो का विवेचन करना है। अत ५ अध्याय इससे सम्बन्धित हैं। किन्तु इस यज्ञ-सम्बन्धी अध्ययन को करते हुये मन्त्र-विनियोगो और पर्यायो के विषय पर सहज रूप मे जो चिन्तन हुआ, उसी से ग्रन्थ के सप्तम और अष्टम अध्यायो का अस्तित्व बना है। किन्तु ग्रन्थ का आकार बढ जाने के भय से इस सम्बन्ध मे विशद विवेचन नहीं हो पाया, केवल दिशा संकेत करके ही सन्तोष मानना पडा। कलेवर-वृद्धि के भय से इस ग्रन्थ मे मैत्रायणी-संहिता मे उपलब्ध निर्वचनो का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव नही हो सका है, यद्यपि इनका संकलन कर लिया गया था। अत परिशिष्ट मे निर्वचनो की सूची मात्र ही दी गई है।

इस पुस्तक के लिखने मे श्रद्धेय डॉ० सुधीर कुमार गुप्त का मार्गदर्शन तो मिला ही, पर उनकी जो वत्सल प्रेरणा मिली, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। इससे मेरा कार्य अधिक सहज हो सका। आदरणीय श्री सी० जी० काशीकर (वैदिक संशोधन मण्डल, पूना के भूतपूर्व संयुक्त सचिव तथा पूना विश्वविद्यालय के संस्कृत शोध-विभाग के रीडर) और आदरणीय श्री युधिष्ठिर मीमांसक (भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर के अध्यक्ष और 'वेदवाणी' के सम्पादक) ने मुझे जो दिशादर्शन दिया, वह भी आभार योग्य है। डॉ० लोकेश डायरेक्टर इण्टरनेशनल एकेडेमी ऑफ इण्डियन कल्चर, हौज खास, नई दिल्ली ने जिस तत्परता से चतुर्होतृ और गोनामिक प्रकरणों पर डॉ० रघुवीर के लेखो को भेजकर, अपना सहयोग दिया, इसके लिए उनके प्रति भी विशेष आभारी हूँ। मैं राजस्थान विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय के समस्त अधिकारी व कर्मचारी वर्ग की भी विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे पुस्तकालय-सम्बन्धी सब प्रकार की विशेष सुविधायें देकर मेरे अध्ययन को सरल बनाया। इसके अतिरिक्त जिन बन्धुओ और मित्रो की सतत प्रेरणा और सहयोग से मैं इस जटिल कार्य को करने का बल पाती रही हूँ, उनके प्रति तो चिरकृतज्ञ हूँ ही।

मेरे श्रद्धेय गुरुजनों डॉ० पुरुषोत्तम लाल भार्गव, डॉ० सुधीर कुमार गुप्त और डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के आशीर्वचनो से मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं, और अपने श्रम को सार्थक अनुभव कर रही हूं।

मैसर्स बांके बिहारी प्रकाशन ,आगरा ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने में जो सहयोग दिया, और श्रम किया, उसी के कारण १५-१६ वर्षों बाद यह प्रकाश में आ सका है। इसके लिए इनके प्रति आभार व्यक्त करना तो परमावश्यक कर्त्तव्य है ही।

—डॉ० वेदकुमारी विद्यालंकार

विषय-सूची

उक्थ्यग्रह, ध्रुवग्रह, ऋतुग्रह, ऐन्द्रानग्रह, वैश्वदेव, ग्रह,

माध्यंदिन सवन (१५३)—

शुक्र-मन्थी, आग्रायण और उक्थ्यग्रहों का पुनर्ग्रहण, मरुत्वतीयग्रह, सवनीय पुरोडाश-यजन, मरुत्वतीयग्रह-होम, माहेन्द्रग्रह,

तृतीय-सवन (१४४)—

आदित्यग्रह, आग्रायण-उक्थ्य का पुनर्ग्रहण, सवनीय-यजन, सावित्रग्रह, वैश्वदेवग्रह, सौम्य चरु, पात्नीवतग्रह, हारियोजन, ग्रह, अतिग्राह्यग्रह, षोडशीग्रह, दधिग्रह, आदाभ्य, और अंशुग्रह, पश्वे-कादशिनी, दक्षिणा-होम, समिष्ट यजुर्होम, अवभृथ, काम्य पशुयाग, उदवसानीयेष्टि,

(iv) अग्निष्टोम के अवान्तर भेद (१४६)—

उक्थ्य, अतिरात्र और षोडशी, सोमयागों के अन्य भेद,

६. वाजपेययाग १५१—

काल, देवता-हवि, यजन-विधि, प्रातः सवन माध्यं-दिन-सवन, रथारोहण, रथ दौड़, यूपारोहण, अन्नहोम, अभिषेक, ग्रहहोम, पशुयाग, तृतीय-सवन,

१०. राजसूययाग १५५—

काल, देवता-हवि,

(i) यजन-विधि, (१६१)—

नैऋत-आनुमत इष्टि, पाँच विशिष्ट हविर्याग, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्ययाग, इन्द्रतुरीयाग, अपामार्गहोम, पंचेध्मीय होम, देविकाहविर्याग, त्रिषंयुक्त हविर्याग, रत्नियों की हवियां, विशिष्ट हविर्याग,

(ii) दीक्षणीयेष्टि (१६५)—

मैत्राबार्हस्पत्य चरु, देवसुव हवियां,

(iii) अभिषेचनीय-दिवस (१६७)—

जलो का ग्रहण व संस्कार, यजमान को सुसज्जित करना, अभिषेक, विजय-अभियान, राजसभा व द्यूतक्रीडा,

(iv) अभिषेकोत्तर कर्म (१७१)—

संसृप हविर्याग, दशपेययाग, दिशा-सम्बन्धी हविपञ्चक, प्रयुज् हविर्याग, पशुबन्धयाग, सत्यदूत हविर्याग, उपसंहार, केशवपनीय याग,

११. अश्वमेधयाग १७४—

काल, देवता-हवि,

(i) यज्ञविधि (१७५)—

अश्व-बन्धन और कुक्कुरमारण, अश्वाभिमन्त्रण, दिग्विजय-भ्रमण, अन्नहोम दीक्षा आदि से लेकर अग्निष्टोम-अनुष्ठान, पशु-प्रदर्शनी, अश्वादि वस्तुओं का अनुमन्त्रण, अश्व-सज्जीकरण, परिसंवाद, अश्व-संज्ञपन अश्वसंगमन, सूचिकाछेदन, वपाहोम, अभिषेक, अश्वाग परि-कल्पहोम, अनुबन्ध्या पशुयाग सर्वपृष्ठ इष्टि, मृगारेष्टि,

१२. सौत्रामणीयाग १८२—

काल, देवता-हवि,

यजन विधि

सुरा-सन्धान, प्रथम पशुयाग, वेदिनिर्माण और सुरा उत्पवन पयस्-सुरा के ग्रह, प्रधान पशुयाग, ग्रह-होमभक्षण, अभिषेक, उपहोम, त्रिहोम पशु-पुरो-डाशजन, अवभृथ इन्द्र वयोधस् का पशुयाग,

१३, प्रवर्ग्ययाग १८७—

काल, देवता-हवि, यजन-विधि, सम्भार-आहरण और पात्र-निर्माण, अनुष्ठान की पूर्व-तैयारी, घर्म-पाक, दूध-दोहन, प्रवर्ग्य बनाना तथा उसे वेदि के निकट लाना, रौहिण पुरोडाश का यजन, घर्महोम समिधाहोम, हविभक्षण, पुन पुरोडाशयजन, घर्मोद्वा-

सन, प्रायश्चित्ति-विधान, दधिघर्म-विधि घर्मेष्टका-आधान, आसुरिगव्य, उपसंहार,

१४. गोनामिक १९४—

काल, देवता-हवि

यजन-विधि

अग्निप्रणयन, गौ-आनयन, गायों का संस्थापन और आह्वान, स्थालीपाल-यजन और गौ-आह्वान, सारस्वत-यजन, अनुमन्त्रण-विधि, गायों को चिह्नित करना, गायों का पुनरागमन, विशिष्ट आहुतियां, घृतलेपन,

१५. अग्निचितियाग १९६—

काल, देवता हवि, उखा-पात्र को बनाने के लिये मिट्टी लाना, उखा-निर्माण, दो पशुयाग, दीक्षणोयेष्टि, उख्याग्नि-सम्पादन, उख्याग्नि-धारण, उख्याग्नि की भस्म को बहाना, और उसका पुनस्थापन,

(i) गार्हपत्य-चयन २९३—

इष्टकाधान नैर्ऋत-इष्टकोपधान

(ii) आहवनीय-चयन (२०३)—

वेदि-भूमि को जोतना-बोना, लोगेष्टका और कुम्भेष्टका का आधान,

(iii) प्रथम चिति (२०५)—

रुक्म आदि नानाविध इष्टकाओं का आधान, कूर्माधान, पशुसिरों का आधान, पुरुषचिति, अपस्या आदि अन्य इष्टकाओं का आधान, उपसंहार,

(iv) द्वितीयचिति (२०८)—

तृतीयचिति २०९, चतुर्थ चिति २१०, पंचमचिति २१०,

(v) चयनोत्तर विधि (२१३)—

शतरुद्रियहोम, अग्निचिति का अभिसिंचन और सामगान, वेदि-कर्षण, वेदि पर

मैत्रायणी
संहिता

प्रथम अध्याय

मैत्रायणी संहिता : एक परिचय

अखिलधर्ममूलक चारो वेदो मे यजुर्वेद का अपना विशिष्ट महत्त्व है, क्योकि नानाविध श्रौतयज्ञों और गृह्य-सस्कारो का मूलाधार होने के कारण यही वेद वैदिक-समाज का सर्वाधिक नियामक-निर्देशक रहा है। इस कर्ममूलक वेद का स्तवन पुराणो मे बहुधा वर्णित है। पुराणो मे यजुर्वेद को ही आद्यवेद कहा गया है, जिसे सर्वप्रथम मनु ने और इस युग मे महर्षि वेदव्यास ने चतुर्धा-चार सहिताओ में विभक्त किया था।[1]

यास्क यजुष् को यज् धातु से निष्पन्न बताकर यजुषों के सकलन इस यजुर्वेद को स्पष्टत यज्ञ मे ही सम्बद्ध करते हैं। इसी से इसे "अध्वरवेद" भी कहते हैं,[2] और इसका उपयोग करने वाला ऋत्विक् अध्वर्यु कहलाता है। यह यजुर्वेद जिस यज्ञ का जनक है, वह सर्वकामधुक् है[3] और वही सृष्टि के रहस्यों का उद्घाटन-कर्त्ता है।[4] अत जीवन की परिपूर्णता और जगत् की अभिज्ञता दोनो के लिये यजुर्वेद की उपयोगिता और आवश्यकता अपरिहार्य है।

इसी परमोपयोगी यज्ञविधायक यजुर्वेद की अन्यतम शाखा यह मैत्रायणी सहिता है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि इस महत्त्वपूर्ण मैत्रायणी शाखा के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट और सुनिश्चित ठोस जानकारी उपलब्ध नही है। इस अध्याय मे उपलब्ध कुछ जानकारी के आधार पर कुछ महत्त्व के विषयो को ही प्रस्तुत करने का प्रयासमात्र किया है। इस ग्रन्थ का विषय न होने के कारण उन प्रश्नों पर विस्तृत विचार नही किया गया है।

---

१ ब्र. पु. (पू भा) ३४।७-१८, अ पु १५०।२३-२४ वा यु (पूर्वा) ६०।७-१८, वि पु (तृ अ) ४।१-२, ११

२ वै वा इ १।२४८

३ ब्र पु (पू भा) ३४।७, वा पु (पूर्वा) ६०।७, वि. पु (तृ अ) ४।१

४. देखिये द्वितीय अध्याय

यजुर्वेदीय शाखाओं में मैत्रायणी शाखा

यजुर्वेद की कुल १०१ शाखायें हैं[१]। इनमें से ८६ ब्रह्मसम्प्रदायान्तर्गत कृष्णयजुर्वेद की हैं, और १५ आदित्य सम्प्रदायान्तर्गत शुक्ल यजुर्वेद की हैं[२]। मैत्रायणी-संहिता को कृष्ण-यजुर्वेदीय माना जाता है। चरण व्यूह में मैत्रायणियों को बारह चरकों में से एक कहा गया है।[३] कृष्णयजुर्वेद की समस्त ८६ शाखायें महर्षि वेदव्यास के शिष्य आचार्य वैशम्पायन की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से निकली हैं, और इन सबको ही चरक कहा जाता है।[४] ये शिष्य चरक क्यों कहलाये, इस सम्बन्ध में एक आख्यान देते हुये वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड और भागवत पुराण कहते हैं कि जिन शिष्यों ने गुरु वैशम्पायन के ब्रह्म-हत्या के पाप का प्रायश्चित करने के लिये व्रत का आचरण किया, वे सब 'चरक' कहलाये।[५] किन्तु अन्यत्र वैशम्पायन का ही दूसरा नाम 'चरक' कहा गया है और इसी आधार पर उनके शिष्यों को भी 'चरक' कहा जाने लगा।[६]

यहाँ पुराणों के वर्णन की भिन्नता भी उल्लेखनीय है। उपर्युक्त आख्यान अन्य तीनों पुराणों में विस्तारपूर्वक है, पर भागवत में बहुत संक्षेप में है। इसके अतिरिक्त भागवत पुराण में कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं में केवल तैत्तिरीय का नामोल्लेख है,[७] और इनकी शाखा-संख्याओं का भी कोई संकेत नहीं है, किन्तु वाजसनेयी शुक्ल शाखा की कण्व-मध्यंदिन के नामोल्लेख के साथ-साथ १५ शाखा-संख्याओं का भी स्पष्ट वर्णन है।[८] दूसरी ओर वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण के वर्णन में बहुत साम्य है। दोनों ही में वैशम्पायनकृत ८६ और याज्ञवल्क्यकृत १५ शाखाओं

---

१ वा. पु. (पूर्वा.) ६१।२६, ब्र. पु. (पू. भा.) ३५।३०, वै. वां. इ. १।२५० । यजुर्वेदीय शाखाओं के सुविस्तृत अध्ययन के लिये श्रीभगवद्दत्तजी का वै. वा. इ. (१।२४८-३०७) देखिये ।

२ मै. सं. की प्रस्ता., पृ. ६

३ च. व्यू. पृ. ३१

४ ब्र. पु. (पू. भा.) ३५।२७, वा. पु. (पूर्वा.) ६१।२३, तै. सं. अं. अ. की भूमिका पृ. ६०

५. वा. पु. (पूर्वा.) ६१।११-२३, भा. पु. (द्वा. स्क.) ६।६१-६५
वि. पु. (तृ. अं.) ५।४-१४, ब्र.पु. (पू. भा.) ३५।१२-२६

६ मै. सं. की प्रस्ता. पृ. ८, वै. वां. इ. १।२८१

७ भा. पु. (द्वा. स्क.) ६।६१-६५

८ ,, ,, १२।६।७४

का स्पष्ट उल्लेख है।[1] याज्ञवल्क्यकृत वाजसनेयी-शाखाओं के पन्द्रह नाम भी दिये गये हैं।[2]

पर वैशम्पायन के प्रारम्भिक नौ शिष्यों के नाम सिर्फ ब्रह्माण्ड पुराण मे हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—"वैशम्पायनलौहित्यौ कठकालावशावध। श्यामापति पलाण्डुश्च आलम्बि कमलापति॥ तेषां शिष्याः प्रशिष्याश्च षडशीति श्रुतर्षय।"[3] किन्तु परवर्ती साहित्य मे इन शिष्यों के नामों में कुछ भिन्नता है। वहाँ ये "आलम्बि, कलिंग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ और कलापी हैं।[4] इनमे पाँच नाम आलम्बि, कमल, श्यामायन, कठ और कलाप—समान हैं, आरुणि सम्भवत लौहित्य का पर्याय है, और कहीं-कहीं कलिंग को पतग का ही पाठभेद माना गया है[5] जो सम्भवत पलाण्डु का अपभ्रंश प्रतीत होता है। अत शेष सिर्फ दो नामो वैशम्पायन और शावध मे पृथकता रह जाती है, जिनके स्थान पर ऋचाभ और ताण्ड्य' आ गये हैं। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि ब्रह्माण्ड और वायु दोनो पुराण चरक-शाखाओं के उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य—ये तीन भाग करते हुये यह भी बताते है कि "उदीच्यों में श्यामायनी, मध्यदेशीयों में आरुणि (ब्रह्माण्ड पुराण मे 'आसुरि' पाठ है) और प्राच्यो मे आलम्बि प्रधान हैं।"[6] इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब ब्रह्माण्ड पुराण अपने पूर्व नामो मे "आसुरि नाम ही नहीं देता, तो बाद मे मध्यदेशीयो मे प्रधान आसुरि शाखा का उल्लेख वस्तुत किस मूल शाखा की ओर सकेत करता है और दो नामो के अन्तर का आधार क्या है?

इनके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड और वायु पुराणो मे बाद मे "हारिद्रवीयों और तैत्तिरियो" का भी नामोल्लेख मिल जाता है।[7] किन्तु अन्य शाखाओं के नाम नहीं हैं।

अग्नि पुराण और विष्णु पुराण मे ८६ के बदले यजुर्वेद-वृक्ष की २७ शाखाओं

---

१ वा पु (पूर्वा) ६१।५, २४-२६, ब्र पु (पू भा) ३५।८, २८-३०
२ वा॰ पु (पूर्वा) ६१।२४-२६, ब्र पु (पू भा) ३५।२८-३०
३ ब्र पु (पू भा) ३३।५-६ (श्री भगवद्दत्त जी ने कठकालावशावध' को सशोधित करके "कठकालापशावध' पाठ (वै. वा. इ १।२८३) दिया है। यही शुद्ध प्रतीत होता है।
४ मैं. सं की प्रस्ता., पृ ८, का स की प्रस्ता पृ ६, मा गृ सू की प्रस्ता पृ ७
५ का. स की प्रस्ता पृ ६
६ वा पु (पूर्वा.) ६१।७-९, ब्र पु. (पू भा) ३५।११-१३
७ वा पु (पूर्वा) ६१।६६, ब्र पु (पू भा) ३५।७५

का ही उल्लेख है।[1] यद्यपि विष्णुपुराण तो याज्ञवल्क्य की १५ शाखाओं का भी उल्लेख करता है, पर अग्नि पुराण में संख्या का उल्लेख न होकर 'काण्व-माध्यंदिन आदि' का संकेतमात्र है।[2] किन्तु यह कहना कठिन है कि इन सत्ताईस शाखाओं में किस-किस का परिगणन किया गया होगा। श्रीधर शर्मा के अनुसार इनमें कठों (चरकों) के बारह भेद=चरक, आह्वरक, भ्राजिष्ठलकठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठलकठ, चारायणीय, वारायणीय, श्वेत, श्वेताश्वतर, औपमन्यु, पाताण्डिनेय और मैत्रायणीण; मैत्रायणीयों के सात भेद=मानव, वाराह, दुन्दुभ, ऐकेय, श्यामा, श्यामायनी और हारिद्रवीय। हारिद्रवीय के पाँच भेद=आसुरि, गार्ग्य, शार्कराक्ष्य, मार्ग और वासवीय, तथा कलापी के चार भेद=छागलेय, तौम्बुरुविन्, औलुपिन् और हारिद्रवीय (यद्यपि हारिद्रवीयों का उल्लेख दो बार है, पर दोनों के एक होने से इनकी गणना एक बार ही होगी, अतः कुल २७) का समावेश होता है।[3]

किन्तु इस गणना का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें वैशम्पायन के पहले नौ शिष्यों की शाखाओं को परिगणित नहीं किया गया है, जबकि ये ही मूल शाखायें होंगी। अतः इन सत्ताईस शाखाओं में आलम्बि आदि की प्रधान नौ शाखाओं; कठों या चरकों की बारह शाखाओं और चरणव्यूह के अनुसार मैत्रायणीयों के सिर्फ छह भेदों[4] को ही समाविष्ट किया जाना चाहिये।

जो भी हो, यह विवरण यजुर्वेद की प्रारम्भिक शाखाओं में ही मैत्रायणीयों के विशिष्ट स्थान को बताता है।

मैत्रायणी शाखा के प्रवर्त्तक

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि पुराणों के उपर्युक्त शाखा-वर्णनों तथा ऋषि-परम्परा के लम्बे वर्णनों[5] में भी मैत्रायणीयों की शाखा-प्रशाखाओं—श्यामायनी, श्यामा, हारिद्रवीय और आरुणि—तक के नामों का उल्लेख मिलता है[6] तथापि

---

१ अ. पु. १५०।२७, वि. पु. (तृ. अं.) ५।१

२ वि. पु. (तृ. अं.) ५।३०, अ. पु. १५०।२७-२८

३ मै. सं. की प्रस्ता० पृ. १०-११, का. सं. की प्रस्ता० पृ. ७.

४ च०व्यू० (पृ. ३१) में मैत्रायणीयों के छह भेद ही माने हैं, इसमें 'श्यामा' शाखा को नहीं रखा गया है।

५ वा. पु. (पूर्वा.) ५६।८६-११७, ब्र. पु. (पू. भा.) ३२।६१-१२२.

६ यद्यपि यह अभी स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है कि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आये "श्यामायनी और आरुणि" नाम तथा ब्रह्माण्ड का "श्यामापति" शब्द क्या वास्तव में मैत्रायणीयों की शाखा से सम्बद्ध नाम है, अथवा इन नामों की दो शाखायें भी रही होंगी या इनमें से कोई मैत्रायणी-सम्प्रदाय की पूर्व प्रवर्त्तक तो नहीं है?

इनमें न तो मैत्रायणी शाखा का नाम है, और न ही ऐसे किसी ऋषि का नाम है, जिसे मैत्रायणी-शाखा का प्रवर्तक माना जा सके। 'प्रपञ्चहृदय' और 'दिव्यावदान' आदि परवर्ती ग्रन्थों में भी यजुर्वेद की अन्य शाखाओं के नामों के साथ 'मैत्रायणी' नाम नहीं है।[1]

केवल हरिवंश में अवश्य यह वर्णन है कि

> 'अत ऊर्ध्वं' प्रवक्ष्यामि दिवोदासस्य संततिम्।
> दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षि मित्रयुर्नृपः॥
> मैत्रायणस्ततः सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः॥[2]

श्री भगवद्दत्त व श्री सातवलेकर जी के अनुसार यह मैत्रायण या मैत्रेय ऋषि ही मैत्रायणी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं।[3] किन्तु दिवोदास की इस प्रसिद्ध संतति का अन्यत्र कहीं भी उल्लेख न मिलना आश्चर्यजनक है। छान्दोग्योपनिषद् आदि में १-२ स्थलों पर उल्लिखित मैत्रेय ऋषि का नाम[4] सम्भवतः इन्हीं की ओर संकेत करता हो। किन्तु इन्होंने किसी सम्प्रदाय, शाखा या संहिता का प्रवर्तन किया था, यह वर्णन कहीं पर नहीं है इससे निम्न सम्भावनायें की जा सकती हैं—

१ पुराणों का वर्णन इतना अपूर्ण है कि उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव और उचित नहीं है।

२ या मैत्रायण ऋषि द्वारा प्रवर्तित शाखा ने प्रारम्भ में इतनी प्रसिद्धि नहीं पाई होगी। इसी से अन्य शाखा-संहिताओं के साथ मैत्रायणीयों का उल्लेख नहीं हुआ है।

३ अथवा इस सम्प्रदाय या शाखा का प्रारम्भिक नाम कुछ और रहा होगा।

श्रीवान श्रोडर ने तीसरी सम्भावना को मान्य करते हुये यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कठों की घनिष्ठता में आने वाली कालाप-शाखा ही कालान्तर में मैत्रायणी शाखा में परिवर्तित हो गई और इस तरह मैत्रायणी संहिता का मूल प्रवर्तक कालाप रहा होगा।[5] श्री वी सी लेले ने भी माना है कि वस्तुतः जिसने मूल कालापक-संहिता बनाई होगी, वह तो कालान्तर में विस्मृत हो गया, और संहिता

---

१ वै वा इ १।२६०-६१
२ हरि १।३२।७५-७६
३ वै वा इ १।२६६-७३, मै स. की प्रस्ता० पृ. ११-६२
४ मै. स की प्रस्ता०, पृ १६
५ लें स ज अ की भूमिका पृ ६०, वान श्रोडर द्वारा सम्पादित मै स की भूमिका पृ० १३

का पुनर्गठन करने वाले के नाम पर इसका नाम मैत्रायणी संहिता पड़ गया। और कालाप शाखा का कोई मैत्रायणी नामक व्यक्ति ही मैत्रायणी-सम्प्रदाय का संस्थापक बना।[1] श्री भगवद्दत्तजी ने भी कलाप-मैत्रायणीयों के इस सम्बन्ध की सम्भावना से इन्कार नहीं किया है।[2]

इस सम्भावना की पुष्टि में ब्रह्माण्ड पुराण का वह उद्धरण भी दिया जा सकता है, जिसमे कठ के साथ कालाप का उल्लेख है।[3] अन्यत्र रामायण, महाभाष्य आदि में भी 'कठकलाप' को साथ-साथ ही रखा गया है,[4] और इनमे वैसी ही समानता बताई जाती है, जैसी काटक और मैत्रायणी संहिता में।[5] 'दिव्यावदान' की यह पंक्ति तो इस सन्दर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है कि "किं चरणः। आह—कलाप-मैत्रायणीयः। पृ० ६३७।[6] काशिकावृत्ति मे भी हरिद्रु, छगलि, तुम्बुरु, और उलप को कलापी के शिष्य, अतः कालापक कहा गया है।[7] हारिद्रवीयों को सब निर्विवाद रूप से मैत्रायणीयों का शाखा-भेद मानते है।[8] और चरण व्यूह में ऐकेय की जगह छागलेयों को ही मैत्रायणीयों का भेद माना है।[9] इस सबसे मैत्रायणी और कलापी के एकीकरण की और भी अधिक पुष्टि हो जाती है।

किन्तु इस मान्यता को स्वीकार करने पर इस विसंगति का कोई भी संतोषप्रद समाधान नहीं मिलता है कि यदि कलापी और मैत्रायणी एक शाखा के थे, तो मैत्रायणीयों को कलापी के बदले कठों का भेद क्यों कहा गया है?

इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान में रखना उपयोगी होगा कि मैत्रायणी-संहिता में विविध स्थलों पर जिन ऋषियों का नामोल्लेख करते हुए उनके मतों को मान्य किया गया है, उनमें आरुण औपवेशि का नाम छह बार आया है,[10] जबकि अन्य ऋषियों के नाम सिर्फ १-२ बार ही आये हैं। अतः यह विचारणीय है कि

---

१ मा. गृ. सू. का प्रीफेस, पृ. ६-७
२ वै. वां, इ. १।२६१
३ देखिये प्रथम अध्याय का पृष्ठ ३.
४ वै. को. की भूमिका पृ. ११-२७, वै. वां, इ. १।२६०
५ वै. वां. इ. १।२६१
६ ,, ,,
७ वै वां इ. १।२६०-२६१. मा. गृ. सू. की भूमिका. पृ. ७-८
८ मै. सं. की प्रस्ता० पृ. ८-१०, का सं. की प्रस्ता०, पृ. ६-७, वै. वां. इ. १।२६१
९ च. व्यू. पृ ३१-३२
१० मै. सं. १।४।१०, १।५।६, ३।६।८,६, ३।७।८, ३।१०।५

क्या इस आरुण औपवेशि का वैशम्पायन के प्रथम नौ शिष्यों में निर्दिष्ट आरुणि से कोई सम्बन्ध है ? अथवा यह हारिद्रवीयों के उपभेद आरुणि से सम्बन्धित है ? और मैत्रायणी शाखा अथवा संहिता के निर्माण में इसका कितना और कैसा योग-दान रहा है ? क्योंकि यह भी ध्यान में रखना होगा कि आरुणि ही मध्यदेशीय शाखाओं में प्रमुख थी[1] और यजुर्वेदीय शाखाओं के पल्लवित-पुष्पित होने का स्थान भी मध्यदेश है।[2]

क्या मैत्रायणी-संहिता कृष्णयजुर्वेदीय है ?

यहाँ इस विषय पर भी यत्किंचित् वैचारिक संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि क्या मैत्रायणी संहिता कृष्णयजुर्वेदीय है ?

अष्टावक्रभाष्ययुक्त मानवगृह्यसूत्र के सम्पादक श्री रामकृष्ण शास्त्री पाठक[3] ने इस सम्बन्ध में विवेचना करते हुये यह सिद्ध किया है कि 'कृष्ण विशेषण तैत्तिरीय संहिता और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के ही लिये प्रयुक्त किया जाना उचित है, क्योंकि शुक्ल-कृष्ण नाम का भेद तो याज्ञवल्क्य द्वारा अन्य सम्प्रदाय-निर्माण के बाद हुआ, और मैत्रायणीय वैशम्पायन के उन प्रारम्भिक शिष्यों में आते हैं, जिन पर याज्ञवल्क्य के अलग होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। अतः मैत्रायणी-संहिता का सम्बन्ध कृष्ण-शुक्ल से न जोड़कर सीधा उस आद्य यजुर्वेद से माना जाना चाहिए, जिसके बाद में चार विभाग हुए।

श्री सातवलेकर ने यद्यपि इस आद्य यजुर्वेद की सम्भावना से तो असहमति प्रकट की है,[4] किन्तु यह उन्होंने भी स्वीकार किया है कि मूलभूत २७ शाखाओं में होने से मैत्रायणी-संहिता को कृष्ण-शुक्ल की उपाधि से रहित सिर्फ यजुर्वेदीय ही कहा जाना चाहिए।[5] इसका और स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने एक आख्यान दिया है कि वैशम्पायन के कठ, चारायण और उपमन्यु—इन तीन शिष्यों ने ही तित्तिर पक्षी बनकर याज्ञवल्क्य द्वारा उगले गये यजुषों को चुगा था, अतः इनकी शाखायें ही कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय कहलाईं।[6] इस प्रसंग में यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि वस्तुतः न तो वैशम्पायन के प्रथम नौ शिष्यों में या चरकों में तित्तिरी ऋषि का

---

१ देखिये प्रथम अध्याय का पृ. ३

२ तै. सं. अ. की भूमिका, पृ. ६३

३ मा. गृ. सू. की प्रस्ता०, पृ. १२-१३

४ मै. सं. की प्रस्ता., पृ. ७

५ मै. सं. की प्रस्ता., पृ. ६

६ ,, ,, ,,

नाम है, और न ही यजुर्वेद की प्रमुख सत्ताईस शाखाओं में "तैत्तिरीय" नाम का उल्लेख है।[1]

इसके साथ ही यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि ब्रह्माण्ड, वायु, विष्णु, अग्नि और भागवत पुराणों में 'कृष्ण-शुक्ल' का भेद वर्णित ही नहीं है। तित्तिरी द्वारा यजुषों को चुन लेने का उल्लेख भी सिर्फ भागवत और विष्णु पुराण में है।[2] और इन दोनों सहित अन्य पुराणों में भी यजुर्वेदीय शाखाओं के वैशम्पायनकृत 'चरक और याज्ञवल्क्यकृत 'वाजिन'—ये दो भेद ही उल्लिखित हैं।[3] कृष्ण-शुक्ल का उल्लेख आत्मपुराण, मन्त्रभ्रान्तिहर, प्रतिज्ञा-सूत्र और सायणभाष्य जैसे परवर्ती ग्रन्थों से ही उद्धृत किया गया है।[4] श्री भगवद्दत्तजी ने माध्यंदिन शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण द्वारा 'शुक्ल' मजुषों के प्रयोग का उल्लेख तो किया है।[5] पर यह कहना कठिन है कि शतपथकार यहाँ 'शुक्ल' का अर्थ वही करता है जो परवर्ती ग्रन्थों में मान्य है। सम्भव है कि यहाँ 'शुक्ल' प्रयोग शुक्लवर्णी आदित्य से प्राप्त होने वाले यजुषों के ही लिए किया गया हो। पर कृष्ण यजुष् के प्रयोग का प्रारम्भ तो अभी गवेषणा का ही विषय है। यदि कृष्ण और शुक्ल का भेद मन्त्रब्राह्मणात्मक या मन्त्रात्मक तक ही सीमित है, तो इस दृष्टि से मैत्रायणी संहिता कृष्णयजुर्वेदीय कही जा सकती है। किन्तु यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि वानश्रोडर द्वारा प्रकाशित मैत्रायणी संहिता के प्रारम्भ मे 'नमो यजुर्वेदीय' है। इसके अतिरिक्त 'व्यवस्थित प्रकरण' यजुः शुक्लं तदीयंते की परिभाषा भी ध्यान में रखनी होगी।[6]

क्या मैत्रायणी वाजसनेयी के निकट है ?

मैत्रायणी—संहिता को कृष्ण-शुक्ल के विभाग से निकालने के साथ यहाँ अब यह विचार करना भी असंगत न होगा कि क्या मैत्रायणी-सम्प्रदाय का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता आदि की अपेक्षा शुक्लशाखीय वाजसनेयी से तो अधिक नहीं है ? इस प्रश्न के उद्भव के निम्नलिखित आधार हैं—

(१) श्री भगवद्दत्तजी ने गोपथ ब्राह्मण और वायुपुराण के दो उद्धरणों को देते हुए यह व्यक्त किया है कि शुक्ल यजुर्वेद में प्रथम मन्त्र का पाठ

---

१ देखिये प्रथम अध्याय का पृ. ४.

२ भा. पु. (द्वा. स्क.) ६।६१-६५, वि. पु. (तृ. अं.) ५।१२-१३.

३ वा. पु. (पूर्वा.) ६१।२२-२४, भा. पु. (द्वा. स्क.) ६।६१, ७४, ब्र. पु. (पू. भा.) ३५।२६-२७. अ. पु. १५०।२६-२८, वि. पु. (तृ. अं.) ५।१४, २६.

४ मै. सं. की प्रस्ता., पृ. ६-७.

५ वै. वां. इ. १।२४६.

६ देखिये प्रथम अध्याय का पृ. १०.

'वायव स्थ' है, जबकि कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं में आवृत्तिपूर्वक 'वायव-स्थोपायव स्थ' का पाठ आता है।[1]

और मैत्रायणी संहिता में भी शुक्ल शाखाओं वाला आवृत्ति रहित पाठ मिलता है।[2] इस मन्त्रांश के अतिरिक्त शेष मन्त्र का पाठ भी वाजसनेयी काण्व के अधिक अनुरूप है, और तैत्तिरीय-काठक से भिन्न है। केवल इतना अन्तर है कि काण्व आदि संहिताओं में पाया जाने वाला 'प्रजावती' अनमीवा अयक्ष्मा'[3] अंश मैत्रायणी में नहीं है, शेष पूर्ण साम्य है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी बहुत साम्य मिलता है। यथा—

(१) (क) 'कामधुक्ष' पाठ मैत्रायणी (१।१।३।१०) और काण्व (१।६) दोनों संहिताओं में है।

(ख) पृथुग्रावासि=मैत्रायणी संहिता १।१।६।१४

ग्रावासि पृथुबुध्न=काण्व सं० १।२१, वा स १।१४

(ग) कुटरुरसि मधुजिह्व=मैत्रायणी स० १।१।६।१८

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व—काण्व स. १।२४, वाजसनेयी स. १।१६

(घ) सुयमे मेऽद्य स्तम्=मै स १।१।१३।३६

सूयमे मे भूयास्तम्=काण्व स २।१०, वाजसनेयी संहिता २।७

तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में ये चारों अंश नहीं हैं। इसी तरह के अनेकों साम्य खोजकर वस्तुस्थिति पर उपयोगी प्रकाश डाला जा सकता है।

(२) शुक्ल शाखा आदित्य से सम्बद्ध है और मैत्रायणी में हमें आदित्य का विशेष महत्त्व दीखता है। यथा—अश्वमेध और प्रवर्ग्य ये दोनों यज्ञ आदित्य से ही प्रमुखत सम्बन्धित हैं।[4] मैत्रायणी संहिता में ये दोनों सुनियोजित रूप में उपलब्ध हैं। किन्तु तैत्तिरीय और काठक में प्रवर्ग्ययाग है ही नहीं, और अश्वमेध तैत्तिरीय-संहिता में इतना अधिक अस्त-व्यस्त है[5] कि उसमें महत्त्व शून्य-सा प्रतीत होता है, और काठक-संहिता में अच्छी तरह संकलित होते हुए भी अश्वमेध के मन्त्र और उनका क्रम तैत्तिरीय के ही निकट है, और मैत्रायणीय से अतीव भिन्न

---

१ वैं. वा. इ १।२४८

२ मै. स. १।१।१।१

३ वा. स १।१, काण्व स १।१-३

४ देखिये चतुर्थ अध्याय

५ देखिये षष्टम अध्याय

है। यह और भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी के अश्वमेधीय मन्त्र वाजसनेयी के अत्यधिक निकट है।[1]

(३) सायण के अनुसार 'व्यवस्थित प्रकरणं यजुः शुक्लं तदीर्यते'[2] शुक्ल यजुष् की विशेषता प्रकरण बद्धता का होना है और मैत्रायणी संहिता के समस्त प्रकरण निरपवाद रूप से व्यवस्थित है।[3] मैत्रायणी संहिता का यह सुनियोजित गठन इसे इतर कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं से सर्वथा पृथक् करता है।

(४) शौनकप्रोक्त चरणव्यूह का भाष्य करते हुए महिदास ने लिखा है कि 'मैत्रायणीयस्तु वाजसनेयवेदाध्यायी मानव कल्पसूत्रम्।'[4]

(५) मैत्रायणी और शुक्लशाखाओं का प्रसार-स्थान एक सीमा तक समान रूप से गुर्जरप्रदेश माना गया है।[5]

अतः शुक्ल यजुर्वेदीय संहिताओं और मैत्रायणी संहिता का सम्बन्ध भी नये सिरे से विवेचनीय प्रतीत होता है।

क्या कोई मूल यजुर्वेद था ?

यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि ऐसे मन्त्रों, पाठों और क्रमों की भी कमी नहीं है, जो तैत्तिरीय और वाजसनेयी में समान है और मैत्रायणी में भिन्न है, अथवा काठक-वाजसनेयी मे एक-से है, पर मैत्रायणी मे अलग है। वाजसनेयी मैत्रायणी की समानता और अन्यों की भिन्नता का कुछ दिग्दर्शन ऊपर करवाया जा चुका है। मानव श्रौतसूत्र भी अनेक स्थलों पर मैत्रायणी की अपेक्षा काठक, तैत्तिरीय या वाजसनेयी संहिताओं के निकट प्रतीत होता है, अनेक बार ऐसे मन्त्र भी उद्धृत करता है जो किसी भी उपलब्ध संहिता के नहीं है। इन साम्य-वैषम्यों का किंचित् दिग्दर्शन समीक्षा-प्रकरण में प्रत्येक यज्ञ के सम्बन्ध में यथास्थान करवाया भी है।

श्री भगवद्दत्त जी एक मूल चरक संहिता[6] और एक मूल वाजसनेयी संहिता[7] की सम्भावना प्रस्तुत करते हैं और डॉ० कीथ का भी विचार है कि कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं का जन्म एक समान मूल स्रोत से हुआ है।[8]

---

१ देखिये पष्टम् अध्याय
२ मै. सं. की प्रस्ता० पृ. ६
३ देखिये प्रथम अध्याय का पृ. १४
४ च. व्यू., पृ. ३३
५ देखिये प्रथम अध्याय का पृ. १३, च. व्यू. पृ. ३४
६ वै. वां. इ. १।२८३
७ ,, १।२७६-८०
८ तै. सं. अं. अ. की भूमिका, पृ. ८५-८६.

किन्तु उपर्युक्त वर्णित समानता—असमानता के प्रकाश में चरक और वाजसनेयी शाखाओं की भी एक मूल संहिता की सम्भावना भी अवश्य विचारणीय है। डॉ० सुधीरकुमार गुप्त माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता से ही शेष सब शाखा-संहिताओं का विकास मानते हैं।

मैत्रायणी-संहिता का काल

जब समस्त वैदिक साहित्य के काल-निर्धारण का प्रश्न ही अनेकों चिन्तनों और प्रयासों के होते हुए भी अभी तक अत्यधिक विवादास्पद हो, तो मैत्रायणी-संहिता के विषय में किसी सुनिश्चित समय को जान पाना कैसे सम्भव होगा? और इस शाखा के प्रवर्तक का भी असन्दिग्ध रूप से परिचय न होने पर तो यह समस्या और भी कठिन हो जाती है। फिर भी प्राप्त जानकारी के आधार पर सम्भावित अनुमानों का विवरण इस प्रकार है—

श्री भगवद्दत्त जी ने अनेकों प्रमाणों और उद्धरणों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि याज्ञवल्क्य और वैशम्पायन आदि महाभारतकालीन हैं, और समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों का सकलन भी इसी काल में हुआ है[1]। अतः इनके मतानुसार इन ऋषियों के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा रचित ब्राह्मण-भाग समन्वित संहिताओं के सकलन का भी यही समय होना चाहिये। अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में इन्होंने मैत्रायणी-काठक का समय स्पष्टतः विक्रम से ३२०० वर्ष पूर्व माना है।[2]

दूसरी ओर डॉ० कीथ तैत्तिरीय संहिता का समय ही ६०० ई० पू० का मानते हैं, और मैत्रायणी को इसकी अपेक्षा परवर्ती कहते हैं।[3] इस मान्यता के विपरीत श्री वान श्रोडर अनेक व्याकरणिक रूपों और शब्दों के प्रयोगों और वैशम्पायन की शिष्य-परम्परा के आधार पर मैत्रायणी को तैत्तरीय की पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं।[4] श्री मण्डन मिश्र भी अभिव्यक्ति में विचार की अल्पता के आधार पर तैत्तिरीय की अपेक्षा मैत्रायणी को प्राचीन मानते हैं।[5]

किन्तु यदि हरिवंश में वर्णित दिवोदास के पौत्र मैत्रायण या प्रपौत्र मैत्रेय को इस शाखा का आदिम प्रवर्तक मानें, तो ऋग्वेद के काल में ही इस शाखा का उद्भव माना जाना चाहिये, क्योंकि दिवोदास निर्विवाद रूप से ऋग्वैदिक राजा हैं, जिनका वर्णन एक प्राचीनतम ऋषि वशिष्ठ करते हैं। यदि ऐसी स्थिति हो, तो

---

१ ब्रै को की भूमिका, पृ ६-३३
२ वै वा इ, १।११
३ तै स अ अ की भूमिका पृ ४६,९८
४ ,, ,, पृ ९१-९७
५ मीमांसा दर्शन, पृ १३

इतनी प्राचीन शाखा का भी पुराणों में नामोल्लेख न होना महान आश्चर्य है। और यदि वैशम्पायन के शिष्य कलापी अथवा किसी अज्ञातनामा शिष्य मैत्रायण को इस शाखा और संहिता का संस्थापक स्वीकार करे तो पं० भगवद्दत्त के लेखानुसार इसे महाभारतकालीन (वि० पू० ३२००) माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मैत्रायणी के काल-निर्धारण में यह भी एक निर्णायक तत्व हो सकता है कि इसकी शाखा मानव का प्रवर्तक कौन है? क्या मानव का सम्बन्ध मनु से जोड़ा जा सकता है? और वह मनु तथा मनुस्मृति का रचयिता है या कोई अन्य?

विषय-वस्तु और संयोजन की दृष्टि से मैत्रायणी संहिता एकदम विपरीत कालों की ओर संकेत करती है। इसमें देश-काल वाची शब्दों और वर्णनों का अभाव; यज्ञ विधि की संक्षिप्तता और सरलता, सत्र, गवामयन गर्गत्रिरात्र जैसी परवर्ती यज्ञ विधियों का अनुल्लेख तथा संक्षेप में विषय को स्पष्ट करने की शैली इसे तैत्तिरीय संहिता से प्राचीनतर सिद्ध करते हैं, किन्तु दूसरी ओर इसमें चतुर्होतृ, गोनामिक, प्रवर्ग्य जैसे प्रकरणों का संयोजित समावेश, विषयवस्तु का सुगठित संयोजन, मन्त्र एवं ब्राह्मण का व्यवस्थित विभाजन और यज्ञविधि में आभिचारिक प्रयोग का प्राधान्य[1] इसे अन्य सभी शाखा-संहिताओं से परवर्ती सिद्ध करते हैं।

अतः यह माना जा सकता है कि विचार और याज्ञिक-भिन्नता के आधार पर एक सम्प्रदाय के रूप में मैत्रायणी शाखा बहुत प्राचीन होगी, पर संहिता रूप में इसका संकलन बहुत बाद में हुआ होगा।

मैत्रायणीयों का वास-स्थान

संहिता में स्थानवाची ऐसा कोई नाम नहीं मिलता है, जिससे किसी स्थान-विशेष से इसके सम्बन्ध का कुछ अनुमान किया जा सके। केवल एक स्थान पर 'कुरुक्षेत्र' में अग्नि, सोम और इन्द्र देवों द्वारा एक सत्र के अनुष्ठान का वर्णन है।[2]

इस शाखा के आवास के सम्बन्ध में 'महार्णव' का यह उद्धरण ही सर्वत्र प्रचलित है कि—

> मूयरपर्वताच्चैव यावद्गुर्जरदेशतः।
> व्याप्ता वायव्यदेशात्तु मैत्रायणी प्रतिष्ठिता॥[3]

---

१ मैत्रायणी संहिता में ध्रुवग्रह का अभिचारिक प्रयोग (४।६।६) और अश्व के उत्क्रमण के समय की आभिचारिक भावना (३।१।४) तैत्तिरीय संहिता में नहीं है। ऐसे अन्य स्थल भी हैं।

२ मै. सं. २।१।४

३ च. व्यू. पृ. ३४

इस श्लोक के अनुसार भारत के पश्चिमोत्तर और दक्षिण-मध्य के भाग में यह सम्प्रदाय फैला हुआ था। इन्हीं प्रदेशों का आधुनिक नाम खानदेश, नासिक और मोर्वी है।[1] मैत्रायणी-संहिता की पाण्डुलिपियाँ भी नासिक और मोर्वी में ही प्राप्त हुई हैं। और यहाँ आज भी मैत्रायणी संहिता पढ़ी जाती है।[2] गुजरात में भी *विशेषत मोढ ज्ञातीय ब्राह्मण इस शाखा के अनुयायी हैं।*[3]

डॉ० कीथ के अनुसार समस्त चरक शाखाओं का मूलस्थान मध्यदेश था। पर कालान्तर में काठक-कपिष्ठल कश्मीर और पजाब में, मैत्रायणी नर्मदा के उत्तरी अचल और गुजरात में, तैत्तिरीय दक्षिण में और वाजसनेयी उत्तर-पूर्व तथा पूर्व में फैली।[4] श्री वान श्रोडर के अनुसार भी यजुर्वेद का स्थान कुरु पाचाल-मध्यदेश था, और बाद में मैत्रायणी गुजरात और नर्मदा के आस-पास फैली, और मोर्वी इनका मुख्य केन्द्र रहा।[5]

मैत्रायणी संहिता की विषयवस्तु एव इसका गठन

जैसा कहा जा चुका है कि यह यज्ञप्रधान यजुर्वेद की एक शाखा है, अत इसमें *नानाविध यज्ञों के मन्त्र और उनके याज्ञिक प्रयोग एव व्याख्यान ही मिलते हैं।* इससे इस संहिता के संकलन का स्पष्ट उद्देश्य सम्प्रदाय की यज्ञ-परम्परा को जीवित रखते हुए सम्प्रदाय की यज्ञ-सम्बन्धी विचारधाराओं को व्यक्त करना है।

संहिता में मुख्यत चार यज्ञ माने गये हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और सौम्य अध्वर।[6] सौम्य अध्वर में सभी सोमयागों को समाविष्ट कर लिया गया प्रतीत होता है। सम्भवत यह वर्गीकरण काल की विविध इकाईयों पर आधारित है। ये चारों प्रकार के यज्ञ क्रमश प्रतिदिन, प्रतिपर्व, प्रतिऋतु और प्रतिवर्ष अनुष्ठित किये जाने योग्य हैं।

इन चार यज्ञ-भेदों के अवान्तर भेद किये गए हैं। कुल मिलाकर इस संहिता में १४ *यज्ञों—अन्वाधान, अग्न्युपस्थान,* पुनराधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम (अग्निष्टोम के अवान्तर भाग उक्थ्य, अतिरात्र और षोडशी), राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सौत्रामणी, प्रवर्ग्य, गोनामिक और अग्निचिति—का सव्याख्यान विशद वर्णन है। केवल अश्वमेध, सौत्रामणी और प्रवर्ग्य के मन्त्रमात्र ही हैं, इनका व्याख्यान अर्थात् ब्राह्मण भाग इसमें नहीं मिलता है।

---

१ वान श्रोडर द्वारा सम्पादित मै सं की भूमिका, पृ ३५-३७
२ वै वा इ १।२६७
३ मा गृ सू की भूमिका, पृ १८-१९
४ तै. स. अ की भूमिका, पृ ९२
५ वान श्रोडर की मै सं की भूमिका, पृ २१-२२
६ मै सं १।६।५

इन यज्ञों में से 'गोमामिक' अन्य किसी संहिता या ब्राह्मण में नहीं मिलता है। 'प्रवर्ग्य' केवल वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में है।

इसके अतिरिक्त संहिता में एक चतुर्होतृ-प्रकरण भी है।[1] यह तैत्तिरीय संहिता में अनुपलब्ध है पर इसके मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक[2] में और व्याख्यान तैत्तिरीय ब्राह्मण में[3] बिखरा हुआ है। काठक संहिता में 'उत्सीदन' नामक स्थानक में चातुर्मास्य याग मन्त्रों[4] और काम्येष्टि अनुवाक[5] के बीच में इस प्रकरण के मन्त्र और व्याख्यान हैं।[6] यह प्रकरण कोई स्वतन्त्र यज्ञ नहीं है, अपितु इसमें विभिन्न यज्ञों के विशिष्ट स्थलों पर पठनीय मन्त्र विशेष और उनकी उपयोगिता समझाई गई है। अतः इसमें उल्लिखित मन्त्रों को यथास्थान निर्दिष्ट करते हुए यज्ञविधि में समाविष्ट करके ही छोड़ दिया गया है, इसका अलग से विवेचन नहीं किया गया है।

यद्यपि इस संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही संकलित हैं। किन्तु दोनों के बीच ऐसी व्यवस्थित संयोजना है कि इसे मन्त्र और ब्राह्मण का संकर रूप नहीं कहा जा सकता है। तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में मन्त्र-ब्राह्मण का जो अप्रासंगिक घुला-मिला संकर रूप दीख पड़ता है, उसका यहाँ सर्वथा अभाव है। इस संहिता में प्रत्येक यज्ञ के मन्त्र अलग संकलित हैं, और ब्राह्मण-भाग अलग। जिस प्रपाठक में मन्त्र और ब्राह्मण साथ-साथ दिये गये हैं, वहाँ भी व्यवस्था इस प्रकार है कि पहले अनुवाकों में सब मन्त्र हैं, और बाद के अनुवाकों में ब्राह्मण-भाग है। निम्न विवरण से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जायेगा।

संहिता में चार काण्डों में विभक्त ५४ प्रपाठक हैं। इनमें से ४४ प्रपाठकों में यज्ञों के मन्त्र और उनके ब्राह्मण-व्याख्यान हैं। इनमें से भी १८ प्रपाठकों में सिर्फ मन्त्र हैं, और १७ में सिर्फ ब्राह्मण। इनमें किस यज्ञ के मन्त्र किस प्रपाठक में और उनका ब्राह्मण किस में है यह अग्र तालिका में वर्णित है—

---

१ मै. सं. १।९
२ तै. आ. ३।१।१०
३ तै. २।२।१-३, ५, ६, ८, ११, १३
४ का. सं. ९।४-७
५ का. सं. ९।१७
६ ,, ९।८-१६

	यज्ञ का नाम	मन्त्र	ब्राह्मण
१	दर्शपूर्णामास	१।१	४।१
२	अग्निष्टोम	१।२ (अध्वर)	३।६-१०
		१।३ (ग्रह)	४।५-८
३	राजसूय	२।६	४।३-४
४	अग्निचिति	२।७-१३	३।१-५
५	सौत्रामणी	३।११	नही है
६	अश्वमेघ	३।१२-१६	,,
७	प्रवर्ग्य	४।६	,,

इन ३५ प्रपाटको के अतिरिक्त ७ प्रपाटको मे मन्त्र-ब्राह्मण साथ-साथ होने हुये भी उनका सयोजन इस प्रकार पृथक-पृथक है —

	यज्ञ का नाम	मन्त्र	ब्राह्मण
१	यजमान सम्बन्धी कार्य	१।४।१-४	१।४।५-१५
२	अग्न्युपस्थान	१।५।१-४	१।५।५-१२[1]
३	अग्न्याधान	१।६।१-२	१।६।३-१३
४	पुनराधान	१।७।१	१।७।२-५
५	चतुर्होतृ	१।९।१-२	१।९।३-८
६	चातुर्मास्य	१।१०।१-४	१।१०।५-२०
७	वाजपेय	१।११।१-४	१।१०।५-९[2]

इस तरह ४४ मे से सिर्फ दो प्रपाठक ही ऐसे हैं जिनमे मन्त्र और ब्राह्मण की यह विभाजक-रेखा नही है। इन दोनो प्रपाठको मे क्रमश अग्निहोत्रहोम और गोनामिक यज्ञ हैं। इनमे वर्णन-प्रकार यह है कि यज्ञ के प्रयोजन और क्रिया के औचित्य को बताते हुये यथाक्रम जब जो मन्त्र आता गया, उसे देते हुये साथ ही उसका व्याख्यान भी कर दिया है। इसमे दोनो को अलग न रखने का यह कारण प्रतीत होता है कि इन दोनो ही विधियो मे बहुत कम और छोटे-छोटे मन्त्र हैं। किन्तु इनमे भी मैत्रायणी की प्रकरण-बद्धता मे कोई कमी नही है।

यज्ञ-विधि सम्बन्धी इन ४४ प्रपाठको के अतिरिक्त शेष १० प्रपाठको मे प्रकरण की एक रूपता और मन्त्र-ब्राह्मण के विभाग का ध्यान पूरी तरह रखा गया

---

१ ब्राह्मण-सम्बन्धी इस बारहवें प्रपाठक के बाद १३-१४वें प्रपाठक मे पाये जानेवाले प्रवासोपस्थान के मन्त्रो के लिए षष्ठ अध्याय देखिये।

२ ब्राह्मण-भाग के इस नौवें प्रपाठक के बाद दसवें प्रपाठक मे आये 'उज्जिती मन्त्रों' के लिए भी षष्ठ अध्याय देखिये।

है। इनमें से पाँच प्रपाठकों[1] में एक साथ काम्य इष्टियों और काम्य पशुयागों का सप्रयोजन निर्देश है। ये निर्देश गद्य में ही दिये जाने सम्भव होने के कारण स्वभावतः ब्राह्मण-भाग से सम्बद्ध हैं। और शेष अन्तिम पाँच प्रपाठकों[2] में समस्त यज्ञों के याज्यानुवाक्या मन्त्रों को एक साथ संकलित करके रखा गया है।

इस विवरण से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मैत्रायणी संहिता का विषय-संयोजन और मन्त्र-ब्राह्मण का पृथक्करण निरपवाद रूप से व्यवस्थित और प्रकरणबद्ध है।

अन्त में यहाँ यह संकेत देना उचित होगा कि अनेक स्थलों पर मन्त्र और ब्राह्मण के क्रम में एक रूपता नहीं मिलती है। संहिता के मन्त्र भाग और ब्राह्मण-भाग की इस असमानता पर अन्य प्रकरण 'यज्ञ-प्रक्रिया के क्रम-निर्धारण' में विस्तार से विचार किया गया है।[3] उस विचार का अनुमानित निष्कर्ष यह है कि जो मन्त्र-भाग संहिता में है, उसका कोई अन्य ब्राह्मण रहा होगा, जो अब अज्ञात है, और उपलब्ध ब्राह्मण-भाग के अनुसार मन्त्रक्रम वाली कोई अन्य अज्ञात संहिता रही होगी। यदि इस विषय पर और अधिक गवेषणा की जाय तो सम्भवतः मैत्रायणीय शाखाओं पर भी कुछ विशेष प्रकाश पड़ सकेगा।

संहिता के दो संस्करण

श्री वान श्रोडर के अनुसार इस संहिता की छह पाण्डुलिपियां मिली हैं।[4] पर इसके मुद्रित संस्करण दो हैं—एक श्री वान श्रोडर ने १६२३ में प्रकाशित किया था, और दूसरा श्री सातवलेकरजी ने १६४२-४३ में सम्पादित किया था। श्री वान श्रोडर द्वारा प्रकाशित संस्करण में प्रथम काण्ड के चौथे प्रपाठक के दूसरे अनुवाक की तीन पंक्तियों से लेकर तीसरे काण्ड के चौथे प्रपाठक के तीसरे अनुवाक तक का भाग नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों के पाठ या संयोजन में कोई अन्तर नहीं है। केवल श्रोडर वाली संहिता में उपलब्ध यह प्रथम पंक्ति '॥श्री गणेशाय नमः॥ ओम् ॥नमो यजुर्वेदाय ॥ ओम् ॥' सातवलेकरजी वाली संहिता में नहीं है।

---

१ मै. सं. २।१-५
२ मै. सं. ४।१०-३४
३ देखिये तृतीय अध्याय
४ श्री वान श्रोडर द्वारा सम्पादित मै. सं. की भूमिका, पृ. ३५-३७

द्वितीय अध्याय

यज्ञ की सामान्य पृष्ठभूमि

यज्ञ की महत्ता

भारतीय-संस्कृति मे यज्ञ का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह इहलोक मे साक्षात् ऐश्वर्यरूप,[1] पापो, रोगो आदि का शोधक-नाशक,[2] तथा परलोक मे स्वर्ग प्राप्ति का साधन[3] एव अमरत्व का प्रापक है।[4] इसीलिए यही श्रेष्ठतम कर्म है।[5] इस सर्वोत्तम कामयुक् कर्म को प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ मे ही देवो और मनुष्यो के पारस्परिक नि श्रेयस के लिए उत्पन्न किया था।[6] अत जन्यजनक-सम्बन्ध के अभेदत्व के आधार पर यज्ञ को प्रजापति ही कहा गया है।[7] यज्ञ की इसी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता और विविधता को इस शब्द की धातु यज् देवपूजासगतिकरणदानेषु से स्पष्ट किया गया है।

किन्तु इस भारतवर्ष मे वैदिक-यज्ञो की आधारभूत धारणा का आशय अव्यक्त रह गया है। शतपथ[8] यज्ञ का निर्वचन बताते हुए कहता है कि "विस्तारित-विकसित-किया जाता हुआ जो उत्पन्न होता है वह यज्ञ है।" अत यज्ञ के इसी उत्पत्तिपरक[9] अर्थ को मुख्यत मान्य करते हुए भारतीय वेदवेत्ता[10] ही नही, आधुनिक

---

१ श १।७।१।६,१४
२ मै स १।१०।१०,१४, गो ३।१३, कौ ५।१, गो उ १।१६
३ तै स ६।३४।७।, श १।७।३।१, ऐ १।१६
४ मै स १।१०।१७, तै १।६।८, का स ३६।११
५ य वै १।१, मै स १।१।१।१, ४।१, श १।७।१।५, तै ३।२।१।४
६ गीता ३।१०
७ श. १।७।४।४, ४।३।४।३, ११।६।३।६, ऐ २।१७, ४।२६, को १०।१।१३, तै ३।३।७।३
८ श ३।६।४।२३
९ लैटिन के क्रमश पवित्र और "निर्माण" अर्थवाची Sacer और Facere मे मिलकर बने अंग्रेजी के Sacrifice का मौलिक अर्थ भी पवित्र निर्माण ही है। (ऋ य क, पृ २८)
१० ऐ. अनु पृ ७, वै वि. भा. स पृ ६३-६७
वे वि पृ ३०-३४, भा समा. मू, पृ, ५७-६८, वै सा पृ २२-२३

पाश्चात्य वेदवेत्ता[1] भी यज्ञ का मूल सम्बन्ध सतत क्रियाशील सृष्टि की उत्पत्ति-विद्या से मानते हैं। उनके अनुसार ये विविध वैदिक यज्ञ वेद के अनुसार इस ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना को वैज्ञानिक आधार पर, पर प्रतीकात्मक शैली में समझाने के साधन हैं, अग्निचितियाग के विविध और कुछ विशद ब्राह्मण-व्याख्यानों से भी यह प्रतीति होती है।[2] ये साधन क्रान्तदर्शी ऋषियों ने कृतयुग और त्रेता के सन्धिकाल[3] में वेद के आधि दैविक[4] अर्थ को सुरक्षित रखने के लिये अपनाये थे। उपलब्ध दुरूह याज्ञिक कर्मकाण्ड किस सीमा तक इस सृष्टि-विज्ञान का वाहक है, यह कहना कठिन है। किन्तु इससे यज्ञों की अन्वेषणीयता बढ़ जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यज्ञ का विकास

वैदिक यज्ञ अपनी महत्ता में जितना अप्रतिम है, अपनी विविधता और जटिलता में भी उतना ही अनुपम है। सहस्रों वर्ष से जनजीवन की अनेकानेक धाराओं को छूते आ रहे किस यज्ञ की कितनी विधियां प्रारम्भिक हैं, और कितनी परवर्ती परिवर्धन हैं, यह जान पाना अत्यन्त दुःसाध्य प्रतीत होता है।

किन्तु संक्षेपतः यह अनुमान किया जा सकता है कि अग्निहोत्रयाग अन्य यज्ञों की कल्पना का उद्गम है। अग्निहोत्र की सहज सरल दैनिक विधि का सीधा सम्बन्ध यजमान से है, जिसमें बहुधा ऋत्विज् भी बीच में नहीं आता है। इसके अन्याधान में प्रयुक्त अग्नि के स्तुतिमन्त्र स्पष्टतः यजमान की देवरंजन भावना द्वारा समृद्धि को प्राप्त करने की स्वाभाविक कामना मात्र के द्योतक हैं। डा० पोतदार भी यज्ञ के विकास को व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ता मानते हैं।[6]

इस दैनिक उपासना के साथ-साथ प्रजोत्पत्ति और रोग-निवारण कर अमृतत्व-प्राप्ति की चिर-नवीन आकांक्षा से दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य यज्ञों की कल्पना उभरी होगी। दर्शपूर्णमास मुख्यतः प्रजोत्पत्ति की कामना और शरीर-रचना की भी कुछ स्थिति को व्यक्त करता[7] है तथा चातुर्मास्य के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और साकमेधान्तर्गत पितृयज्ञ क्रमशः मृत्यु, रोग और शत्रु की बाधाओं को

---

१ डा० हीस्टरमैन, इण्डोलोस्टि (हालेंड यूनिवर्सिटी)

२ श. ६-६, मै. सं. ३।-१-५, तै. सं. ५-६, देखिये चतुर्थ अध्याय

३ ऐ. अनु. (पृ.८) में उद्धृत महा. भा. श. २३२।३२, २३८।१४, वा. पु. ५७।८६, मु. उ. १।२।१.

४ श. ११ वां काण्ड.

५ ऋ. वे. १०।१२८, मै सं. १।५

६ Sacrifice in the Rgvedea (पृ. २८४-२८५)

७ श. प्रथम काण्ड, मै० सं० ४।१, तै० ३।२-६, ३।१-११.

क्षीण करके एक स्वस्थ-सम्पन्न और सुरक्षित जीवन जीकर अमरत्व पाने के सामूहिक प्रयास ही हैं।[1]

फलत इन तीन प्रकार के यज्ञो की मूल-भावना को प्राचीन माना जा सकता है।[2] सोमयागो का विचार परवर्ती है, क्योंकि यज्ञ मे सोम की आहुति का प्रयोग बाद मे प्रारम्भ हुआ है।[3] किन्तु ऋग्वेद मे यजमान के लिए 'सुन्वत' विशेषण तथा अद्रि, ग्रावा आदि श... का प्रचुर प्रयोग इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि ऋग्वेद काल मे ही सोमयागों का स्वरूप उभर चला था। ऋग्वेद मे[4] अश्वमेध के प्रकरण से पशुयागो का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है। वस्तुत यह कहा जा सकता है कि प्राय सभी यज्ञो का स्वरूप ऋग्वैदिक काल मे ही पर्याप्त विकसित हो चुका था। किन्तु सूत्र-ग्रन्थो और ब्राह्मणो मे वर्णित हविर्यागो और मुख्यत सोमयागो के उद्देश्यो की विविधता और प्रक्रिया की जटिल व्यूहरचना इस बात के स्पष्ट सकेत भी देती कि इन यज्ञो की सभी क्रियायें ऋग्वेद काल की ही नही हैं। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञ द्वारा अभीष्ट-प्राप्ति की श्रद्धा ने याज्ञिक कर्मकाण्ड को लोकप्रिय बनाया, और ऋत्विज्-वर्ग की कुशल-बुद्धि ने क्रियाओ मे मनमाने परिवर्तन-परिवर्धन करते हुये यज्ञो को जटिल और व्यवसाध्य बनाकर इन्हे बहुरूपता प्रदान की।[5]

इस परिवर्तन-परिवर्धन की पुष्टि दो अन्य बातो से भी होती है। प्रथम यह कि सामान्यत दो प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं।[6] एक प्रकृतियज्ञ—जिसमे यज्ञ अपने प्रकृत—मूल—रूप मे सागोपाग वर्णित होता है, और दूसरे विकृति यज्ञ—जिनमे विकार अर्थात् अन्य यागो के विशिष्ट परिवर्तित-परिवर्धित रूप ही निर्दिष्ट किये जाते हैं। दर्शपूर्णमास इष्टियागो का प्रकृतियज्ञ है, और अग्निष्टोम सोमयागो का। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सोमयागो मे अग्निष्टोम प्राचीन है। पुष्टि का दूसरा आधार निरुक्त का 'पूर्वे याज्ञिक' शब्द है,[7] जो पूर्ववर्ती और परवर्ती याज्ञिकों के मत-भेद को व्यक्त करने मे प्रयुक्त हुआ है।

---

१ मै० स० १।१०।१५-१७, श० २।५,६, तै० १।६, कौ० ५।१, गो० उ० १।१९

२ महा० भा० शा० २६९।२०

दर्श च पौर्णमास च अग्निहोत्र च धीमत।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्म सनातन॥

३ Sacrifice in the Rgveda पृ० २८४

४ ऋ० वे० १।१६१, १६२

५ ऐ० अनु० पृ० १०

६, तै० स० भा० १।७, द० पू० प्र०, पृ० ११३, १२७

७ नि० ७।६

यदि स्वतन्त्र मुख्य यज्ञों की दृष्टि से देखें, तो कुल १२ यज्ञ हैं—७ हविर्याग—अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास, चतुर्मास्यों के वैश्वदेव, वरुणप्रवास, साकमेध और शुनासीरीय, और ४. सोमयाग—अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, और अश्वमेध तथा १ इष्टकायाग अग्निचिति। इन १२ यागों के कई अंगभूत याग थे, जो कालान्तर में स्वतंत्रयाग बने। यथा—पितृयज्ञ और त्र्यम्बक हविर्याग साकमेध के अंगयाग हैं, जो बाद में पितरों और शिव की स्वतन्त्र उपासना में व्यवहृत हुये।[1] अग्नीषोमीय पशुयाग और प्रवर्ग्य अग्निष्टोम के अंगयज्ञ हैं, जिनमें से प्रथम तो क्रमशः स्वतन्त्र-पशुयागों का प्रकृतियाग ही बन गया और दूसरा बाद में स्वतन्त्र याग के रूप में उत्पन्न होकर कालान्तर में सोमयागों का अंगभूत याग बना। इस मान्यता का आधार यह है कि संहिताओं[2] में इस पशुयाग के मन्त्र और व्याख्यान अग्निष्टोम के ही प्रकरण में है, किन्तु सूत्रग्रन्थ[3] में यह अग्निष्टोम से पूर्व ही पंचसंवत्सरिक के पृथक् पशुयाग के रूप में निर्दिष्ट हैं। प्रवर्ग्यविधि तैत्तिरीय संहिता और काठक में है ही नहीं, पर मैत्रायणी में यह स्वतन्त्र प्रकरण है, और सूत्र इसे अग्निष्टोम में उपसद्-विधि के साथ अनुष्ठित करने का निर्देश करते हुये भी इसको पृथक् प्रकरण में रखता है।[4] सौत्रामणी भी पहले राजसूय का अंगयाग रहा होगा।[5]

इस तरह उपर्युक्त १२ और कालान्तर में स्वतन्त्र सत्ता संपन्न महत्त्वपूर्ण इन ४ यागों—पितृयज्ञ, पशुयाग, प्रवर्ग्य और सौत्रामणी को मिलाकर १६ यज्ञ होते हैं।

इसके अतिरिक्त अग्निष्टोम के ५ विकृतियाग और हैं—उक्थ्य, अतिरात्र, षोडशी, अत्याग्निष्टोम, अप्तोर्यामि।[6] किन्तु शतपथ[7] और सूत्र ग्रन्थों में द्वादशाह,

---

१ मा. श्रौ. सू. (१।१।२) "पिण्ड पितृयज्ञ" नाम से इसी यज्ञ को दर्शयाग के अपराह्ण में भी अनुष्ठित करने का निर्देश देता है। यद्यपि किसी संहिता या ब्राह्मण में ऐसा उल्लेख नहीं है। और यही यागविधि पितरों की मासिक श्राद्धविधि का भी आधार है। जैमिनी ४।४।१६-२१ में यह स्पष्टतः स्वतन्त्र याग है।

त्र्यम्बक हविर्याग ने पौराणिक काल में ही स्वतन्त्र सत्ता पाई है। आज भी चौराहों पर की जाती विधियों का मूल भी यही याग प्रतीत होता है।

२ तै. सं. १।३।५।११, ६।३, ७।२-४, मै. सं. १।२।१४-१८, ३।६।६।७, ३।१०, का सं. ३।२-८, २६।७-८, वा. सं. ५।४१-४३, ६।१-२२, श. ३।७।३, ३।८।१।३

३ मा. श्रौ. सू. १।८।१-६

४ देखिये षष्ठ अध्याय

५ विस्तार के लिये देखिये षष्ठ अध्याय

६ य. त. प्र. (पृ० ८१-८६) में इसमें वाजपेय को भी उल्लिखित किया गया है।

७ श. ४।५।४।१४

पउह्याग, अभिप्लव, विश्वजित् आदि अनेक अन्य सोमयागो का भी उल्लेख है। वस्तुत सोमयागो का जो विस्तार हुआ, उसके आधार पर उन्हे तीन भागो मे बाँटा गया है एकाह, अहीन और सत्र।[1] एक दिन मे ही तीनो सवनो को पूर्ण कर लेने वाला एकाह, एक से अधिक दिनो मे पूर्ण होने वाला अहीन—यह द्विरात्र से त्रयोदश-रात्र तक होता है, और १३ से अधिक रात्रियो से लेकर वर्ष भर तक अनुष्ठित होने वाला सत्र कहलाता है। किन्तु इनमे और मूल अग्निष्टोम मे थोडा-सा अन्तर है।

अश्वमेध पर आधारित पुरुषमेध और सर्वमेध भी मुख्य यज्ञ है। किन्तु इनके मन्त्र सहिताओ मे केवल वाजसनेयी सहिता[2] और ब्राह्मणो मे तैतिरीय ब्राह्मण[3] मे ही है, तथा शतपथ ब्राह्मण[4] इनका अच्छा व्याख्यान प्रस्तुत करता है। सूत्रो मे ये सिर्फ शाखायन और वैतान मे उल्लिखित हैं।[5] इसका पूर्ववर्तित्व या परवर्तित्व बहुत विवादास्पद है।[6] कीथ इन्हे परवर्ती कहते हैं। पर ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[7] की भावना से ओतप्रोत पुरुषमेध को मूलत प्राचीन माना जा सकता है।

अग्न्याधान स्वतन्त्रयज्ञ न होकर भी सब यज्ञो का आधारभूत अग है, और यह स्वतन्त्र फल देने वाला[8] होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य रखता है। अत इसकी तीन विधियाँ—*अग्न्याधान, अग्न्युपस्थान और पुनराधान*—को भी स्वतत्र प्रकरणो के रूप मे व्याख्यात किया जाता है। अग्नि-समिन्धन का यह सरल प्राथमिक कार्य किस प्रकार सृष्टि मे अग्नि-तत्त्व की विवेचना और नानाविध फल प्राप्तियो से सम्बद्ध हुआ, यह अध्ययन भी यज्ञ के विकास के एक महत्त्वपूर्ण पहलू को सामने रखता है।

यदि उपर्युक्त १६ मुख्य यज्ञो मे पुरुषमेध और सर्वमेध तथा अग्न्याधान की तीनो विधियो को परिगणित कर लें, तो कुल २१ यज्ञ हो जाते हैं। और गोपथ[9] मे यज्ञ को एकविंशति सख्या वाला ही कहा गया है। किन्तु वहाँ नामोल्लेख न होने से यह कहना कठिन है कि किन-किन यज्ञो को इसमे समाविष्ट किया गया है।

---

१ तै स मा १।२००
२ वा स ३०
३ तै ३।४
४ श १३।६
५ शा. सू १६।१०।६, १६।१२।१७,२१ वै सू ३७।१५,१६
६ यै ध द २।४३०,३१
७ ऋ वे १०।६०
८ मै स १।६।८, का, स, ८।१, श, २।१।२-३
९ गो पू, १।१२, ५।२५

अग्निहोत्र से सर्वमेध तक आती यज्ञ की इस विचारधारा को गीता में[1] तपोयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणयज्ञ, स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ आदि मानसिक यज्ञों की ओर जो स्पष्ट मोड़ दिया गया है, वह भी यज्ञ-विकास का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

प्रारम्भिक देवाराधन का साधन यह यज्ञ किस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-प्रक्रिया के दर्शन का आधार बना, और क्रमशः द्रव्याश्रित श्रौत; स्मार्त एवं गृह्य यज्ञों की विविध धाराओं में प्रवाहित होते हुए मनोमय यज्ञों को भी समेटता चला, यह वस्तुतः एक रोचक और महत्त्वपूर्ण अध्ययन का क्षेत्र है। इसी दिशा में बढ़ने के एक प्रारम्भिक चरण के रूप मे मैत्रायणी-संहिता के प्रमुख यज्ञों का सामान्य विवरण दिया जा रहा है।

मैत्रायणी संहिता में उपलब्ध यज्ञों का नामोल्लेख पहले किया जा चुका है।[2]

यज्ञ के तत्त्व

ब्राह्मणों में बहुधा यज्ञ को पंक्ति अर्थात् पांच अंगों वाला कहा गया है। महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथजी कविराज[3] ने देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा को यज्ञ के पांच अंगों में परिगणित किया है। वस्तुतः ये पांचों यज्ञ के मूल तत्त्व हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी यज्ञ-सम्पादन में अनेकानेक वस्तुओं और व्यक्तियों का योगदान अपेक्षित है। इन सब अपेक्षित साधनों को सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(क) यज्ञ के आधार, (ख) यज्ञविधि के सम्पादक, (ग) यज्ञ के उपकरण

संहिता की यज्ञ-संस्था भली प्रकार समझने के लिए तीनों का परिचय अपेक्षित है। अतः इनका क्रमिक और संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

(क) यज्ञ के आधार

देवता, मन्त्र और हवि यज्ञ के मूलाधार तत्त्व हैं। इन्हीं के चारों ओर यज्ञ-क्रियाओं का समस्त ताना-बाना बुना जाता है :

वस्तुतः देवता यज्ञ का सर्वप्रथम तत्त्व है। यज्ञ से देवताओं की ही नानाविधि उपासना कर उनका अनुग्रह पाया जाता है। किन्तु मूलतः देवता यजमान के उद्देश्य की प्राप्ति का एक माध्यम मात्र है तथापि यह माध्यम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। देवता के अनुसार ही तत्सम्बन्धी मन्त्र और हवि का प्रयोग भी फल-प्राप्ति के लिए साधन रूप ही है। यज्ञों के उद्देश्य के भेद के कारण प्रत्येक यज्ञ के मुख्य देवता भिन्न-भिन्न और एक अथवा अनेक होते हैं। मन्त्र और हवि का प्रयोग देवता के अनुरूप

---

१ गीता, ४।२८-३०.

२ देखिये, प्रथम अध्याय का पृ. १३.

३ भारतीय संस्कृति और साधना (प्रथम खण्ड) पृ. १६८

ही किया जाता है। यज्ञ के सर्व प्रमुख देवता अग्नि, विष्णु, इन्द्र और सोम हैं। प्राय सभी यज्ञो मे इनका स्थान है। द्वितीय कोटि के देवताओ मे वरुण अदिति, सविता, पूषा, मरुत्, विश्वदेवा, द्यावापृथिवी और सरस्वती आदि हैं, इनकी स्थिति सब यागों मे न होते हुए भी अनेक यागो में है। तीसरी कोटि मे गौण देवता हैं—इनका स्थान एक या दो यागों से अधिक मे नही है—अनुमति, राका, कुहू, सिनीवाली, निर्ऋति, पितर, मरुतो के क्रीडिन सान्तपन और गृहमेधी रूप तथा त्र्यम्बक।

हवियो मे आज्य के अतिरिक्त पृषदाज्य, पुरोडाश, चरु तथा सोम प्रमुख हैं। सान्नाय्य, आमिक्षा, वाजिन, करम्भ, मन्थ और धाना आदि हवियाँ भी प्रयुक्त होती है। कभी-कभी १४ प्रकार के अन्न, दही, पयस् और सुरा का प्रयोग भी होता है।[१] पशुयाग मे पशु की हवि मुख्य है।

(ख) यज्ञ के सम्पादक

यज्ञ को सम्पन्न करने मे जिन व्यक्तियो का योगदान आवश्यक है, उन्हे भी तीन वर्गों मे बाँट सकते हैं —

१ यज्ञ का सकल्पकर्त्ता

वैदिक यज्ञो के सकल्पकर्त्ता, देवयजन के अभिलाषी व्यक्ति को यजमान कहते हैं। *यह यजमान सकल्पात्मक मन का ही रूप है।*[२] *यही यज्ञकर्त्ता है, अत* अपने यज्ञ का प्रजापति है।[३] यज्ञ-सम्बन्धी व्रतों के पालन का दायित्व भी यजमान पर है। अत यही यज्ञ के समस्त फल का अधिकारी है। ऋत्विज् इसी के लिए नानाविध ऐश्वर्य की कामना करते हैं।[४]

यजमान पत्नी की उपस्थिति भी यज्ञ की पूर्णता के लिये आवश्यक है, क्योकि अयज्ञो वा एष योऽपत्नीक[५]। यजमान के साथ यह भी स्वर्गलोक की भागी होती है। किन्तु यज्ञ मे इसका कोई स्वतन्त्र योगदान नहीं है। यज्ञक्रियाओ मे भी इसका योगदान अत्यल्प है। यजमान ही अनेक विधियो मे सक्रिय और महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।

२ यज्ञ के अनुष्ठाता—

यजमान के बीजरूप सकल्प को पल्लवित और पुष्पित वृक्ष का रूप देने वाले

---

१ इन समस्त हवियो का परिचय परिशिष्ट १ क मे देखिए।

२ श १२।८।२।४

३ ,, १।६।१।२०

४ ,, १।८।१।२१

५ तै २।२।२।६

यज्ञविधियों के अनुष्ठाता, ऋत्विज् भी यजमान द्वारा ही चुने जाते हैं। अतः यदि यजमान यज्ञ की आत्मा है, तो ये ऋत्विज् यज्ञ के अंग हैं।[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] के अनुसार अग्निहोत्र में एक, दर्शपूर्णमास में चार, चातुर्मास्यों में पाँच, पशुयागों में छह, सोमयागों में सात और सत्रों में दस ऋत्विज होते हैं। मानवश्रौतसूत्र[3] में सोमयाग में चार ऋत्विजों और १२ होत्रकों के वरण का उल्लेख है।

मैत्रायणी संहिता में ऋत्विज्-वरण का उल्लेख सिर्फ एक स्थल पर-अग्निष्टोम के अग्नीषोमीय पशुयाग-प्रकरण में है।[4] यहाँ संहिताकार सात ऋत्विजों होता, अध्वर्यु, अग्नीत्, ब्राह्मणाच्छंसी, मैत्रावरुण, पोता और नेष्टा—के वरण का निर्देश करता है।[5] किन्तु विना वरण किये भी इसी प्रकरण में अच्छावाक का, और अन्यत्र[6] प्रतिप्रस्थाता उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा उन्नेता का भी उनके कार्यसहित उल्लेख मिलता है। किन्तु अन्यत्र वर्णित[7] सोमयागीय दो ऋत्विजों—ग्रावस्तुत् और सुब्रह्मण्य—के नाम संहिता में कहीं भी नहीं मिलते हैं। इससे सम्भावना की जा सकती है कि मैत्रायणी—सम्प्रदाय को अग्निष्टोम में १४ ऋत्विज् ही मान्य थे। किन्तु सभी सोमयागों में १४ ही ऋत्विज् अभिप्रेत हों, ऐसा मानना भी कठिन मालूम पड़ता है, क्योंकि राजसूय-प्रकरण[8] में दक्षिणा का विधान करते हुये सिर्फ १२ ऋत्विजों का ही उल्लेख मिलता है। यहाँ उन्नेता और प्रतिप्रस्थाता का नाम नहीं हैं।

अग्न्याधान के प्रकरण में 'चरुस्तं ब्राह्मणे परिहरेयुस्तं चत्वारः प्राश्नीयुः। तेभ्यः समानो [illegible]रो देयः।[9] के वर्णन से स्पष्ट होता है कि इस यज्ञविधि में मैत्रायणीकार को चार ऋत्विज् अभिप्रेत हैं।

चातुर्मास्यान्तर्गत वरुणप्रघासपर्व[10] में प्रतिप्रस्थाता के कार्यों का भी स्पष्ट निर्देश है। अतः इससे तैत्तिरीय ब्राह्मण के चातुर्मास्य में पाँच ऋत्विजों के होने के

---

१ श. ६।५।२।१६

२ तै. २।३।६

३ मा. श्रौ. सू. २।१।१।४-५.

४ मै. सं. ३।६।८

५ सम्भवतः वरण-विधि के अनुसार ही तैत्तिरीय ब्राह्मण में सोमयाग के सात ऋत्विज् माने गये होंगे।

६ मै. सं. ४।६।२,४, ४।७।४

७ ऋ. य. क. पृ०२, य. त. प्र. पृ. ५६

८ मै. सं. ४।४।८

९ ,, स. १।६।८

१० ,, १।१०।१३

कथन की पुष्टि होती है। किन्तु मैत्रायणी सहिता मे चातुर्मास्य मे अन्यत्र कोई उल्लेख न होने से यह कहना कठिन है कि मैत्रायणीकार को चातुर्मास्य के वैश्वदेव और साकमेध पर्व मे भी पाँच ही ऋत्विजो का विधान मान्य है।

इसके अतिरिक्त सहिता के चतुर्होतृ-मन्त्र[1] मे उपवक्ता और अभिगर नामक ऋत्विजो का भी उल्लेख मात्र है। पर इनका कार्य सूत्र मे भी वर्णित नही है। कीथ के अनुसार[2] उपवक्ता मैत्रावरुण का पूर्वरूप है।

दर्शपूर्णमास[3] मे मैत्रायणीकार सिर्फ अध्वर्यु का नामोल्लेख करता है। अग्निहोत्र[4] मे न किसी ऋत्विज का कार्य—निर्देश है, न किसी दक्षिणा का।

इस उपर्युक्त विवरण से यह सम्भावना की जा सकती है कि मैत्रायणी-सम्प्रदाय को अग्निहोत्र मे किसी ऋत्विज की अपेक्षा नही है, और दर्शपूर्णमास मे सिर्फ अध्वर्यु, शेष सामान्य यागो—अग्न्याधान, वैश्वदेव पर्व, साकमेधादि मे चार, वरुण-प्रघास मे पाँच, अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयागो मे आवश्यकतानुसार १२ या १४ ऋत्विजो की उपस्थिति अभीष्ट है। यद्यपि ब्राह्मण-शैली की अपूर्णता को देखते हुये इस सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है।[5]

यज्ञ मे सामान्यत चार ऋत्विज होते हैं—अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा और अग्नीत्। यद्यपि मानवश्रौतसूत्र[6] अग्न्याधान के ऋत्विजो मे अग्नीत् की जगह उद्गाता का उल्लेख करता है, यद्यपि इसी प्रकरण मे आगे चलकर अग्नीत् के कार्य का वर्णन है,[7] और इस आधानविधि के लिये पाँच ऋत्विजो का विधान कहीं भी नहीं है। सम्भवत सामगान के कारण सूत्रकार को उद्गाता की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। किन्तु अग्न्याधान के सामगान ब्रह्मा द्वारा गाये जाने का विधान है।[8] और मैत्रायणी सहिता[9] मे स्पष्टत अग्नीत् का ही उल्लेख है, उद्गाता का नहीं। एक अन्य कल्प सूत्र[10] मे भी अग्नीत् का ही नाम है। तथा शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण और

---

१ मै. १।९।१
२ वै ध. द. १।३१५
३ मै. स ४।१।१४।६४
४ ,, १।८
५ देखिये तृतीय अध्याय
६ मा. श्रौ सू १।५।१।२१
७ ,, ,, १।५।३।३
८ य त प्र पृ ५-६
९ मै स १।६।४
१० तै. ब्रा भा १।४१

श्रोतपदार्थ निर्वचन[1] में भी हविर्यज्ञों के चार ऋत्विजों में स्पष्टतः होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और अग्नीत् का ही नामोल्लेख है। स्वतः मानवश्रौतसूत्र[2] भी दर्शपूर्णमास प्रकरण में इन्ही का उल्लेख करता है। अग्नीत् को आग्नीध्र भी कहते हैं।

किन्तु सोमयागों के १६ ऋत्विजों मे प्रमुख चार ऋत्विजों में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता आते हैं। इनमे अग्नीत् ब्रह्मा का सहयोगी ऋत्विक् माना गया है। सम्भवतः सोमयागों में सामगान की विशिष्ट स्थिति होने के कारण उद्गाता को को प्रमुख स्थान दिया गया है।

इस तरह हवि-यज्ञों के चार और सोमयाग के अन्य प्रमुख ऋत्विज् उद्गाता को मिलाकर कुल पाँच प्रधान ऋत्विक् हैं। इनके कार्य इस प्रकार है :—

१. अध्वर्यु—यह मुख्यतः यजुर्षो द्वारा यज्ञ की प्रायः सभी विधियों का अनुष्ठाता है।
२. अग्नीत्—यह प्रत्येक यज्ञविधि के समारम्भ की घोषणा करता है, तथा अग्नि-प्रज्ज्वलन के कार्य में विशेष सहयोगी होता है।
३. होता—ऋग्वेदीय मन्त्रों से यथासमय देवता-स्तुति के स्तोत्र, शस्त्र आदि तथा हवियों के याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ करता है।
४. उद्गाता—यथासमय सामों का गान करता है।
५. ब्रह्मा—यज्ञ का निरीक्षण करता हुआ कुछ विधियो को सम्पन्न करके यज्ञ के न्यूनाधिक दोषों का परिमार्जन करता है।

अतः ब्राह्मणों में अध्वर्यु को यज्ञ की प्रतिष्ठा,[3] अग्नीत् को यज्ञ का मुख,[4] होता को आत्मा,[5] उद्गाता को यश[6] और ब्रह्मा को चिकित्सक[7] कहा गया है। होता का स्थान वेदि के उत्तर मे,[8] ब्रह्मा का दक्षिण[9] में, और उद्गाता का पूर्व मे[10] वर्णित है। अतः अध्वर्यु का स्थान पश्चिम में ही रह जाता है। यजमान अध्वर्यु और

---

१ श. १।१।१।१५, तै. ३।३।८, श्रौ. प. नि १-२।३-६
२ मा. श्रौ. सू. १।१।१।१०
३ तै ३।३।८।१०
४ गो. उ. ३।१८, मै. सं १।६।४
५ कौ. ६।६, २६।८ गो. उ. ५।१४
६ गो. पू. ५।१५
७ ऐ. ५।३४
८ तै. ३।६।५।२
९ ,, ३।६।५।१
१० तां. ६।५।२०

ब्रह्मा के मध्य में दक्षिण-पश्चिम कोण पर पीछे की ओर बैठता है, और यजमान-पत्नी का स्थान सिर्फ गार्हपत्य-वेदि के पश्चिम में काफी पीछे होता है।

सोमयाग में अन्य ऋत्विज् प्रमुख चार ऋत्विजों के सहयोगी ऋत्विजों के रूप में विभक्त रहते हैं।[1] प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता अध्वर्यु के, मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् होता के, ब्राह्मणाच्छंसी, अग्नीत् और पोता ब्रह्मा के, और प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य उद्गाता के सहकारी ऋत्विज हैं।

ये सभी ऋत्विज् अनिवार्य रूप से दक्षिणा के अधिकारी हैं। दक्षिणाहीन यज्ञ नष्ट हो जाता है।[2] और दक्षिणा से यज्ञ समृद्ध होता है।[3] दक्षिणा के मुख्य पदार्थ चार हैं— हिरण्य, वस्त्र, गाय और अश्व।[4] किन्तु अन्य भी नानाविध वस्तुयें देने का विधान है। ऋत्विज यज्ञफल के अधिकारी न होते हुए भी अत्यधिक शक्तिसम्पन्न होते हैं। अध्वर्यु यदि चाहे तो विधि को दोषपूर्ण बनाकर यजमान का अनिष्ट कर सकता है।

३. आनुषंगिक कार्यकर्ता —

यज्ञ के तीसरे प्रकार के व्यक्ति ऐसे 'आनुषंगिक कार्यकर्ता हैं, जो आवश्यकतानुसार किए जाने वाले एकाध कार्य के करने में सहयोगी बनते हैं। ऐसे कार्यकर्त्ताओं का स्वतन्त्र महत्त्व और अस्तित्त्व कुछ नहीं है। इनमें हवि के कूटने पीसनेवाले हविष्कृत, पशु के मारने वाले शमितृ और सोम विक्रेता आदि आते हैं।

(ग) यज्ञ के उपकरण[5] :—

यज्ञ में प्रयुक्त नानाविध उपकरणों को १२ भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—आज्यपात्र—इनमें आहुति के लिये घी अथवा घी-मिश्रित दही रखा जाता। ये चार हैं आज्यधानी, पृषदाज्यधानी, ध्रुवा और उपभृत्।

२—होमपात्र—इनसे आहुतियाँ दी जाती हैं। ये पाँच हैं—जुहू, स्रुव, अग्निहोत्रहवणी, दर्वी और प्रचरणी। इनके अतिरिक्त मध्यमपर्ण और अर्कपर्ण से भी एक-दो आहुतियाँ दी जाती हैं।

३—मन्थन उपकरण—इनसे अग्नि उत्पन्न की जाती है। इनमें १ अग्निमन्थनशकल और दो अरणियाँ—एक उत्तरारणि और एक अधरारणि है।

---

१ य त प्र, पृ ५६
२ ऐ ६।३५
३ मैं सं ४।८।३ श २।२।२।२, कौं १५।१
४ श ४।३।४।७
५ इन उपकरणों का विस्तृत परिचय परिशिष्ट क में अकारादि क्रम में वर्णित है।

४—यज्ञायुध—इनसे वेदि खोदने, हवि पीसने आदि का काम लिया जाता है। ये दस हैं—स्फ्य, अभ्रि, उलूखल-मूसल, दृपद्-उपल, शम्या, शूर्प, कृष्णजिन और परशु (अथवा अश्वपशु)।

५—दोहन-उपकरण—ये हवि के लिये दूध दुहने में प्रयुक्त होते है। ये हैं—पलाश या शमी की शाखा, शाखा पवित्र, उखा (लकड़ी या अयस् के ढक्कन सहित) या कुम्भी और रस्सी।

६—हविपात्र—ये हवियाँ तैयार करने में प्रयुक्त किये जाते है। ये १३ हैं—कपाल, उपवेप, मदन्तीपात्र, सवपनपात्री, मेक्षण, दर्वी, चरुस्थाली, पुरोडाश पात्र, महावीर, पिण्टेलेपपात्र, शराव, अन्वाहार्यस्थाली, उपयाम अथवा उपयमनी, परिग्राह।

७—उपयोजनपात्र—जिन्हें आवश्यकतानुसार विविध यज्ञविधियों मे काम में लिया जाता है उन्हें उपयोजन कहते है। इनमें प्रमुख हैं—वेद, पवित्र, विधृति, प्रस्तर, आसन्दी आदि।

८—प्रातिस्विक-उपकरण—यज्ञ में अनिवार्य रूप से प्रयुक्त द्रव्यों को 'प्रातिस्विक्' कहते है। ये ६ हैं—समिधा, प्रोक्षणी पात्र, इध्म, परिधि, बर्हि, पुष्कर-पर्ण और सम्भार (ऊषा, सिकता, वल्मीकवपा आदि मिट्टियों को सम्भार कहा गया है।)

९—चमस और ग्रह पात्र—सोमयाग में प्रयुक्त १० चमस १९ ग्रहपात्र और सवनीय तथा द्रोण कलश अपेक्षित है। दशपेयथाग में १०० चमसों का विधान है।

१०—दीक्षा-उपकरण—यजमान और उसकी पत्नी की दीक्षा में काम आने वाली वस्तुयें ८ होती हैं—मेखला, दण्ड, योक्त्र, कृष्णविषाणा, क्षौमवस्त्र, नैककुम् अंजन, नवनीत और दर्भ।

११—भक्षणपात्र—इनमें ऋत्विज् और यजमान अपना-अपना हविर्भाग खाते है। इनमें ब्रह्मा, यजमान और उसकी पत्नी के लिये क्रमशः प्रशित्रहरण, यजमान-पात्र और पत्नीपात्र होते हैं। शेष पात्र व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर 'इडा' नामक विशिष्ट हविर्भाग से ही सम्बन्धित होता है और इडापात्र कहलाता है।[1]

१२—आसन—ऋत्विजों और यजमान आदि के बैठने के लिए आवश्यकता-नुसार आसन अनिवार्य है।

१३—पशुयाग के विशिष्टपात्र—२ वपा श्रपणी, शूल, वसाहोमहवणी, छुरी, प्लक्षशाखा।

---

१ इनमें से प्रशित्रहरण का कोई उल्लेख मैत्रायणी संहिता में नहीं है। यजमान-ब्राह्मण (१।४।६) में भी सिर्फ यजमान के ही भक्षण का उल्लेख है, पत्नी का नहीं। इडोपह्वान का उल्लेख भी सिर्फ यजमान के प्रसंग में है, (१।४।५), ऋत्विजों के लिये नहीं।

तृतीय अध्याय

यज्ञ-प्रक्रिया का क्रम-निर्धारण

मैत्रायणी संहिता की यज्ञ प्रक्रिया को जानने के दो मुख्य स्रोत हैं—इसका ब्राह्मण भाग और मानवश्रौतसूत्र। मुख्यत इन्हीं के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। क्रियाओं की संगति, क्रम और स्पष्टीकरण के लिए कहीं-कहीं यथावश्यक अन्य संहिताओं, सायण-भाष्य, तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण आदि का भी आश्रय लिया गया है। किन्तु संहिता के मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और मानवश्रौत सूत्र—तीनों की अपनी-अपनी विशिष्ट मर्यादायें हैं। मन्त्रभाग में सिर्फ मन्त्र हैं, मन्त्र से सम्बन्धित किसी प्रक्रिया या यज्ञविधि की चर्चा का उसमें कोई स्थान नहीं है। ब्राह्मण-भाग में सब कुछ घुला-मिला है, अतः वहाँ पूर्ण स्पष्टता और क्रमबद्धता का अभाव है। और मानवश्रौतसूत्र समग्र मैत्रायणी—सम्प्रदाय का न होकर उसकी सात शाखाओं[1] में से एक-यद्यपि प्रमुखतया-शाखा मानव का है।

अत यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र की पारस्परिक स्थिति को भली प्रकार जान लें, तभी यज्ञ-प्रक्रिया के क्रम का यथार्थ निर्धारण कर सकेंगे।

(क) मन्त्र

यज्ञ का सर्वप्रमुख तत्त्व मन्त्र होता है। मन्त्रों के आधार पर ही प्रत्येक क्रिया का ताना-बाना बुना जाता है। मन्त्रों—यजुषों—के प्रयोग से ही मानवीय क्रिया को भी याज्ञिक, अत देवताओं के अनुरूप बनाया जाता है।[2] किन्तु केवल मन्त्र—संकलन के आधार पर यज्ञ के कर्म-काण्डिक स्वरूप को जान पाना असम्भव है। मन्त्र की याज्ञिक—विधि ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों से ही स्पष्ट होती है। ब्राह्मण-सूत्र से रहित मन्त्र का याज्ञिक—स्वरूप बुद्धिकर्म से वियुक्त आत्मा के सदृश अव्यक्त ही रहता है। अत ब्राह्मण और सूत्र का आश्रय लेना अनिवार्य है।

---

१ देखिये प्रथम अध्याय का पृ ४

२ मै स ३।६।६, ३।१।७

यज्ञ में मन्त्र की स्वतन्त्र महत्ता इतनी अवश्य है कि यज्ञ-क्रम में श्रुति-मन्त्र-क्रम को प्राथमिकता दी गई है[१] और मन्त्र और ब्राह्मण आदि में विरोध दीखने पर मन्त्रपाठ को ही प्रबलतर प्राभाण्य माना गया है।[२] सामान्यतः यह यथार्थ भी है। मैत्रायणी संहिता के दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान, अग्न्युपस्थान, पुनराधान, चातुर्मास्य, राजसूय और अग्निष्टोम आदि में मन्त्र और यज्ञ के क्रम में प्रायः एकरूपता ही है। यदि कहीं कुछ परिवर्तन है भी, तो उसे शाखागत भिन्नता माना जा सकता है। यथा—

मैत्रायणी संहिता में शाखापवित्र को ग्रहण करनेवाला मन्त्र 'वसूनां पवित्र-मसि.......' पहले है,[३] और उखापात्र को ग्रहण करनेवाला मन्त्र 'द्यौरसि पृथिव्यास........' बाद में।[४] किन्तु तैत्तिरीय संहिता[५] में इसके विपरीत स्थिति है। मन्त्रों के ऐसे क्रम-विपर्यय पर्याप्त है। पर इस भिन्नता को दोनों संहिता-सम्प्रदायों में प्रचलित यज्ञविधि की भिन्नता का परिणाम माना जा सकता है कि मैत्रायणी पहले शाखापवित्र का ग्रहण करते होंगे, पर तैत्तिरीय उखापात्र का। इत्यादि........ ।

किन्तु मैत्रायणी संहिता के अध्ययन से यह भी स्पष्ट आभास होता है कि कुछ स्थलों पर मन्त्रों को यज्ञविधि के क्रमानुसार नहीं रखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में—जब याज्ञिक कर्मकाण्ड ही ध्येय और कर्त्तव्य बन गया, तब—मन्त्रों के संकलन में यज्ञविधि के अनुसार उनके क्रम की अनिवार्यता को उपेक्षित कर दिया गया और एक याग में प्रयुक्त मन्त्रों को एकत्रित कर लेना ही पर्याप्त मान लिया गया, क्योंकि उनका क्रम तो सम्प्रदाय में सर्वज्ञात होना स्वाभाविक था ही। इसका सुस्पष्ट प्रमाण संहिता के यजमान ब्राह्मण में है, जहां आज्यग्रहण के मन्त्रों[६] को अन्त में—प्रायश्चित्ति मन्त्र के भी बाद में—रखा गया है। यह तो सर्व-मान्य सहज बुद्धि की बात है कि अन्त में आज्य-ग्रहण का कोई औचित्य नहीं हो सकता है। तैत्तिरीय संहिता[७] में ये मन्त्र याजमान—ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही है। वाजपेय प्रकरण में ब्राह्मण-भाग के भी बाद उज्जिती मन्त्रों का एक सम्पूर्ण अनुवाक[८]

---

१ जै. मी. सू. ३।३।१४.
२ मी. न्या. प्र. पृ, ६२-६३.
३ मै. सं. १।१।३।७.
४ मै. सं. १।१।३।८.
५ तै. सं. १।१।३.
६ मै. सं. १।४।४।३१-३२.
७ तै. सं. १।६।१
८ मै. सं. १।११।१०.

जोड़े जाने से इस क्रम-शैथिल्य की स्पष्ट पुष्टि होती है। काठक[1] में ये मन्त्र यज्ञ के अन्य मन्त्रों के साथ हैं।

किन्तु सामान्यतः मुख्य यज्ञविधि के मन्त्र-क्रमों में विशेष उलट-फेर नहीं नहीं किया गया है, प्रयाजों, अनुयाजों, आप्री आदि मन्त्रों के पूरे अनुवाकों को ही अनिश्चित स्थान पर रख दिया गया है। इस क्रम-परिवर्तन के अधिक बड़े उदाहरण सौत्रामणी, अश्वमेध और अग्निचिति के मन्त्रों में है। सौत्रामणी याग में प्रथम तीन अनुवाकों[2] में क्रमशः आप्री देवताओं, प्रयाजों—अनुयाजों के प्रैष मन्त्र हैं और चौथे अनुवाक में सब हवियों के याज्यानुवाक्या के मन्त्र[3] हैं। इनके बाद मुख्य-यज्ञविधि सोमस्तुति, ग्रह-ग्रहण आदि के मन्त्र हैं। आप्री मन्त्रों का वाचन यदि पहले ही मान लें, तो भी अनुयाजों के मन्त्र पहले और हवियों के याज्या मन्त्रों को बाद में रखना स्पष्टतः असगत है, क्योंकि मुख्य होम से पूर्व अनुयाज का अनुष्ठान ही असगत है।[4]

जैसा अन्य प्रकरण में कहा है कि एक स्वतन्त्र याग के रूप में सौत्रामणी का अनुष्ठान एक परवर्ती विकास है।[5] अतः इसके संकलन में क्रम-शैथिल्य का आना अस्वाभाविक नहीं है।

यही स्थिति संहिता के अश्वमेध याग की है।[6] इस याग के मन्त्र ५ प्रपाठकों में संकलित हैं।[7] प्रथम प्रपाठक में यज्ञ की मुख्य-विधि के मन्त्र[8] हैं, अगले दो प्रपाठकों में यज्ञ में प्रयुक्त पशुओं और देवताओं के नानाविध-सम्बन्धवाचक मन्त्र[9] हैं, चौथे में अश्व के अंगों को परिकल्पित आहुतियों के मन्त्र और अंगभूतयागों की हवियों के निर्देश हैं।[10] अन्तिम प्रपाठक में पाँच अनुवाक हैं, जिनमें पहला अश्वस्तोमीय मन्त्रों का,[11] दूसरा आप्रीयाज्या का,[12] तीसरा अश्व और यजमान के विविध

---

१ का स १४।४
२ मै स ३।११।१-३
३ मै स ३।११।४
४ देखिए षष्ठ अध्याय
५ देखिए षष्ठ अध्याय
६ देखिये षष्ठ अध्याय
७ मै स ३।१२-१६
८ मै. स ३।१२, मा श्रौ सू. ९।२।१-४
९ ,, ३।१३-१४,
१० ,, ३।१५, ,, ९।२।५।१८
११ ,, ३।१६।१, ,, ९।२।५।१९, तै स ४।६।७-९
१२ ,, ३।१६।२, ,, ९।२।५।६, ,, ५।१।११

पकरणों के अनुमन्त्रण-मन्त्रों,[1] चौथा अश्वमेघ की दशहविष्टकेष्टि के याज्यानुवाक्या[2] और अन्तिम अश्वमेघ के याज्यानुवाक्या मन्त्रों का है।[3]

यह क्रम स्वतः प्रदर्शित करता है कि इस याग के मन्त्रों के गठन में यज्ञ-विधि के क्रम को ध्यान में नहीं देखा गया है। तैत्तिरीय संहिता में इस यज्ञ के मन्त्र बहुत अधिक असंगठित हैं, ३-४ काण्डों के अनेक प्रपाठकों में अन्य यज्ञों के बीच-बीच में आये हुये हैं। काठक संहिता में संहिता के अन्त में एक पृथक् पंचम-ग्रन्थ के रूप में सात वचनों में इस याग के मन्त्रों को एकत्रित किया गया है, जिनका पाठ और क्रम मैत्रायणी की अपेक्षा तैत्तिरीय के बहुत अधिक निकट है। वाजसनेयी[4] में मन्त्र हैं तो एकत्रित, पर शतपथ[5] के अनुसार भी मन्त्र-संकलन यज्ञविधि के अनुकूल नहीं है। ऐसे स्थलों पर मन्त्र-क्रम का प्रामाण्य मानना कठिन है।

इस क्रम के विषय में संहिता में सर्वाधिक विवादास्पद स्थिति अग्निचितियाग के दो अनुवाकों[6] और एक प्रपाठक[7] की है। संहिता में इस याग के मन्त्र सात प्रपाठकों[8] में संकलित हैं। पहले पाँच और छठे का एक भाग तो सामान्यतः यज्ञ प्रक्रिया के अनुसार ही है। यद्यपि इनमें भी एक उल्लेखनीय स्थिति है कि एक स्थान पर उपलब्ध मन्त्र को सूत्र और ब्राह्मण खण्डों में करके क्रमशः विनियुक्त कर लेते हैं। यथा—

आहवनीय की पंचमचिति में १२ ऋतव्येष्टकाओं के लिये ६ मन्त्र एक साथ आते हैं।[9] पर सूत्र[10] छह ऋतुओं के अनुसार इनका विभाग करके क्रमशः एक-एक मन्त्रांश से प्रत्येक चिति में २-२, और मध्यमचिति में ४ इष्टकाओं के आधान का निर्देश करता है, और ब्राह्मण[11] भी सूत्र के निर्देशानुसार व्याख्यान देता है। यही स्थिति प्रथमचिति में आये ३ विश्व-ज्योति इष्टकाओं के,[12] ३ स्वयमातृण्णेष्टकाओं[13]

---

१ मै. सं. ३।१६।३, मा. श्रौ. सू. ९।२।३।१९, तै. सं. ४।६।६
२ ,, ३।१६।४, तै. सं. ४।४।१२
३ ,, ३।१६।५, ,, ४।७।१५
४ वा. सं. २२-२५
५ श. १३।१-५
६ मै. सं. २।१२।५-६
७ मै. २।१३
८ मै. सं. २।७-१३.
९ मै. सं. २।८।१२।१४-२९.
१० मा. श्रौ. सू. ६।१।८।७-८.
११ मै. सं ३।३।३.
१२ ,, २।७।१६।२१८.
१३ ,, २।७।१५।२१५.

और पचमचिति को ३ मण्डलाकारेष्टकाओ[1] के तीन-तीन मन्त्राशो की है, जिन्हे सूत्र[2] एक-एक करके प्रथम, तृतीय और पचमचिति मे विनियुक्त कर लेना है। सूत्र के इस विनियोग की पुष्टि वाजसनेयी महिता[3] से भी होती है जहाँ यह प्रत्येक मन्त्राश निर्दिष्ट चिति के अपने-अपने क्रम मे ही आता है। और उनके इस चितिवार आधान को तैत्तिरीय महिता के सायण-भाष्य ने भी प्रस्तुत किया है।[4]

ऐसी स्थिति मे मन्त्र-क्रम के प्रामाण्य पर उतनी आपत्ति नही आती, क्योंकि अपने क्रम पर प्रथम या अन्तिम मन्त्राश तो विनियुक्त होना ही है, यद्यपि मन्त्र-गठन के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय तथ्य सामने आता है कि एक समान क्रिया के मन्त्रों को एक स्थान पर रखते हुये भी उसके अशो का अलग-अलग विनियोग किया जाना सम्भव है। ब्राह्मणो और सूत्रो के समान निर्देशो और वाजसनेयी मे तदनुकूल मन्त्र-सयोजन भी होने से इस प्रस्तुत विवरण मे इसी बहुसमर्थित क्रम को ही स्वीकार किया है। यद्यपि सम्भावना यह भी हो सकती है कि किसी समय तीनो अथवा बारहो इष्टकाओ का पृथक्-पृथक चिति मे आधान होने के बदले मन्त्र क्रम के अनुसार एक चिति मे एक साथ ही आधान किया जाता होगा।

किन्तु उपर्युक्त डेढ प्रपाठक की स्थिति अन्य कारणो से अधिक विवादास्पद है। कारण मुख्यत दो हैं —

१ दूसरे काण्ड के १२ वें प्रपाठक के तीसरे अनुवाक मे यज्ञ समाप्ति के बाद आनेवाला अग्नि-विमोचन मन्त्र और अन्तिम आहुति मन्त्र आ जाते हैं।[5] इनके बाद पुन इष्टकाधान का क्रम असगत प्रतीत होता है।

२ महिता के इसी उपर्युक्त प्रपाठक के पाँचवें-छठे दो अनुवाको मे क्रमश सामिधेनी और आप्री मन्त्र हैं। किन्तु इनसे पूर्व चौथे मे पुनश्चिति के मन्त्र हैं। मन्त्र क्रम के प्रामाण्य के आधार पर क्या इन आप्री और सामिधेनी मन्त्रों को पुनश्चिति के माना जाये? किन्तु कही भी ऐसा नहीं कहा गया है। यदि ऐसा मान लें तो प्रथम बार के चितियाग की ये विधियाँ किन मन्त्रो से सम्पन्न की जानी चाहिये? और ऐसा

---

१ मै स २।८।१४।३१

२ मा श्रौ सू ६।१।७।६, १४, १६, ६।२।१।१२,
१६, १७, ६।२।२।८, १२, ६।२।३।१३

३ वा स १३।२४, १४।१३, १५।५८

४ तै. स. भा ६।३७०७

५ मै स २।१२।३।१४, १५, आहुतिमन्त्र सूत्र मे निर्दिष्ट नहीं है। पर वा स (१८।५५-५६) मे इसी स्थान पर आया है। अतः का (६।५।१।२१) के अनुसार विनियोग मान्य किया है।

मानने में एक आपत्ति यह भी है कि तैत्तिरीय संहिता[1] में याग के प्रारम्भ में ही ये दोनों अनुवाक आते हैं, और सूत्र तैत्तिरीय के ही क्रमानुसार इन्हें प्रारम्भ में ही निर्दिष्ट भी करता है। शतपथ[3] में भी इन सामिधेनी और आप्री मन्त्रों का प्रारम्भ में निर्देश है।

अतः मुख्य याग को अग्निमोचन और आहुति पर समाप्त मानना उचित और युक्ति संगत प्रतीत होता है। उसके बाद पुनश्चिति का वर्णन भी स्वाभाविक है। किन्तु उसके बाद के सामिधेनी, आप्री के दो अनुवाकों और १३ वें प्रपाठक के नाना-विध इष्टकाधान के मन्त्र-क्रम को यज्ञ-क्रम के अनुकूल मानना अस्वाभाविक है।

यह १३ वां प्रपाठक अपने ब्राह्मण-व्याख्यान, सूत्र के विनियोग-क्रम और तैत्तिरीय एवं वाजसनेयी के अधिकांश मन्त्र क्रमों के आधार पर भी क्रमहीन संगठन प्रतीत होता है। वस्तुतः इसका स्वरूप अग्निचिति के परिशिष्ट जैसा लगता है। इसके २३ अनुवाकों की क्रमहीनता की धारणा के उपर्युक्त तीनों स्रोतों की स्थिति निम्न प्रकार से विचारणीय है :—

१. ब्राह्मण—

इस प्रपाठक के २३ अनुवाकों में से १४ अनुवाकों[4] का कोई ब्राह्मण-व्याख्यान नहीं है, न तत्सम्बन्धी यज्ञविधि का कोई संकेत है। ३ अनुवाकों का व्याख्यान सूत्र[5] के क्रमानुसार अग्निविमोचन से बहुत पहले हैं।[6] एक अनुवाक के तीन मन्त्रों में से मन्त्र २।१३।११।८७ सूत्र के क्रम पर ही ब्राह्मण में है।[7] दूसरा ८८ वां मन्त्र सूत्र और मन्त्र दोनों के क्रम से अलग व्याख्यात होता हुआ भी सूत्रनिर्दिष्ट क्रिया को पुष्ट करता है।[8] तीसरा ८९ वां मन्त्र पूर्णतः अनुल्लिखित है। पर सूत्र[9] इस मन्त्र से प्रत्येक चिति में जिस पुरीषनिवपन क्रिया का निर्देश करता है, ब्राह्मण[10] उसी क्रिया का मन्त्र-संकेत न देते हुए-सिर्फ पुनश्चिति के सन्दर्भ में ही उल्लिखित करता है।

---

१ तै. सं. ४।१।७,८.

२ मा. श्रौ. सू. ६।१।३।२

३ श. ६।२।१।२०-२६, ६।१।२८-३५ (शतपथ आप्री मन्त्रों को इसी याग के पशु-पुरोडाश के सामिधेनी-मन्त्र कहता है।

४ मै. सं. २।१३।३-६,९, १२-१३, १५-१७, १९-२१, २३,

५ मै. सं. २।१३।२, ७-८.

६ मा. श्रौ. सू. ६।१।७।१, ६।२।२।२१, ब्राह्मण भाग में मै. सं. ३।२।६, ३।३।२

७ ,, ६।१।७।३२, मै. सं. (ब्राह्मण)— ३।२।७.

८ ,, ६।१।८।१२ ,, ,, ३।४।७.

९ ,, ६।१।८।१६ ,, ,,

१० ,, ,, ,, ३।४।५.

शेष पाँच अनुवाक[1] ही ऐसे रह जाते हैं जो ब्राह्मण[2] में व्याख्यात हैं। पर इनका क्रम सूत्र और संहिता दोनों से बहुत भिन्न है।

२ सूत्र—

सूत्र में इनकी स्थिति यह है कि सिर्फ दो अनुवाकों को छोड़कर सब अनुवाकों के मन्त्र शतरुद्रियहोम से पूर्व—अर्थात् संहिता के नवम प्रपाठक से पूर्व ही विनियुक्त कर लिये जाते हैं। सबसे अन्तिम अनुवाक सूत्र[4] में सर्व प्रथम-गार्हपत्य-चयन से पूर्व आधारक्रिया में निर्दिष्ट है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस आधार-क्रिया के मन्त्रों का क्रम और विनियोग तैत्तिरीय-संहिता[5] और सूत्र में समान है।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय अनुवाक आहवनीय की प्रथमचिति के प्रारम्भ में कुम्भेष्टकाधान[6] में चौदहवाँ प्रथमचिति प्रायः मध्य में पशुशिरों के आधान के बाद पुरुषचिति[7] में, दसवाँ चतुर्थचिति[8] में और १३ अनुवाक[9] पंचमचिति के अन्त में छन्द और साम चिति आदि[10] में विनियुक्त हैं। शेष ३ अनुवाकों के २-३ मन्त्र बिखरे हुये हैं, और अन्य प्रत्येक चिति के अन्त में चिति-अभिमर्शन-चितिहोम, होमानुमन्त्रण आदि में प्रयुक्त किये गये हैं।[11]

सूत्र और संहिता के क्रम में इतना भेद होते हुये भी विनियोग में भिन्नता नहीं है। इस मान्यता के दो आधार हैं.—१. ब्राह्मण में उपलब्ध व्याख्यान विनियोग के अनुकूल है, और २ तैत्तिरीय, वाजसनेयी संहिताओं में भी यही विनियोग है।

३. अन्य संहितायें—

अन्य संहिताओं में भी इन मन्त्रों की स्थिति उल्लेखनीय है।

काठक में अग्निचितियाग के मन्त्र विभिन्न स्थानकों में बिखरे हुये हैं, और

---

१ मै स २।१३।१, १०,१४,१८,२२
२ ,, (ब्राह्मण) ३।४।९-१०, ३।५।१,२,४.
३ ,, २।१३।२३-२२.
४ मा श्री सू ६।१।३।५
५ तै स ४।१।८, तै स. मा ६।२६।४६
६ मा श्री सू ६।१।६।१८-२०
७ ,, ६।१।७।१, ६।१।८।१-२
८ मा श्री सू ६।२।१।२६
९ मै स. २।१३।३-९, १५-२०
१० मा श्री सू ६।२।२।२१, ६।२।३।१-४
११ ,, ,, ६।१।८।१२-१६

मन्त्र-ब्राह्मण इतना घुला-मिला है कि उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकाल पाना सम्भव नहीं है।

तैत्तिरीय संहिता के अग्निचिति-प्रकरण[1] में मै. स. के इन उपर्युक्त २३ अनुवाकों में से कुल आठ अनुवाकों[2] के मन्त्र ही उपलब्ध हैं। यद्यपि उनके क्रम में भिन्नता है। ४ अनुवाकों[3] के मन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण में हैं,[4] और १९वाँ एक अनुवाक तैत्तिरीय आरण्यक[5] में है।

पंचम, नवम, एकादश और द्वादश अनुवाकों के मन्त्र तैत्तिरीय के विभिन्न प्रकरणों में यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं।

शेष ६ अनुवाकों[6] के मन्त्र तैत्तिरीय संहिता या ब्राह्मण में कहीं नहीं है।

वाजसनेयी संहिता के अग्नि-चितियाग के मन्त्रों की स्थिति तैत्तिरीय के निकट हैं। पर इसमें अनुपलब्ध मन्त्रों की संख्या कुछ अधिक है।

क्रम की दृष्टि से तैत्तिरीय संहिता में कुम्भेष्टका और दिक् आहुति के मन्त्रों-अर्थात् मैत्रायणी के प्रथम और इक्कीसवें अनुवाकों—के अतिरिक्त सभी मन्त्रों का पंचम चिति से पूर्व ही विनियोग सूत्र-क्रम के निकट बैठता है। यद्यपि पूर्ण साम्य नहीं है।

ऐसी विचारणीय स्थिति में संहिता के मन्त्र-क्रम को यज्ञविधि के अनुकूल स्वीकार करना सहज नहीं है। अतः सामान्यतः मन्त्र-क्रम को मान्यता देते हुये भी इस प्रबन्ध में सौत्रामणी के याज्यानुवाक्या, प्रयाज, अनुयाज, आप्री, आदि मन्त्रों, अश्वमेघ के दो प्रपाठक—३।१५-१६—और अग्निचिति याग के पुनश्चिति के बाद के सामिधेनी, आप्री और इष्टकाधान के मन्त्रों में सूत्र के क्रम को स्वीकार किया गया है।

(ख) मन्त्र और ब्राह्मण

मन्त्रों के अनुसार यज्ञविधि का निर्माण किया गया, या यज्ञविधि के अनुसार मन्त्रों का संकलन, यह एक विवाद का विषय हो सकता है। किन्तु यह निर्विवाद है कि ब्राह्मणों का जन्म मन्त्रों के विनियोग की सार्थकता, यज्ञों की पृष्ठभूमि और

---

१ तै. सं. ५।६।१, ४।४।४, ४।३।११,
४।४।६-७, ४।४।१०, ५।५।१०,४।१।८

२ मै. सं. २।१३।१, ७।८,१०,१८,२०,२१,२३.

३ मै. सं. २।१३।३, ५।६,२२

४ तै. १।५।७, ३।१।१३,१।५।८, २।४।२

५ तै. आ. ३।१९.

६ मै. सं. २।१३।२,४,१४-१७.

यज्ञविधियो के औचित्य को समझाने के लिये ही हुआ है। बाद मे भी अनेको नये मन्त्र और नयी यज्ञविधियाँ आ-आकर ब्राह्मणों के कलेवर को और यज्ञों की लम्बाई को बढ़ाती रहीं, यह एक भिन्न बात है। अत यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणो का मुख्य ध्येय पहले से विद्यमान यज्ञो और मन्त्रो के एक सुनिश्चित स्वरूप का व्याख्यान मात्र करना है। किन्तु ब्राह्मण अपने इस ध्येय की पूर्ति एक ही प्रकार से नहीं करता है। एक पूर्वनिश्चित स्वरूप को व्याख्यान करते हुए ब्राह्मण प्राय अनेक बातो को सामान्य और सर्वज्ञात होने के कारण छोड देता है, अथवा सकेतमात्र ही देता है। इसमे बहुधा यज्ञ-व्याख्यान की एकरूपता और स्पष्टता नष्ट हो जाती है। मैत्रायणी सहिता के ब्राह्मण मे व्याख्यान --विविधता की तीन स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं —

(अ) यज्ञक्रिया का अनुल्लेख—

इसमे ब्राह्मण सिर्फ विनियुक्त मन्त्र का उल्लेख करते हुये उसके अर्थपरक प्रयोजन या फलमात्र को स्पष्ट करता है, मन्त्र के साथ होने वाली यज्ञ-क्रिया की कोई चर्चा नही करता है उदाहरणत —

१ ब्राह्मण[1] दर्शपूर्णमास के एक मन्त्र 'गोपदसि'[2] को उद्धृत करते हुये इतना ही कहता है कि 'इससे यजमान मे रयि-धन-को स्थापित करता है।'

२ 'देवानामसि वह्नितम सस्नितम पप्रितम जुष्टतम देवहूतम्' को देते हुये ब्राह्मण मे मन्त्रार्थ की फलसिद्धिमात्र को ही स्पष्ट किया गया है कि इससे इस (हविर्धान) को देवो के लिये सर्वोत्तम (हवि-) वाहक, शोधक, पोषक, प्रीतिप्रद और देव-आह्वाहक बनाता है।[3]

३ 'वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्ष वृद्ध वेत्तु'[4] को उल्लिखित करके ब्राह्मण[5] 'इति प्रतिष्ठित्यै' कहकर प्रयोजनमात्र को वर्णित करता है।

४ 'औषधे त्रायस्व'[6] के विषय मे ब्राह्मण[7] इतना भर ही कहता है कि 'यह रक्षा के लिये ही कहा गया है।'

---

१ मै स ४।१।२।६
२ ,, १।१।२।२
३ मै स १।१।५।१२
४ ,, ४।१।५
५ ,, १।१।७।१५
६ ,, ४।१।७
७ ,, १।२।१।२
८ मै स ३।६।२

५. 'अस्तन्नाद् धामृपमो ·····'[1] को ब्राह्मण[2] पुनः पूरे-का-पूरा उद्धृत करते हुये कहता है कि 'इससे इस (बँधे सोम) को वरुण बना देता है, और इसे (वरुण रूप सोम को) इसके अपने देवता (की ऋचा) से बढ़ाता है।'

(आ) मन्त्र का अनुल्लेख—

उपर्युक्त स्थिति से विपरीत स्थिति यह है कि ब्राह्मण में सिर्फ क्रिया का उल्लेख होता है, इसमें विनियुक्त मन्त्र का नहीं। यथा—

१. ४।१।१३ में ब्राह्मण कहता है कि—'बहुत-से जलों को (वेदि के पास) रखे। जितने प्रोक्षणी (जल यहाँ) रखता है, इस (यजमान) के उतने ही (जल) परलोक मे होते है। 'यहाँ जल रखने वाले किसी मन्त्र का कोई उल्लेख नहीं है।

२. ४।१।१२ में ब्राह्मण सिर्फ आज्यपात्रों को मांजने की क्रिया का विशद व्याख्यान देते हुये भी तत्सम्बन्धी मन्त्र का संकेत नहीं करता है।

३. ३।६।२ में दीक्षा-स्नान के बाद यजमान द्वारा वस्त्र पहनने की क्रिया का ही निर्देश है।

४. यजमान द्वारा मेखला—बन्धन की आवश्यकता को ब्राह्मण आख्यानपूर्वक ही समझाता है।[3]

५. यजमान को एक मुखदघ्न डण्डा देने का औचित्य भी आख्यान देकर ही व्यक्त किया गया है।[4]

(इ) विधिमात्र का व्याख्यान—

इसमे ब्राह्मण न मन्त्र देता है, न क्रियाओं का पूरा-पूरा उल्लेख करता है। सिर्फ मुख्य विधि के प्रयोजन को व्याख्यात करता है यथा—

१. अग्निष्टोम में ब्राह्मण[5] धिष्ण्याधान के प्रयोजन को आख्यान सहित स्पष्ट करता है। किन्तु तत्सम्बन्धी मन्त्रों और समस्त क्रियाओं का कोई उल्लेख नहीं है।

२. अग्न्याधान में सम्भारों को डालने का औचित्य ही विस्तारपूर्वक वर्णित है।[6]

---

१ मै. सं. १।२।६।२६

२ ,, ३।७।८।१३-१४

३ ,, ३।६।७

४ ,, ३।६।८

५ ,, ३।८।१०.

६ ,, १।६।३.

३ पुनराधान[1] में अग्नि को पुनः स्थापित करने के कारण और फल ही वर्णित है। किस मन्त्र से कौन-सी अग्नि का पुनः आधान हो, इस बारे में ब्राह्मण चुप है।

४ अग्निचिति के इष्टकाधान और अग्निष्टोम के ग्रह-ग्रहण के प्रकरणों में ऐसी स्थिति बहुधा मिलती है कि ब्राह्मण[2] सिर्फ इष्टका और ग्रह का नामोल्लेख करते हुए इनके प्रयोग की आवश्यकता मात्र बताता है।

व्याख्यान की उपर्युक्त तीनों स्थितियों के साथ-साथ ब्राह्मण-शैली की एक प्रमुख विशिष्टता यह भी है कि ब्राह्मण प्रायशः 'एतद्, एनम्, अस्य, अस्मिन्, एभ्यः' आदि सर्वनामों का ही प्रयोग करता है, वस्तु आदि का नाम अनुल्लिखित रह जाता है। आगे 'ख' भाग में दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि पदार्थ के नाम का अध्याहार ही करना पड़ता है। यही स्थिति क्रिया के कर्ता की भी है। उसका भी निर्देश स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है।

उपर्युक्त सभी स्थितियाँ ब्राह्मण में प्रचुरता से हैं। फलतः व्याख्यान शैली दुरूह और संकेतात्मक सी प्रतीत होती है। अतः ब्राह्मण के आशय को समझने के लिए सूत्र-ग्रन्थ की आवश्यकता अपरिहार्य है। सूत्र ही एक मात्र वह माध्यम है जिसके द्वारा मन्त्र की अनुल्लिखित क्रियाओं का ज्ञान, क्रियाओं के अनुल्लिखित मन्त्रों का सम्बन्ध, विधिसम्बन्धी मन्त्र और क्रियाओं का परिचय तथा सर्वनामों में निहित उपयुक्त वस्तु और व्यक्ति का बोध हो सकता है।

यदि ब्राह्मण में मन्त्र-क्रम का सतत निर्वाह किया जाता, कितने ही मन्त्रों और उनकी क्रियाओं को अव्याख्यात न रहने दिया जाता और अनेकानेक अमन्त्रक विधियों और नये-नये मन्त्रों का समावेश न होता तो सूत्र का यह सुगम मार्गदर्शन, मन्त्रों की क्रमिकता और उनकी अर्थसंगति ब्राह्मण के इस दुरूह संकेतात्मक रूप को निराकृत करने में पर्याप्त रहती। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मण व्याख्यानपरक हैं अतः इनमें यज्ञ की क्रमिकता की अपेक्षा यथासम्भव व्याख्यान-सौकर्य और विषय की एकरूपता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

यथा—मन्त्र-क्रम के अनुसार[3] हिरण्ययुक्त आज्य की आहुति देकर सोमक्रयणी गाय की स्तुति करके, उसके साथ सात पग चलकर, सातवें पग की धूलि पर आहुति देकर उस घृतयुक्त पदरज को समेटकर गार्हपत्य के पास रखकर सोम खरीदने के लिए जाते हैं। किन्तु ब्राह्मण[4] हिरण्ययुक्त आज्याहुति से पूर्व ही सोम-क्रयण के मन्त्रों को

---

१ मै. सं. १।७।२

२ ,, ३।२।७-१०, ३।३।१-३ (इष्टकाप्रकरण), मै. सं. ४।६-७ (ग्रहप्रकरण)

३ ,, १।२।४,५, मा. श्रौ. सू. २।१।२।२२-२४

४ ,, ३।७।४.

व्याख्यात कर देता है। पर सोमक्रयण का आधा व्याख्यान पदरज को गार्हपत्य के पास रखने के बाद[1] भी दिया गया है।

२. इसी प्रकरण में एक अन्य विपर्यय यह भी है कि सोमक्रयणी गाय के सप्तम पदचिन्ह को छूने का मन्त्रांश पहले है, और उसमें आहुति देने का मन्त्रांश बाद[2] में। किन्तु ब्राह्मण[3] आहुति का निर्देश देकर अभिमर्शन-मन्त्र को उद्धृत करता है, और फिर पुनः आहुति-मन्त्र का व्याख्यान करने लगता है।

३. अग्न्याधान के प्रकरण में एक मन्त्र अपने क्रम और सूत्र के विनियोग के अनुसार[4] आहवनीयाग्नि के आधान में विनियुक्त है। पर ब्राह्मण[5] उसे पूर्णाहुति के बाद व्याख्यात करता है।

४. मन्त्र-क्रम की दृष्टि[6] से और सामान्य-प्रक्रिया के अनुसार भी सामिधाधान के बाद पूर्णाहुति दी जाती है, पर ब्राह्मण[7] पूर्णाहुति का उल्लेख पहले करता है।

५. अग्निचितियाग में ब्राह्मण[8] क्लृप्ति इष्टकाओं के बाद वृष्टिसनी इष्टकाओं का व्याख्यान करता है, किन्तु मन्त्रभाग में इन दोनों के मध्य कृतव्येष्टकाधान के मन्त्र हैं।[9] इन कृतव्य इष्टकाओं को ब्राह्मण[10] ने स्वयमातृण्णा इष्टका के बाद छन्दोचिति इष्टकाओं का भी व्याख्यान करके उल्लिखित किया है। किन्तु इस स्थल पर संहिता में छन्दोचिति के मन्त्र नहीं हैं, और जिन संयानी, आदित्या, मण्डला आदि इष्टकाओं के मन्त्र[11] हैं, ब्राह्मण में उनका नामोल्लेख भी नहीं है।

इस तरह मन्त्र के क्रम-विपर्यय के स्थल ब्राह्मण-भाग में ३५ के लगभग है। अमन्त्रक विधियों के आगे-पीछे के विवरण इनके अतिरिक्त हैं। इससे मीमांसाशास्त्र के अनुकूल ब्राह्मण-क्रम का प्रामाण्य स्वतः गौण पड़ जाता है।

---

१ मै. सं. १।६।२।२४
२ ,, १।२।४।३०, मा. श्रौ. सू. २।१।३।३६-४०.
३ ,, ३।७।६
४ ,, १।६।२।२४, मा. श्रौ. सू. १।५।४।१३.
५ ,, १।६।७।४६
६ ,, १।६।२।२६-३०, मा. श्रौ. सू. १।५।४।१६-२०.
७ ,, १।६।७।४३
८ ,, ३।३।१
९ ,, २।८।१२
१० ,, २।३।३
११ ,, २।८।१३,१४.

किन्तु इस क्रम-विपर्यय के सम्बन्ध में ब्राह्मण की स्थिति दो प्रकार से विचारणीय भी है। पहली यह-जहाँ ब्राह्मण संहिता के मन्त्र-क्रम के विपरीत क्रम से व्याख्यान देता है, और ब्राह्मण का वही विपरीत क्रम अन्य संहिताओं के मन्त्र-क्रम अथवा मानव-श्रौतसूत्र के अनुकूल बैठ जाता है। और दूसरी वह जहाँ संहिता में मन्त्र न होने पर भी ब्राह्मण किसी मन्त्र का उल्लेख करते हुये अथवा किसी मन्त्र एकाध शब्द के आधार पर अपना व्याख्यान प्रस्तुत करता है, और वह मन्त्र अथवा उस शब्द वाला मन्त्र उसी क्रम से अन्य संहिताओं में उपलब्ध हो जाता है।

प्रथम स्थिति पर प्रकाश डालने वाले स्थल इस प्रकार के हैं —

१ संहिता के मन्त्र-क्रम और सूत्र के अनुसार[1] भी व्रतपान उपसद् आहुतियों के बाद किया जाता है। किन्तु ब्राह्मण[2] में यह इनके पूर्व ही है, और ब्राह्मण का यह क्रम काठक संहिता[3] के मन्त्र-क्रम के अनुकूल है।

२. संहिता में अग्निमन्थन के मन्त्र आतिथ्येष्टि में है।[4] किन्तु ब्राह्मण[5] इन्हें अग्नीषोमीय पशुयाग में व्याख्यात करता है, और तैत्तिरीय-संहिता[6] में भी ये मन्त्र ब्राह्मणानुसार है।

इस प्रकार के अन्य १३ स्थलों का विवरण निम्न है —

	विधि—मन्त्र	मै स का ब्राह्मण-भाग	अनुकूल अन्य संहितायें व सूत्र
१	हविर्धानिशकट के अक्ष के लेपन और आहुति मन्त्र का क्रम	३।८।७	तै स १।२।१३ का स २।१०।५२ मा श्रौ सू २।२।२।१४-१५
२	हविर्धान वर्तनी में आहुति और अक्षध्वनिशामक मन्त्र	३।८।७।	तै स १।२।१३
३	उपरवों को प्रोक्षित करने और सदस्-निर्माण के मन्त्र	३।८।८	तै. स १।३।१-२ का म २।११ वा म

---

१ मै स १।२।७।५५-५७, मा, श्रौ सू २।१।२।४६
२ ,, ३।७।१०
३ का स २।८।४६
४ मै स १।२।७।४८-५२
५ ,, ३।९।५
६ तै सं १।३।७, ६।३।५

४.	आज्यपात्रों को माँजने और आज्यदर्शन के मन्त्र.	४।१।१२	का. सं, १।१०
५.	आधान-मन्त्र का क्रम	१।६।७।४६	का. सं. ७।१४।७६ तै. ब्रा. १।१।७।४.
६.	साकमेध की आघाराहुति	१।१०।१६	का. सं. ६।५।१६ मा.श्रौ. सू. १।७।५।३३
७.	उज्जितीमन्त्र	१।११।७	,, ७।१।२।२८
८.	पुष्करपर्ण का आधान-मंत्र	३।२।६	,, ६।१।७।१ का. सं १६।१५।१८०[1] तै. सं. ४।२।२ वा. सं. १३।२
९.	शुनासीरी पर्व	४।३।३	का. सं. १५।२
१०.	पितृयज्ञ और त्र्यम्बक हर्यवियाग का विवरण.	१।१०।१७-२०	का. सं. ६।८-७. तै. सं. १।८।५-६
११.	क्रतुकरण आहुति-मन्त्र	४।५।२	का.सं.३।६।३३[2]
१२.	अप्रतिरथ सूक्त व समिधाधान-मन्त्र	३।३।७	वा. सं.१७।३३-४५. ५०-५२.
१३.	आदित्य-ग्रह में दही-ग्रहण मन्त्र	४।६।९	तै. सं.१।४।२२ तै. सं. भा. २।५२९ मा.श्रौ.सू.२।५।१।२-३
१४.	प्रायश्चित मन्त्र	३।२।७	मा.श्रौ.सू.६।१।७।३२
१५.	छन्दोचिति इष्टकाधान-मन्त्र.	३।३।२	तै. सं. ४।४।४ वा. सं. १५।१०-४८.

मैत्रायणी संहिता में अनुपलब्ध मन्त्रों या मन्त्रांशों के ब्राह्मण में व्याख्यात होने वाले मन्त्रों का अन्य संहिताओं में उसी क्रम से मिल जाने के उदाहरण ७ हैं—

	विधि मन्त्र	ब्राह्मण	अन्य संहितायें
१.	स्वयमातृण्णाओं का व्यूहन-मन्त्र	३।२।६	का. सं. १६।१६।१६७[1] तै. सं. ४।२।९ वा. सं. १३।१८

---

१ इन संहिताओं में विधि-क्रम का साम्य है, पर मन्त्र भिन्न हैं।

२ इतना अन्तर अवश्य है कि काटक में यह आहुति जल-ग्रहण से भी पहले दी जाती है, पर ब्राह्मण में जल-ग्रहण और स्थापन के मध्य में।

३ तैत्तिरीय और वाजसनेयी में ये मन्त्र व्यूहन में नहीं, आधान में ही विनियुक्त हैं। (तै. सं. भा. ६।२८०८-९, श. ७।४।२।१-७).

-	पुष्पसिर पर आहुति-मन्त्र	३।२।८	मा श्रौ सू ६।१।७।३० वा स १३।४६
३	आप्त्यदेवता सम्बन्धी आख्यान	४।१।६	तै स १।१।८ तै ब्रा ३।२।३ का म १।८।२४, ३१।७ वा म १।२३ मा श्रौ सू १।२।४।३
४	आहवनीयोपासना-मन्त्र	४।१।१४।६२	तै स १।१।१३।१०-११
५	हिरण्य और वस्ताजिन पर उतरने का मन्त्रांश	१।११।८	मा श्रौ सू ७।१।१।३।१६ तै म १।७।७
६	जल-ग्रहण का एक मन्त्रांश	४।४।१	मा श्रौ सू ६।१।२।३६ का म १५।६।८
७	मगलनामो से बुलाने का उल्लेख	४।४।६	मा श्रौ सू १।१।४।२६ तै म १।८।१६

उपर्युक्त इन २२ (१५+७) स्थलो को निकाल देने पर ब्राह्मण मे आये से भी कम सिर्फ तिहाई (१०-११) स्थलों पर ही मन्त्रो या विधियो का विपर्यय रह जाता है। इससे क्या यह सम्भावना नही की जा सकती है कि उपलब्ध ब्राह्मण सर्वांश मे इसी सहिता का होने के बदले मैत्रायणीयो की किसी ऐसी अनुपलब्ध सहिता का भी हो सकता है, जिसमे मन्त्रो का क्रम और सयोजन ब्राह्मण-क्रम के अनुसार ही रहा होगा ?

दो अन्य कारणो से इस सम्भावना को और बल मिलता है—१ सामान्यत ब्राह्मण मन्त्र-भाग मे आये मन्त्रो को पूरा-का-पूरा नही दिया करते हैं। अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यदि मन्त्र के सब अशो को लिया भी जाता है, तो वह व्याख्यान के एक अश के ही रूप मे होता है, पृथक् मन्त्र के रूप मे नही। यथा २।७।८।६४ के सभी चरणो को देते हुये ब्राह्मण[1] निम्न प्रकार से उसका व्याख्यान करता है—'नक्तोषासा समनसा विरूपे से अहोरात्र के लिये ही अग्नि का आधान करता है। 'धापयेते शिशुमेक समीची से समान गतिशील ये अहोरात्र ही इस (अग्नि) को पोषित करते हैं।' द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति इससे यह प्रकाशरूप (अग्नि) इन (द्यावा पृथिवी) के मध्य मे ही सुशोभित होता है। 'देवा अग्नि धारयन्द्रविणोदा'—ये प्राण ही द्राविणोदा देव हैं। प्राणो से ही इस अग्नि को ऊपर उठाता है।' वस्तुत ब्राह्मण उन्ही मन्त्रो को पृथक् रूप से उद्धृत करता है, जो मूल सहिता मे नही होते हैं।

---

१ मै स ३।२।१

किन्तु ब्राह्मण में ऐसे स्थल भी मिलते हैं, संहिता के मन्त्र-भाग में आये मन्त्र को भी पृथक् रूप से पूरा-का-पूरा देकर व्याख्यात किया गया है। यथा-कपाल-मोचन क. मन्त्र[1] दर्शपूर्णमास के मन्त्रों में आया है, पर ब्राह्मण उसे पुनः देता है। यही स्थिति सोम लाते समय एक मन्त्र,[2] राजसूय में अभिषिक्त यजमान के अनुमन्त्रण-मन्त्र,[3] नेकृत इष्टकोपधान-मन्त्र,[4] आज्य-गृहण-मन्त्र,[5] अग्न्युपस्थान मन्त्र,[6] अग्न्याधान-मन्त्र[7] और आधान के वाद विपराणयनीय-आहुति-मन्त्र[8] की है। यह तथ्य-भी ब्राह्मण और संहिता के सम्बन्ध में एक विभाजक-रेखा खींचता लगता है। सम्भावना की जासकती है कि ब्राह्मण की भूल संहिता में उपर्युक्त मन्त्र मन्त्र-भाग में न रहे हों।

२. दूसरा कारण मानवश्रौत सूत्र पर आधारित है। यह एक सर्वमान्य नियम है कि सूत्र सम्बद्ध शाखीय संहिता के मन्त्रों को सिर्फ प्रथमांश से निर्दिष्ट करता है, और शाखान्तर मन्त्रों को पूरा-का-पूरा उद्धृत करता है। सूत्र[9] में शाखीय प्रकार से निर्दिष्ट कई मन्त्र इस उपलब्ध संहिता में नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मन्त्र और ब्राह्मण के अन्तर को वताने वाली सूची में प्रायशः ब्राह्मण और सूत्र का समान-क्रम भी सामने आता है, जो इनके क्रमानुसार वर्त्तमान किसी अन्य संहिता की ओर इंगित करता है। अस्तु........।

ऐसी स्थिति में ब्राह्मण के क्रम को नितान्त उपेक्षणीय मानना भी कठिन है। हाँ—यह कहा जा सकता है कि उपलब्ध संहिता के मन्त्र-क्रम के संदर्भ मे ब्राह्मण-क्रम गौण है। पर क्या सूत्र और ब्राह्मण-क्रम में सर्वत्र ब्राह्मण को प्राधान्य दिया जा सकता है? ब्राह्मण का गठन इसका अनुकूल उत्तर नहीं देता है। स्पष्टतः ऐसे स्थल हैं, जहाँ ब्राह्मण वाद में अनुष्ठित की जाने वाली क्रिया को विषय-सम्बन्ध की दृष्टि से ही पहले व्याख्यात कर देता है।

यथा—धिष्ण्याधान के प्रकरण में धिष्ण्यों की आवश्यकता वताने के साथ-

---

१ मै. सं. १।१।८।१७, ४।१।८।५३.
२ ,, १।२।६।३६, ३।७।८।१३.
३ ,, २।६।१२।३६.
४ ,, २।७।१२।१४६, ३।२।४।५.
५ ,, १।४।४।३२, १।४।६।३६.
६ ,, १।५।३।३२, १।५।१०।५२.
७ ,, १।६।२।२४, १।६।७।४६.
८ ,, १।६।२।३१, १।६।७।४४.
९ ,, मा. श्रौ. सू. १।५।३।४,५ ४।३।१६, २२, ३१, ३३, ४।२।३१-३५, ४।४।३८, १।८।३।२३.

माथ ही ब्राह्मण[1] यह भी उल्लेख करता है कि इन धिष्ण्याग्नियो मे दी जाने वाली आहुतियाँ कैसे दी जाती हैं ? निश्चय ही ब्राह्मण का यह आशय नहीं है कि आहुतिया अभी ही दी जायें। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय सहिता के इमी प्रकरण का भाष्य करते हुये मायण[2] के इस कथन से हो जाती है कि 'अब कालान्तर मे अनुष्ठेय विधियो का वर्णन करते हैं।'

यही स्थिति यूप-सम्पादन के प्रकरण मे ही स्वरू की आहुति देकर यजमान द्वारा नये मन्त्रो से यूपोपासना के व्याख्यान की है।[3] ये दोनो क्रियायें पशुयाग के उपरान्त होती हैं।[4] और पशुयाग के बाद ही स्वरु की आहुति का औचित्य है।

ऐसे स्थलो के अतिरिक्त ब्राह्मण मे स्पष्टत वे प्रकरण भी हैं, जिनमे अन्य स्थल विशेष पर अनुष्ठेय क्रियाओं का वर्णन किसी अन्य प्रकरण मे कर दिया गया है, परन्तु क्रिया के अनुष्ठान-स्थल का स्पष्ट निर्देश नहीं है। यथा—अग्न्युपस्थान—प्रकरण मे ब्राह्मण[5] यह निर्देश करता है कि अग्नीषोमीय ऋचा से पूर्व विहव्य[6] की चार ऋचायें बोले, और इन्ही से हवियो को छुये। यहाँ सूत्र[7] द्वारा यह स्पष्ट होता है कि प्रथम निर्देश आहवनीयोपस्थान-मन्त्रों की अग्नीषोमीय ऋचा से पूर्व लागू होता है, और दूसरा हवि निकालने के बाद यजमान के लिये है। इमी प्रकार यजमान ब्राह्मण[8] मे प्रवर-वरण के समय मन्त्र बोले जाने का निर्देश तो है, पर प्रवर-वरण किस समय होता है, यह स्पष्ट नही है। ऐसी स्थिति में सूत्र[9] के ही प्रकरण-निर्देश को मानना पड़ता है।

ब्राह्मण के चतुर्होतृ—प्रपाठक[10] का तो गठन ही ऐसा है कि उसमे अनेक विधियो को एक साथ रखकर उन्हें यथास्थान प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है। यथा—सामिधेनी से पूर्व दशहोतृ मन्त्र, प्रयाजो से पूर्व चतुर्होतृ, हवियो से पूर्व पच-

---

१ मै स ३।८।१०.
२ तै स भा १।३६४
३ मै स. ३।९।४
४ मा श्रौ सू १।८।६।१०,२२
५ मै स. १।५।१२
६ ऋ वे १०।१२८ की 'विहव' शब्दवाली ऋचायें।
देखिये पाचवे अध्याय
७ मा श्रौ. सू १।६।२।५, १।४।१।१७
८ मै स १।४।११
९ मा श्रौ. सू. १।४।१
१० मै स १।९
११ मै. स १।९।५.

होतृ और अनुयाजों से पूर्व सप्तहोतृ मन्त्र के जप का विधान किया गया है। सूत्र[1] इन सबका यथास्थान उल्लेख करता हुआ यह भी स्पष्ट करता है कि इनका वक्ता यजमान है। यही स्थिति इसी प्रकरण में आये सम्भार-यजुषों[2] की है, जिनसे ब्राह्मण[3] दीक्षा से पूर्व आहुति का और अग्निष्टोम से पूर्व अभिमर्शन का उल्लेख करता है, अग्निष्टोम के तत्सम्बन्धी स्थलों पर[4] इनकी चर्चा ही नहीं है किन्तु सूत्र[5] इन्हें यथास्थान ही वर्णित करता है।

इससे यही प्रतीत होता है कि यज्ञविधि के क्रम में ब्राह्मण की अपेक्षा सूत्र को प्राथमिकता देनी चाहिए। मंगत होने पर पूर्ववर्तित्व के कारण ब्राह्मणाम का प्रामाण्य भी माना जा सकता है।

किन्तु दीक्षा-संस्कारों से पूर्व सूत्र[6] सप्तहोतृ-मन्त्र के जप और तत्सम्बन्धी ग्रह की आहुति का जो निर्देश देता है, क्या उस अथवा ऐसी ही अनेकों परिवर्धित क्रियाओं को भी मान्य किया जाना चाहिए, जिनका ब्राह्मण में कहीं भी संकेत नहीं है? इस प्रश्न का सही उत्तर पाने के लिये सूत्र और संहिता के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है।

(ग) संहिता और सूत्र

उपर्युक्त दोनों प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि यज्ञ-स्वरूप के ज्ञान के लिये सूत्र अनिवार्य तत्त्व है। पर यह अवश्य विचारणीय है सूत्र की यह अनिवार्यता किस सीमा तक ग्राह्य होनी चाहिये। संहिताओं का तुलनात्मक अध्ययन बताता है कि सभी सम्प्रदायों में सभी यज्ञ-विधियां मान्य नहीं है। ह्रास और विकास के सतत साहचर्य के कारण समय के साथ कुछ विधियां छोड़ दी जाती हैं और कुछ नई चालू हो जाती हैं। तैत्तिरीय काटक, और वाजसनेयी में उपलब्ध पत्नी-संनहन,[7] और फलीकरणों—धान के छिलकों की आहुति[8] मैत्रायणी में नहीं है, और मानव श्रौत-सूत्र[9] में इनमें से प्रथम तो हैं, पर दूसरी नहीं है। इसके विपरीत मैत्रायणी का दूध

---

१ मा. श्रौ. सू. १।४।१।२०,२५, १।४।२।२।१४.
२ मै. सं. १।६।२।२
३ „ १।६।८
४ „ ३।६।१-२,३।७।६
५ मा. श्रौ. सू. २।१।१।१७, २।१।५।१५
६ „ २।१।१।१५
७ तै. सं. १।१।१०, का. सं. १।१०।३१-३२, वा. सं. १।३०
८ तै. सं. १।१।१३, तै. सं भा. १।१७४, का. सं. १।१२।५०, वा. सं. २।२०.
९ मा. श्रौ. सू. १।२।५।११-१२.

दुहने के लिये बैठने वाला मन्त्र[1] अन्यत्र कहीं नहीं है। मैत्रायणी मे उल्लिखित होतृ-मन्त्र[2] और सम्भारयजुष्[3] अन्य किसी सहिता मे नहीं है, स्वत मैत्रायणी के अग्निष्टोम-ब्राह्मण[4] मे इन मन्त्रों का प्रयोग उल्लिखित नहीं है। ऐसी स्थिति मे इन्हें दीक्षणीयेष्टि मे प्रयुक्त करने के ब्राह्मण के पृथक् निर्देश[5] को यदि परवर्ती परिवर्धन मानें, तो असगत न होगा। और तब यह स्वीकार करना भी अधिक सहज हो जायेगा कि ब्राह्मण मे अनुपलब्ध—इन मन्त्रो का विनियोगनिर्देश सूत्र का भी परवर्ती परिवर्धन हो सकता है सहिता और सूत्र मे पाई जाने वाली अन्य अनेक भिन्नताओ से मैत्रायणी और मानवो के याज्ञिक मतभेदो और परिवर्धित विधियो पर अच्छा प्रभाव पड सकता है।

सहिता और सूत्र के अन्तरो को हम निम्न वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं—

(अ) सहिता और सूत्र के मन्त्रों के प्रकरणों मे अन्तर –

सहिता मे ऐसे ६ स्थल हैं, जहाँ एक विशिष्ट प्रकरण के मन्त्र सहिता मे किसी याग मे हैं, और सूत्र मे किसी अन्य याग मे विनियुक्त हैं। यद्यपि कुछ विधियाँ दोनों को दोनो ही यागो मे ग्राह्य भी है।

१ अभिषेक-मन्त्र सहिता के वाजपेय याग[6] मे है, पर सूत्र मे इन्हे अग्निचिति याग[7] मे दिया गया है, और वाजपेय मे 'व्याख्यातम्' कहकर[8] वहाँ भी इस विधि को अनुष्ठेय माना है। किन्तु सहिता के अग्निचिति-प्रकरण में अभिषेक मन्त्र नहीं है। किंतु ब्राह्मण[9] सूत्र के क्रमानुसार ही मन्त्रोल्लेख करते हुये व्याख्यान देता है।

२ *अंशु-अदाभ्य-ग्रहो के मन्त्र सहिता के अग्निष्टोम के तृतीय-सवन मे है*,[10] पर सूत्र इन्हे सिर्फ वाजपे के प्रारम्भ मे विनियुक्त करता है।[11] यह भी उल्लेखनीय है कि सूत्र मे वाजपेय अग्निष्टोम के बाद वर्णित है। अत सूत्र को अग्निष्टोम मे इन मन्त्रो का प्रयोग पूर्णत अमान्य प्रतीत होता है।

---

१ मै. स १।१।३।६
२ मै स. १।६।१
३ ,, १।६।२.
४ ,, ३।६।१-४
५ ,, १।६।८
६ ,, १।११।४।२६
७ मा. श्रौ सू ६।२।५।३०-३१
८ ,, ७।१।३।२०
९ मै स. ३।४।३
१० ,, १।३।२६।६७-६९
११ मा श्रौ सू ७।१।१।२१-२८

३. अग्निमन्थन के मन्त्र संहिता के अग्निष्टोम की आतिथ्येष्टि में है, और सूत्र के चातुर्मास्य के वैश्वदेव-पर्व[1] में। पर सूत्र[2] आतिथ्येष्टि में और संहिता[3] वैश्वदेव में इस विधि को मान्य करती है।

४. सौमिक-वेदि-निर्माण के मन्त्र संहिता के अग्निष्टोम में और सूत्र के चातुर्मास्यान्तगत वरूणप्रघासपर्व में है।[4] पर दोनों को दोनों ही स्थल पर यह वेदि-निर्माण मान्य है।[5]

५. अवमृथ के मन्त्र संहिता के अग्निष्टोम में हैं और सूत्र के वरुण-प्रघास[6] में है। पर यह भी दोनों को दोनों यागों में मान्य हैं।[7] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सूत्र[8] इस विधि के तीन[9] मन्त्रों को सिर्फ अग्निष्टोम में ही देता है।

६. यूप-सम्पादन के मन्त्र संहिता के अग्निष्टोम में और सूत्र के पंचसंवत्सरिक पशुयाग में पढ़े गए हैं।[10] सूत्र को यह विधि अग्निष्टोम में भी मान्य हैं।[11] संहिता में पंचसंवत्सरिक प्रकरण नहीं हैं।

७. अग्नीषोमीय पशुयाग के मन्त्र भी संहिता में अग्निष्टोम में और सूत्र में पूर्ववत् पंचसंवत्सरिक में हैं।[12] पर सूत्र इस स्थल पर इस पशुयाग को स्वतन्त्र याग मानता है अग्नीषोमीय पशुयाम उसे अग्निष्टोम में मान्य है।[13]

८. अतिग्राह्य-ग्रह के मन्त्र संहिता में अग्निष्टोम में और सूत्र में षडहयाग में है।[14] संहिता के तत्सम्बन्धी ब्राह्मण में षडह का नाम तक नहीं।[15]

---

१ मै. सं. १।२।७।४८-५२, मा. श्रौ. सू. १।७।१।३६-४७.
२ मा. श्रौ. सू. २।१।५।१४.
३ मै. सं. १।१०।७.
४ मै. सं. १।२।८, मा. श्रौ. सू. १।७।३।१३-२६.
५ ,, १।१०।१३, ,, २।२।१।५२.
६ ,, १।२।३६, ,, १।७।४।३५-४७.
७ मा. श्रौ. सू. २।५।५, मै.सं.१।१०।१३.
८ ,, २।५।५।२६-३१, ३७-३८.
९ मै. सं. १।२।३६।११८-१२०.
१० ,, १।२।१४, मा. श्रौ. सू. १।८।१-२.
११ मा. श्रौ. सू. २।२।१।५१.
१२ मै. सं. १।२।१५-१८, मा. श्रौ. सू. १।८।३-६.
१३ मा. श्रौ. सू. २।२।५।१-११.
१४ मै. सं. १।३।३१-३३, मा. श्रौ. सू. ७।२।२।१६-२६.
१५ ,, ४।७।३.

१ संहिता में जो मन्त्र अग्निष्टोम के माध्यंदिन-सवन में माहेन्द्र-ग्रह के हैं, वे सूत्र में द्वादशाह के माहेन्द्र-ग्रह में विनियुक्त हैं।[1] संहिता के ब्राह्मण में द्वादशाह नाम भी नहीं है।[2]

(आ) संहिता के मन्त्र-क्रम और सूत्र के विनियोग-क्रम में अन्तर—

एक ही याग के मन्त्रों को भी सूत्र संहिता के क्रम को छोड़कर आगे-पीछे करके विनियुक्त कर लेता है। इस प्रकार का संहिता के मन्त्रों का क्रम परिवर्तन सूत्र में ५० से अधिक स्थलों पर मिलता है। मुख्य यागों में केवल राजसूय ही ऐसा रह जाता है, जिसमें यह क्रम-भिन्नता नहीं है। प्रवर्ग्य अग्निचिति और अग्निष्टोम में इन क्रम-परिवर्तनों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें कुछ उदाहरण निम्न हैं —

१ संहिता के दर्शपूर्णमास में 'वमूना, पदिनमसि तथा द्यौरसि " मन्त्रों के बाद "पोषाय त्वा अदित्यादास्नासि मन्त्र आते हैं। किन्तु सूत्र "पोषाय त्वा ' को पहले विनियुक्त कर ' वमूना ' " आदि मन्त्रों को बाद में विनियुक्त करता है।

२ संहिता के अग्निष्टोम के एक मन्त्र १।२।३।२८ को सूत्र[3] इस मन्त्र से पूर्व अर्थात् २२वें मन्त्र के बाद निर्दिष्ट करता है।

३ संहिता में दक्षिणाहोम के मन्त्र[4] तृतीय-सवन से अंशु-अदाभ्य ग्रह-मन्त्रों के बाद हैं। किन्तु सूत्र[5] इन मन्त्रों को माध्यंदिन-सवन के माहेन्द्र-ग्रहों के मध्य में—अर्थात् ३५-३६ मन्त्रों से पूर्व ही विनियुक्त करता है।

प्रत्येक याग की मुख्य यज्ञविधि में इस क्रम विपर्यय की कुल संख्या इस प्रकार है—

दर्शपूर्णमास में २, अग्निष्टोम में १२, अग्निचिति में १३, प्रवर्ग्य में १२, अश्वमेध में ३, सौत्रामणी में २, चातुर्मास्यों में ३, वाजपेय में ३ और यजमान-ब्राह्मण में अधिकांश मन्त्रों में।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अन्तर इस सम्भावना को और भी पुष्ट करते हैं कि उपलब्ध संहिता के अतिरिक्त अन्य भी कोई संहिता रही होगी, जिसका मन्त्र-गठन

---

१ मै स १।३।२४।६५-६६, मा. श्रौ सू ७।२।४।७

२ ,, ४।६।७-८

३ ,, १।२।३।७-८, १०

४ मा श्री सू १।२।३।१७-२०

५ ,, सू २।१।२।२७

६ मै स १।३।३७।१००-१०६

७ मा श्रौ. सू २।४।५

इससे भिन्न होगा। वस्तुतः ऐसी दो संहिताओं की सम्भावना की जा सकती है, एक ब्राह्मण-क्रमानुसारी और दूसरी सूत्र-क्रमानुसारी।

(इ) संहिता-सूत्र की यज्ञ-विधि में भिन्नता

उपर्युक्त मन्त्र-गठन की भिन्नता से यज्ञ विधि के पौर्वापर्य में अन्तर पड़ना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु इन अन्तरों के अतिरिक्त भी ब्राह्मण-व्याख्यान में ऐसे कुछ स्थल मिले हैं, जहां मन्त्र-क्रम भिन्न न होते हुये भी विनियोग-प्रक्रिया भिन्न हो गई प्रतीत होती है।

यथा—सूत्र के निर्देशानुसार[1] मन्त्र १।५।२।२२ ये बछड़े को छुआ जाता है। किन्तु ब्राह्मण इस मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुये सर्वत्र "एताः" का प्रयोग करता है।[2] तैत्तिरीय और काठक में भी यही प्रयोग है।[3] सायण[4] भी मन्त्र को गायपरक ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण स्पष्टतः कहता है "इति स्व एवैनाः योनौ स्व गोष्ठे संवेशयति" इस तरह सूत्र द्वारा वत्सालमन में विनियुक्त मन्त्र ब्राह्मण की दृष्टि में गायों के गोष्ठ-प्रवेश में प्रयुक्त है।

अग्निष्टोम के मन्त्रांश "विष्णोः शर्मासि……"[5] से सूत्र[6] यजमान के कृष्णा-जिन पर चढ़ने का विधान उल्लेख करता है। पर ब्राह्मण[7] इससे यजमान को वस्त्र से आच्छादित करने का विधान करता है—"इससे (यजमान को) वस्त्र से ढंकता है।"

राजसूय के एक मन्त्र २।६।११।३० को सूत्र[8] अभिषिक्त यजमान को अनु-मन्त्रित करने में विनियुक्त करता है। पर ब्राह्मण[9] "इति समुन्मार्ष्टि" द्वारा समुन्मा-र्जन में विनियुक्त कर क्रिया की स्पष्ट भिन्नता को व्यक्त करता है।

इसके अतिरिक्त कुछ मन्त्रों की क्रिया का अन्तर प्रकरण, क्रम तथा अन्य संहिताओं के विनियोग के आधार पर भी स्पष्ट होता है।

यथा—एक मन्त्र "नाना हि वाम्……" संहिता में दो स्थानों पर—पहले

---

१ मा. श्रौ. सू. १।६।२।८
२ मै. सं. १।५।६
३ तै. सं. १।५।८, का. सं. ७।७
४ तै. सं. भा. २।६४६
५ मै. सं. १।२।२।१४
६ मा. श्रौ. सू. २।१।२।५
७ मै. सं. ३।६।६
८ मा. श्रौ. सू. ६।१।३।२४
९ मै. सं. ४।४।५

ऐष्टिक सौत्रामणी मे, फिर स्वतन्त्र सौत्रामणीयाग मे आता है।[1] सूत्र[2] इसे ग्रह-भक्षण मे विनियुक्त करता है। पर यह विनियोग स्वतन्त्र याग मे उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यहाँ इस मन्त्र का क्रम पूर्वक्रम से भिन्न है। यहाँ यह पयोग्रह ग्रहण-मन्त्र के बाद आता है, अत. इसे यज्ञविधि के क्रमानुसार सुराग्रह-ग्रहण में विनियुक्त मानना उचित होगा। शतपथ ब्राह्मण[3] मे और सायण द्वारा उद्धृत कल्प-सूत्र[4] में इस मन्त्र के सुरा-ग्रहण मे विनियुक्त होने से कारण तथा संहिता मे सुरा-ग्रहण का अन्य कोई मन्त्र न होने के कारण उपर्युक्त सुराग्रह-ग्रहण का ही विनियोग युक्ति सगत प्रतीत होता है।

इसी तरह सौत्रामणी के दोनो ही प्रकरणों मे आये एक अन्य मन्त्र[5] को सूत्र[6] सिर्फ ऐष्टिक सौत्रामणी मे ही पयोग्रहभक्षण मे विनियुक्त करता है, दूसरे प्रकरण मे कोई उल्लेख नही करता है। सूत्र का यह विनियोग स्वतन्त्र सौत्रामणी मे इसलिए उचित प्रतीत नही होता है, क्योंकि सूत्र[7] यहाँ इस क्रिया के लिये संहिता के अन्य मन्त्र[8] को निर्दिष्ट करता है। अत वाजसनेयी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण[9] का मन्त्र-क्रम मैत्रायणी के अनुकूल होने के कारण शतपथ के अनुसार[10] इस मन्त्र को सारस्वत ग्रह-भक्षण मे विनियुक्त मानना उचित लगता है।

यही स्थिति अश्वमेध के दो मन्त्रों[11] की है जो सूत्र[12] मे उल्लिखित नही है। पर इन्हें परिवृक्ति द्वारा अश्वाङ्गों पर लोहे की सुईयो से रेखायें खींचने मे विनियुक्त माना जाना चाहिये। क्योंकि स्वत सूत्र[13] मे अश्व के अन्य सब अलकरणों मे महिषी और वावाता के साथ परिवृक्ति के भी सम्मिलित होने का निर्देश है, और

१ मै स २।३।८।४३, ३।११।७।४५
२ मा श्रौ सू ५।२।४।२९, ५।२।११।२३
३ श १२।७।३।१४
४ तै ब्रा भा. २।६०५, देखिये विस्तार के लिये षष्ठम् अध्याय।
५ मै स २।३।८।४२, ३।११।७।६०
६ मा श्रौ सू ५।२।४।२९
७ ,, ५।२।११।२३
८ मै स ३।११।७।५९
९ वा स १९।३५, तै. २।६।३
१० श १२।८।१।५
११ मै स ३।१२।२१।३७-३८
१२ मा श्रौ सू ९।२।४
१३ ,, ९।२।३।२३-२५

तैत्तिरीय संहिता, शतपथ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार परिवृक्ति के इस कार्य की प्रायः इन्हीं मन्त्रों द्वारा किये जाने की पुष्टि होती हैं ।[1]

यद्यपि ऐसे प्रसंग और अधिक नहीं है, किन्तु इनसे ही संहिता और सूत्र की शाखा-भिन्नता सुस्पष्ट अवश्य हो जाती है ।

(ई) सूत्र में अन्य संहिताओं के मन्त्र तथा अन्य परिवर्धित क्रियायें

सूत्र में अनेकों ऐसे मन्त्र विनियुक्त हैं, जो मैत्रायणी संहिता के न होकर काठक, तैत्तिरीय और वाजसनेयी संहिताओं के हैं । सिर्फ दर्शपूर्णमास में ही ऐसे मन्त्रों की संख्या २० के लगभग है ।

यथा—मैत्रायणी में पत्नी-संनहन का कहीं उल्लेख नहीं है । पर सूत्र[2] काठक और तैत्तिरीय[3] के मन्त्रों को उद्धृत करके इसका निर्देश देता है । उपवेश-ग्रहण के लिये[4] सूत्र जिस मन्त्र को उद्धृत करता है, वह तैत्तिरीय और वाजसनेयी का है ।[5] मैत्रायणी के ब्राह्मण[6] में वेद से वेदि को साफ करने का अमन्त्रक उल्लेख है । पर सूत्र[7] काठक के मन्त्रों[8] को उद्धृत करके वेद-ग्रहण का भी और उससे वेदि-सम्मार्जन का भी समन्त्रक उल्लेख करता है ।

इसके अतिरिक्त ऐसे मन्त्र भी सूत्र में कम नहीं हैं, जो उपलब्ध किसी भी संहिता के नहीं हैं । अतः प्रणयन के बाद चमस को भरने[9], पिष्ट हवि के उत्पवन,[10] हवि-पिण्ड के देवतानुसार विभजन[11] और भस्म को हटाने[12] आदि अनेकों क्रियायें और मन्त्र सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी संहिता में नहीं मिलते हैं ।

इन सब परिवर्धित मन्त्रों आदि का परिगणन सहज नहीं है, क्योंकि इनकी संख्या बहुत अधिक है ।

---

१ तै. सं अं. अ. २।४।६ में टिप्पणी १, श. १३।२।१०, तै. ३।६।६
२ मा. श्रौ. सू. १।२।५।११-१२
३ का. सं. १।१०।३१-३२, तै. सं. १।१।१०
४ मा. श्रौ. सू. १।२।२।३४
५ तै. सं. १।१।७, वा. सं. १।१७
६ मै. सं. ४।१।१३
७ मा. श्रौ. सू. १।२।४।४-५
८ का. सं. ३१।१४।३६-४३
९ मा. श्रौ सू. १।२।१।११
१० ,, १।२।३।१२
११ ,, १।२।३।१७
१२ ,, १।२।३।१६

इतना ही नही, जैसा कि पिछले प्रकरण मे कहा जा चुका है कि सूत्र मे ऐसे भी मन्त्र है, जो शाखीय प्रकार से सकेतित होने हुये भी मैत्रायणी के नही हैं।

इन सब परिवर्धनो के कारण सहिता और सूत्र के अन्तर की खाई और चौड़ी हो जाती है।

(उ) सहिता के मन्त्रो और क्रियाओं का सूत्र में अभाव

उपर्युक्त स्थिति के विपरीत बहुधा ऐसा भी मिलता है कि मैत्रायणी के मन्त्र सूत्र मे अप्रयुक्त रह जाते हैं और इसके ब्राह्मण मे उल्लिखित कई अमन्त्रक क्रियायें अनिर्दिष्ट रह जाती है।

सूत्र मे *अनुलिखित सहिता के मन्त्र सम्भवत* २५-३० से *अधिक नही* है। पर सूत्र मे अनिर्दिष्ट ब्राह्मण-भाग के अनेको नये मन्त्रो का अनुपात अधिक है। दर्शपूर्णमास के पुरोडाश-ब्राह्मण मे आये मन्त्रो मे से अधिक मन्त्र सूत्र मे नही है। इनमे सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रसग आज्यपात्रो के सयोजक-मन्त्रो का है,[1] जिनका सूत्र के *आज्य-प्रकरण मे*[2] कोई सकेत नही है। इसी प्रकार *आज्य को स्फ्य-रेखा पर* और ओदनपचनाग्नि पर रखने के ब्राह्मण के निर्देश[3] भी सूत्र मे अनिर्दिष्ट है।[4] ब्राह्मण[5] उत्तरवेदि की नाभि की परिधि-सन्धियो पर ३ समन्त्रक आहुतियो का उल्लेख करता है, पर सूत्र[6] इस विषय मे चुप हैं। सूत्र मे ब्राह्मण के ऐसे अनुलिखित निर्देश कई है।

इस परिवर्तन-परिवर्धन के विस्तृत विवेचन मे मैत्रायण-सम्प्रदाय की मूल यज्ञविधि और मानवो की विकसित यज्ञ प्रक्रिया के नानाविध अन्तरो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। और यह मानने की सम्भावनायें बढ जाती है कि सम्भवत सहिता *को कोई भिन्न सूत्र-ग्रन्थ रहा हो,* और मानवश्रौतसूत्र की कोई पृथक् सहिता।

उपर्युक्त मतभेदो की पृष्ठभूमि मे और इस सम्भावना के प्रकाश मे उन स्थानो पर भी सूत्र की प्रत्येक क्रिया को सहिता के अनुकूल मानने मे सकोच होता है, जिनके विषय मे सहिता मे सामान्य निर्देश भर हैं, अनुष्ठेय क्रियाओं का विस्तृत विवरण नही। यथा—अग्निष्टोम की आतिथ्येष्टि मे प्रयुक्त हवि निकालने और

---

१ मै. स. ४।१।११
२ मा श्रौ सू १।२।५
३ मै स. ४।१।१२
४ मा. श्रौ सू १।२।५
५ मै स ३।८।६
६ मा श्रौ सू १।७।३, २।२।१
७ मै स १।२।६।४६-४७, १।२।७।४८-५२

अग्निमन्थन के मन्त्र संहिता में हैं, और ब्राह्मण[1] इसका प्रयोजनमात्र वर्णित करके इसे इडान्त तक चलने का भी उल्लेख करता है। इस इष्टि में उपभृत् के आज्य को वापिस जुहू में न उंड़ेलने और हवि के यजमान भाग को न निकालने के निषेधक निर्देश भी सूत्र में हैं।[2] इसी प्रकार संहिता में उपसद् की मुख्य तीन आहुतियों के मन्त्र हैं,[3] और ब्राह्मण[4] उपसद्-विधि के तीन मुख्य देवता—अग्नि, सोम और विष्णु के महत्त्व को स्पष्ट करता हुआ तीन दिन तक इसके अनुष्ठान का भी उल्लेख करता है। किन्तु इस विधि में आतिथ्येष्टि की ही बर्हि और प्रस्तर का प्रयोग हो, परिधियाँ १⅓ गज लम्बी हों, इत्यादि अनेकों निर्देश सूत्र में वर्णित हैं,[5] पर ब्राह्मण में नहीं। यद्यपि सूत्र में निर्दिष्ट होतृवरण का उल्लेख ब्राह्मण भी करता है। किन्तु इसके विपरीत ब्राह्मण में सायंकाल के अनुवाक्यों के प्रातः याज्या और प्रात काल के अनुवाक्यों के सायं याज्या करने का जो निर्देश है, उसका सूत्र में सर्वथा अभाव है।

ब्राह्मण में सामान्य से विधि निषेधों के प्रयोजन-व्याख्यान की जो सहज प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, उसके आधार पर तो सूत्र के सब निर्देशों को संहिता के अनुकूल मानना कठिन है। पर दूसरी ओर परम्परा से सर्वज्ञात और सुनिश्चित विधि को ब्राह्मण अनुल्लिखित ही छोड़ देता है, ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं। यथा—यजमान ब्राह्मण में वर्णित "कस्मादन्येषां हविषां याज्यानुवाक्याः सन्ति, कस्माद् इध्यस्य नेति' से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक हवि के याज्यानुवाक्या होते ही हैं। संहिता के पाँच प्रपाठकों[7] में इन मन्त्रों का संकलन भी है। पर ब्राह्मण[8] दर्शपूर्णमास, दीक्षणीयेष्टि, आतिथ्येष्टि आदि में इनका नामोल्लेख भी नहीं करता है। प्रायणीयेष्टि[9] और उपसद्[10] में भी इनका उल्लेख परिवर्तित प्रयोग की ही सूचना देने के लिये हुआ है। इसी प्रकार प्रैष के मन्त्रों का भी ब्राह्मण में सिर्फ दो स्थानों पर उल्लेख है।[11]

---

१ मै. सं. ३।७।६

२ मा. श्रौ. सू. २।१।५।१८-२०

३ मै. सं. १।२।७।५६-५७

४ ,, ३।८।१-२

५ मा. श्रौ. सू. २।२।१।१५-३२

६ मै. सं. १।४।११

७ ,, ४।१०-१४

८ ,, ४।१, ३।६।१-४, ३।७।६

९ ,, ३।७।१-२

१० ,, ३।८।१-२

११ 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' (मै. सं. १।४।११)।
'देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहि' (मै. सं. ४।५।३)।

इन दो भिन्न स्थितियों में स्पष्ट रूप से यह निर्धारित करना असम्भवप्राय है कि कौन-सी विधि ब्राह्मण में सर्वज्ञात रहने के कारण अनुल्लिखित है, और कौन-सी मत वैभिन्न्य के कारण छोड़ दी गई है, अथवा अज्ञात होने के कारण रह गई है।

उपसंहार

इस विशद विवेचन से मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र की पारस्परिक अनिवार्यता—असम्बद्धता की विरोधी सीमा-रेखायें पर्याप्त स्पष्ट हो जाती हैं। इन्हीं रेखाओं को लेकर संहिता के यज्ञों के चित्र को पूर्णता देने का यहाँ जो प्रयास किया गया है, उसके निर्देशक—बिन्दु ये स्वीकार किये गये हैं —

१ सर्व प्रमुख प्राथमिकता मन्त्र-क्रम को दी गई है।
(सौत्रामणी, अश्वमेध और अग्निचिति के प्रयाजन्याज्या आदि कुछ मन्त्रों को छोड़कर)

२ यदि ब्राह्मण-क्रम से यज्ञविधि में अस्वाभाविक उलट-फेर न हो जाये, तो इसे ही मान्य किया है, और वहाँ ब्राह्मण का प्रकरणांक निर्दिष्ट किया है। अन्यथा ब्राह्मण और सूत्र में क्रमिक प्राथमिकता सूत्र को दी गई है।

३ यज्ञविधि के लिये ब्राह्मण में वर्णित विनियोगों, निर्देशों और वर्णनों को ही मुख्यता से गृहीत किया है, चाहे वे प्रकरणान्तर में ही उल्लिखित हों।

४ मानवश्रौतसूत्र द्वारा निर्दिष्ट उन क्रियाओं को भी स्वीकार किया गया है जो संहिता के यथाक्रम मन्त्रों के साथ विनियुक्त हैं, यद्यपि उन क्रियाओं का कोई उल्लेख संहिता के ब्राह्मण-भाग में नहीं है।

५ इसके अतिरिक्त यज्ञ की क्रमिक-कड़ी को जोड़ने के लिये सूत्र के अमन्त्रक निर्देशों को भी स्वीकारा है, और वहीं सूत्र की संख्या दी है।

६. सूत्र और ब्राह्मण के अस्पष्ट होने पर अन्य ग्रन्थों का-मुख्यतः तैत्तिरीय, काठक और वाजसनेयी संहिताओं और शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण का आश्रय भी लिया है, और उनके सम्बद्ध स्थलों को अंकित किया है।

चतुर्थ अध्याय

यज्ञों के प्रयोजन

यज्ञ की सामान्य महत्ता को व्यक्त करते हुये पहले वर्णित किया जा चुका है[1] कि वैदिक यज्ञों द्वारा सृष्टि की उत्पादक शक्तियों और प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में ब्राह्मण-भागों के विविध व्याख्यानों के आधार पर एक-एक यज्ञ के प्रयोजन को वर्णित किया जा रहा है:—

अग्न्याधान

इस आधान यज्ञ द्वारा क्रमशः गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि को स्थापित किया जाता है। इन्हीं तीनों अग्नियों में यथासमय यजमान के सभी यज्ञीय कार्य—श्रौत, स्मार्त और गृह्य यज्ञ—अनुष्ठित किये जाते हैं। इन अग्नियों का आधान करने वाले—आहिताग्नि व्यक्ति को ही अन्य यज्ञ करने का अधिकार है, और प्रत्येक द्विजाति को इस अग्न्याधान का अधिकार है। आहिताग्नि यजमान देवों का सामीप्य पा लेता है।[2]

मैत्रायणी संहिता में इस अग्न्याधान के सम्बन्ध में एक आख्यान है जिसमें प्रजापति द्वारा प्रलयंकालीन जलों को सुखाने के लिये सर्वप्रथम अग्नि को उत्पन्न करने का वर्णन है।[3] शतपथ ब्राह्मण[4] मे इन उपर्युक्त तीनों अग्नियों को प्राण, अपान और व्यान कहा गया है। इन अग्नियों का मन्थन करके देवों ने अपने में प्राणों को ही जीवित और स्थापित किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] में इन अग्नियों को तीनों लोकों का प्रतीक माना गया है। इन तीनों अग्नियों का पृथक्-पृथक् आधान करना तीनों लोकों का व्यवस्थित विभाजन करने के समान है।

---

१ देखिये द्वितीय अध्याय का पृष्ठ १७.
२ श. २।६।१।३७.
३ मै. सं. १।६।३.
४ श. २।२।२।१५-१८.
५ तै. १।१।८.

पुनराधान

पुनराधान पूर्णत अग्नि का भाग है। जिस समृद्धि के लिये पहले अग्न्याधान किया गया है, यदि वह प्राप्त नहीं होती है, क्षीणता बढ़ती है, तो उसी समृद्धि प्राप्ति के लिये फिर से अग्नि का आधान करना चाहिये।[1] इस सम्बन्ध मे यह आख्यान भी सर्वत्र मिलता है कि देवो ने असुरो से युद्ध करने समय पूर्वस्थापित अग्नि को सुरक्षित रखने के लिये उसे फिर से अग्नि मे ही स्थित कर दिया था, यही अग्नि का पुनराधेय है।[2] इसी तथ्य के आधार पर सायण पुनराधान की नाम-सार्थकता व्यक्त करते हुये कहते हैं कि 'प्रथमाहितस्याग्ने विधानान्तरेण पुनस्तेष्वायतनेषु स्थापन पुनराधेयम्।'[3] पशु, पुष्टि और प्रजा के इच्छुक भी इसका आधान करते है।[4] अग्नि का पुनराधान करने वाला इहलोक और परलोक दोनो मे वृद्धि को प्राप्त कर लेता है,[5] और कभी कष्ट मे नहीं पड़ता है।[6]

अग्न्युपस्थान

काठक सहिता[7] मे इस उपस्थान को अपने श्रेयस् के लिये अग्नि को स्थापित कर उसे नमन का एक प्रकार कहा गया है। अग्निहोत्र मे इस उपस्थानरूप स्तोम को सयुक्त करके स्वर्ग को प्राप्त कर लिया जाता है।[8] इससे मृत्यु से भी त्राण पाया जाता है।[9] शतपथ ब्राह्मण[10] मे इसका प्रयोजन पशु-प्राप्ति, यजमान की प्रार्थना की फल-सिद्धि, अपने को अग्नि का पोष्य बनाना और अग्निहोत्र रूप गर्भाशय मे उपस्थान रूप रेतस् का आधान करके प्रजनन-क्षमता प्राप्त करना वर्णित है। सायण[11] ने उपस्थान को धनिक के प्रति दरिद्र के भेंट लेकर जाने के समान कहा है। यजमान समृद्धिशाली अग्नि को यह स्तुति-उपहार देकर उससे प्रजा, पशु आदि की प्रार्थना करता है। यही यजमान का योग, दम और याचना है।[12]

---

१ मै स १।७।२।, का. स ८।१५
२ ,, ,, ,, ,, श २।२।३।१।२, तै स १।५।२
३ श ब्रा भा २।४६.
४ मै स १।७।२, का सं ८।१५.
५ ,, १।७।५.
६ तै स. १।५।२.
७ का, स ७।४
८ मै. स १।५।५, तै स १।५।७, का स. ७।४
९ मै स. १।५।८, श २।३।२।७-९, श ब्रा. भा २।८४.
१० श २।३।४।२, ५,७-९
११ तै. स. भा. २।६५२.
१२ का. सं. ७।४.

अग्निहोत्र

मैत्रायणी संहिता में अग्निहोत्र को प्रजाओं की सृष्टि[1] कहा गया है, अर्थात् इससे प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। प्रजापति ने अग्नि में दी गई १३ आहुतियों द्वारा क्रमशः सात ग्राम्य पशुओं और छह ऋतुओं को उत्पन्न किया था,[2] उसी अग्नि को उसका भागधेय देकर प्रसन्न करने के लिये ही यह होम किया जाता है।[3] इस होम के अनुष्ठान से समृद्धि की प्राप्ति भी होती है।[4] शतपथ ब्राह्मण[5] के अनुसार इस का अनुष्ठाता प्रजा को उत्पन्न करता है, विजयी बनता है, और लोकों को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्री को मृत्यु के बाद भी अग्नि-नष्ट नहीं करता है, अपितु माता-पिता के समान इसको नया जन्म देता हैं।[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार होम द्वारा ही अंगिरसों[7] ने ओषधियों को और प्रजापति[8] ने अग्नि, वायु तथा आदित्य को उत्पन्न किया था। इन तीनों देवों ने क्रमशः प्राण, शरीर और आंखों के लिये आहुति देकर एक गाय को जन्म दिया। यही गाय अग्निहोत्र है। इसका ज्ञाता प्राण और अपान से अग्नि को प्रदीप्त करता है, और प्राणापान से कभी वियुक्त नहीं होता है।

दर्शपूर्णमास

दर्शपूर्णमास का समग्र प्रयोजन केवल शतपथ ब्राह्मण में ही वर्णित है। इसमे कहा गया है कि अमावस और पूर्णिमा के ये दो अर्धमास प्रजापति के पुत्रों— देवों और असुरों के दाय थे। चन्द्र को पूर्ण करने वाला पक्ष देवों को मिला, और क्षीण करने वाला असुरों को। असुरों के भी भाग को प्राप्त करने की इच्छा से देवों ने इस पर्वद्वय पर यागों का अनुष्ठान कर उसे प्राप्त किया था। अतः इसका अनुष्ठाता शत्रु की समस्त सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।[9] एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि पूर्णमास की हवि वृत्र-चन्द्रमा को मारने से सम्बन्धित है, और अमावस की हवि तो साक्षात् वृत्रहत्या ही है। अतः पक्षद्वय के इस याग का फल शत्रुनाश भी है।[10] अन्यत्र

---

१ मै. सं १।८।४.
२ ,, १।८।१-२, का. सं. ६।२, तै. २।१।२।४
३ मै.सं. १।८।१.
४ मै. सं.१।८।७, का. सं ६।६, तै. २।१।६.
५ श. २।२।४।१८.
६ ,, २।२।४।७-८.
७ तै. २।१।१.
८ ,, २।१।६.
९ श. १।७।२।२२-२४.
१० श. १।६।४।१२,१३, ११।१।२।५-६.

उल्लेख है कि इन दोनों पर्वयागों का अनुष्ठाता शीघ्र ही पापक्षय करके प्रजा को प्राप्त करता है।[1]

शतपथ ब्राह्मण में इस याग के आधिदैविक सम्बन्ध का वर्णन करते हुये पूर्णिमा और अमावस को क्रमश सूर्य-चन्द्रमा, पृथिवी द्युलोक तथा दिन-रात कहा गया है।[2] इस याग के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुये शतपथकार पूर्णिमा और अमावस को क्रमश अन्नप्रद उदान और अन्नाद प्राण कहता है, इससे यह याग भी अन्न का दाता और अन्नभोक्ता बनाता है।[3] यह पूर्णचन्द्र ही मन और अमावस ही वाणी है। अतः इन याग-सम्बन्धी व्रतों के पालन और यज्ञानुष्ठान से यजमान आत्मा मे अवस्थित मन-वाणी को ही तृप्त करता है।[4] इसके अतिरिक्त दर्शयाग को यज्ञ का और स्वर्ग का प्रवेश-द्वार भी कहा गया है।[5]

मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काटक सहिताओ मे इतना विशद और स्पष्ट विवेचन नहीं है। इनमे तो याग की नानाविध प्रक्रियाओं को व्याख्यात करते हुये उनके विविध प्रयोजन ही वर्णित है। यथा—पलाश की पत्तों वाली शाखा मे पशुओ की प्राप्ति होती है।[6] काठक सहिता और शतपथ ब्राह्मण मे पर्णशाखा का प्रयोजन सोमप्राप्ति है।[7] बर्हि प्रजा है, अत बर्हि को बाधने की क्रिया प्रजा के प्रवाह को को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये है।[8] दुग्ध-हवि के लिये दुही जाती तीन गायें तीनों लोको की प्रतीक है।[9] पुरोडाश को बनाने की तुलना सिर की रचना से की गई है।[10] इत्यादि। प्राय प्रत्येक क्रिया का अलग-अलग प्रयोजन वर्णित है। इस विविधता मे यज्ञ का एक आधारभूत मूल प्रयोजन ढूंढ पाना दुष्कर है। और जैसा इन उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि अनेक विधियो के व्याख्यानो मे भिन्नता भी है।

---

१ श ११।१।२।७
२ ,, ११।२।४।१-४ (तै ब्रा (३।२।३) मे अमावस को दिन-सम्बन्धी और चन्द्रमा को अन्न कहा गया है।)
३ ,, ११।२।४।५-६
४ ,, ११।२।४।७
५ ,, ११।१।१।१-२
६ मै. स. ४।१।१, तै ३।२।१
७ का. स ३०।१०, श ११।७।१।१
८ मै. सं ४।१।२, का स ३१।१, तै ३।२।२
(बर्हि लाने का प्रकरण शतपथ मे है ही नहीं)
९ मै सं ४।१।३, का स. ३१।२, तै ३।२।३, श १।७।१।१७
१० ,, ४।१।६, ,, ३१।७, ,, ३।२।७, श १।२।१।२

अतः निश्चयात्मक रूप से यह कहना कठिन है कि शतपथ का उपर्युक्त विवेचन मैत्रायणीकार को भी ज्ञात अथवा मान्य था ही। तैत्तिरीय संहिता[1] में दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान से परम काष्ठा-परमपद-की प्राप्ति, शत्रु-जय और अन्न-प्राप्ति के विशेष प्रयोजन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णित हैं।

चातुर्मास्ययाग

चातुर्मास्ययाग वर्ष की तीन प्रमुख ऋतुओं में किये जाने वाले पर्वयागों का समूह है। इन पर्वयागों का अपना-अपना पृथक् प्रयोजन है, यद्यपि यह पृथकता भी परस्पर पूरक होने के कारण आपस में सम्बद्ध है।

प्रथम 'वैश्वदेव पर्व' के अनुष्ठान से प्रजापति ने प्रजाओं का निर्माण किया था।[2] अतः प्रजा का इच्छुक यजमान इससे प्रजा को प्राप्त करता है।[3] प्रजा और पशु के अभिलाषी के लिए वरुणप्रघास और साकमेध का यजन अनुपयोगी है। शतपथ ब्राह्मण[4] में अधिक विस्तारपूर्वक वर्णित है कि प्रजा-निर्माण के इच्छुक प्रजापति ने पहले ऐसे पक्षियों और सर्पणशील प्राणियों को बनाया, जो उत्पन्न होते ही मर जाते थे। उनके मरण का कारण अन्नाभाव को जानकर प्रजापति ने इस वैश्वदेव के अनुष्ठान से पहले दूधरूप अन्न बनाया, और फिर ऐसे स्तनपायी प्राणियों को उत्पन्न किया, जो उस दूध के आधार पर चिरजीवी बने।

किन्तु यह उत्पन्न प्रजा जब रोगी होने लगी, तो 'वरुणप्रघास' नामक दूसरे पर्वयाग के अनुष्ठान से उस प्रजा को नीरोग बनाया गया।[6] रोग का स्वरूप बताते हुये शतपथकार[7] कहता है कि "प्रजाओं के अवयव नष्ट हो गये। वे निश्चेष्ट होकर पड़ गईं। प्राण और उदान के अतिरिक्त सब देवता उन्हें छोड़कर चले गये। अतः वे मरी तो नहीं, पर मृतप्रायः अवश्य हो गईं।" रोग का कारण मैत्रायणी और काठक संहिताओं में मरुतों द्वारा हवि को भ्रष्ट कर देना बताया गया है, जिस भ्रष्ट हवि को खाकर प्रजा रुग्ण हुई।[8] शतपथ में वर्णित है कि वरुण के यवों को खा लेने से प्रजायें वरुणपाश में बंध गईं, इसीलिये इस याग का नाम वरुणप्रघास पड़ा।[9] सायण

---

१ तै. सं. १।६।६, १।७।४.

२ मै. सं. १।१०।५, का. सं. ३५।२०, तै. १।६।१.

३ श. २।५।१।२२.

४ मै. सं. १।१०।८, का. सं. ३६।३.

५ श. २।५।१।१-३.

६ मै. सं. १।१०।१०, का. सं. ३६।४, श. २।५।२।३.

७ श. २।५।२।२.

८ मै. सं. १।१०।१०, का. सं. ३६।५

९ श. २।५।२।१

वरुण को जलाधिपति मानते हुये वरुणगृहीत प्रजाओं का अर्थ 'जलोदर रोग से पीडित प्रजा' करते हैं।[1] इस पर्वयाग में अनुष्ठित 'करम्भपात्रहोम-विधि' में यजमान की पत्नी से उसके परपुरुषों से सम्बन्ध के विषय में पूछना[2] भी सन्तान के रोग का निदान करने का ही एक याज्ञिक प्रयास प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट है कि जन्मजात रुग्ण सन्तान का उपचार करना इस वरुणप्रघासपर्व का प्रयोजन है।

प्रजोत्पत्ति और रोग-निवारण के बाद प्रजापति ने वृत्र को मारने की इच्छा की।[3] जलों को रोक लेने वाला अथवा घेर लेने के कारण वृत्र आधिभौतिक जगत् का मेघ है, और आध्यात्मिक जगत् में आत्मोन्नति में बाधक-अवरोधक-प्रत्येक तत्त्व को वृत्र कहा जा सकता है। अतः पाप ही वृत्र है।[4] इस पाप-नाश के लिये ही तीसरे पर्वयाग "साकमेध" का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें सर्वप्रथम अनीकवान् अग्नि का यजन किया जाता है, क्योंकि अग्नि ही पाप का नाशक है,[5] और आत्मा अर्थात् यजमान ही अग्नि है।[6] प्राणरूपी मरुतों[7] के सहयोग से ही पाप-वृत्र का नाश सम्भव है, अतः इस पर्व में सान्तपन मरुतों का भी यजन किया जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस पर्व के द्वारा प्रजाओं की सम्यक् प्रतिष्ठा पाने का उल्लेख है।[8]

उत्पत्ति और नीरोग-स्थिति की उत्तम प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेने वाला यजनकर्त्ता अब शुनासीरीय-पर्वयाग के द्वारा पशु और अन्न आदि की प्राप्ति करता जीवन की समृद्धि का भी अधिकारी बन जाता है।[9] शतपथ के अनुसार इस पर्व के यजन से तीनों पर्वयागों की श्री अर्थात् शुन और रस अर्थात् सीर को समग्र रूप से अपने वशवर्ती बना लिया जाता है।[10]

संक्षेपतः वैश्वदेव से जीवन, वरुणप्रघास से स्वास्थ्य, साकमेध से शत्रुरहित निर्दोषता और शुनासीर से समृद्धि प्राप्त करके उत्तम जीवन जीने की शक्ति पाना वस्तुतः जीवनविकास की एक सुन्दर क्रमिक प्रक्रिया है। ऐसा परिपूर्ण जीवन प्राप्त करने के बाद अमृतस्वरूप स्वर्गलोक अर्थात् अक्षय आनन्द की प्राप्ति की कामना भी

---

१ तै स भा ३।८८०
२ देखिए अध्याय पांच
३ मै स १।१०।१४, का स ३६।८, श २।५।३।१
४ श ११।१।५।७, १३।४।१।१३, ६।४।२।३
५ श ७।३।२।१६, २।३।३।१३, कौ ८।४, १०।३
६ श १४।३।२।५, कौ १७।७, गो ५।४
७ श ६।३।१।७, ऐ ३।१६
८ तै १।६।८
९ मै स ४।३।३
१० श २।६।३।२

स्वाभाविक है, और इसी कामना की पूर्ति के लिये इन पर्वयागों में पितृयज्ञ के अनुष्ठान का भी विधान है[1]।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि चातुर्मास्ययाग द्वारा उत्पत्ति से लेकर अमृतत्व-प्राप्ति की जीवन पद्धति का दिग्दर्शन करवाया गया है। इसीलिये कहा गया है कि चातुर्मास्यों से ही प्रजापति ने असुरों का नाश करके प्रजा की सृष्टि की थी[2]। चातुर्मास्य-याजी अक्षय सुकृत[3] और परमगति[4] को प्राप्त करता है।

इसके अतिरिक्त जैसा कहा जा चुका है कि चातुर्मास्य के पर्वयाग ऋतुओं के सन्धिकाल में अनुष्ठित किये जाते हैं। इसी से इन्हें पर्व-दो ऋतुओं के मध्य में होने वाले-कहते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि ऋतु-परिवर्तन के समय अनेकों उत्पन्न हो जाने की सम्भावनायें रहती हैं। इन पर्वयागों से उन ऋतु-सम्बन्धी रोगों का भी निराकरण किया जाता है। अतः इन्हें रोगनाशक "भैषज्ययज्ञ" भी कहा गया है[5]।

अग्निष्टोम

वस्तुतः अग्नि ही अग्निष्टोम है[6]। अग्निष्टोम का निर्वचन करते हुये स्पष्ट किया गया है कि "इससे अग्नि की स्तुति की जाती है, इसीलिये इसका नाम अग्निष्टोम है[7]। अग्नि के अर्चन से जिस-जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है, वे सभी इस अग्निष्टोम से भी साध्य हैं। इसीलिये इस अग्निष्टोम को ब्रह्म,[8] ब्रह्मवर्चस्,[9] आत्मा,[10] वीर्य[11] और प्रतिष्ठा[12] भी कहा गया है। इसके यजन से देवो ने भूलोक पर विजय प्राप्त की[13] थी। यही स्वर्ग का देने वाला है[14] है इससे समृद्धि मिलती है। सोमयागों

---

१ मै. सं. १।१०।१७. का. सं. ३६।११, तै १।६।८.
२ मै. सं. १।१०।५. का. सं. ३५।२०.
३ श. ३।६।३।१.
४ श. २।६।४।६.
५ कौ. ५।१, गो, उ १।१६.
६ श. ३।६।३।३२; मै. ३।४१.
७ ऐ. ३।४३.
८ कौ. २१।५.
९ तै. २।७।१।१.
१० तां. १६।५।११.
११ ,, ४।५।२१.
१२ कौ. २५।१४.
१३ तां. ६।२।६, २०।१।३, तै. १२।५।६.
१४ तां. ४।२।११.

मे यह प्रथम है, अत इसे यज्ञमुख भी कहा जाता है[१]। इसी के द्वारा यजमान "सब" को प्राप्त कर सकता है,[२] अन्य सोमयागो को करने का अधिकारी बनता है। इसीलिये यह यज्ञ की मात्रा[३] और ज्येष्ठयज्ञ[४] भी है। यही सवत्सर अर्थात् काल भी है। इसके यजन से सवत्सर की प्राप्ति होती है[५]। ज्योति स्वरूप इस अग्निष्टोम का यजनकर्ता ज्योतिर्मय पुण्य लोक को प्राप्त करता है[६]।

किन्तु अग्निष्टोम के ये विविध प्रयोजन समग्र रूप मे अन्यान्य ब्राह्मण-ग्रन्थो मे ही अधिकता से उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक सहिताओ के अग्निष्टोम-सम्बन्धी ब्राह्मण-भागो मे अग्निष्टोम के समग्र प्रयोजन की ओर उसकी विधियो मे ही प्रयोजन पृथक्-पृथक् रूप मे अधिक स्पष्टता और विस्तार के साथ वर्णित है। यही स्थिति शतपथ ब्राह्मण की है।

इनमे अग्निष्टोम को समग्र रूप मे सवत्सर, यज्ञमुख और अग्नि के रूप मे अवश्य बहुधा वर्णित किया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त विधियो और क्रियाओं का ही प्रयोजन उल्लिखित है। यथा-अग्निष्टोम के दीक्षा सस्कारों का प्रयोजन यजमान को गर्भस्थ शिशु के रूप मे प्रदर्शित करना है, जिसमे परिभाषित यज्ञस्थल योनि है, दीक्षित यजमान गर्भ है, नीचे बिछा कृष्ण जिन जरायु है, ऊपर ओढा हुआ वस्त्र उल्व है, और कटि पर बधी मेखला नाभि है[७]। प्रायणीयेष्टि का प्रयोजन दिशाओं का सम्यक् ज्ञान करवाना है[८]। सोम को खरीदने का अभिप्राय इस शरीर के लिये वाणी द्वारा सोम अर्थात् ज्ञान, यश आदि प्राप्त करना है[९]। ३ दिन तक उपसद-विधि के अनुष्ठान द्वारा तीनो लोको मे सम्यक् स्थिति प्राप्त की जाती है[१०]। उपरवों के निर्माण से प्राणो का आधान किया जाता है[११]। इत्यादि ।

---

१ मै स ४।८।१०, तै ७।८।७।१, ता १८।८।१, को १६।८
२ मै स ४।४।१०.
३ ता २०।११।८, मै स ३।४।४
४ ता ६।३।८
५ मै स ३।८।१०, ऐ ४।२२
६ ता १६।११।११
७ मै स ३।६।७, तै स ६।१।३, का स २३।३, श. ३।१।३।२८
८ मै स. ३।७।१, तै स ६।१।५, का स २३।८, श ३।२।३।१-६
(का स प्रायणीयेष्टि का प्रयोजन स्वर्ग-प्राप्ति भी कहती है, और शतपथ मे इससे यज्ञ को जाना जाता है दिशाओ को नहीं।)
९ मै स. ३।७।३, तै स ६।१।६, का स २३।१०, श ३।२।४
१० ,, ३।८।१, तै स ६।२।३, का स २४।१०, श ३।४।४।३-१५
११ मै स ३।८।८, तै स ६।२।११, का स २५।६, श ३।५।४।१
(शतपथ मे प्राणो के स्थान पर कूप शब्द का प्रयोग है।)

प्रयोजन की इस अनेकता में स्पष्टतः कोई एकता वर्णित नहीं है। किन्तु प्रधानता की दृष्टि से सम्भवतः इस याग का उद्देश्य प्राणि के उत्पन्न होने तथा इसके प्राणों, विविध शक्तियों और क्षमताओं से संयुक्त होने की स्थिति को चित्रित करना है।

वाजपेययाग

वाजपेययज्ञ को सोमयाग माना जाता है। इसके नाम के दो निर्वचन देते हुये श्री सायणाचार्य कहते हैं कि "वाजो देवान्नरूपः सोमः पेयो यस्मिन्यागे स वाजपेय इत्येकं निर्वचनम्। यस्मादेतेन यज्ञेन देवाः वाजं फलरूपमन्यमाप्तुमैच्छंस्तस्मादन्नरूपो वाजः पेयः प्राप्यो येन स वाजपेय इत्यपरं निर्वचनम्[1]।" स्पष्टतः इन दोनों निर्वचनों में वाज का अर्थ अन्नरूप सोम किया गया है, जिसका इस याग में पान किया जाता है। शतपथकार भी वाजपेय का एक दूसरा नाम "अन्नपेय" ही देता है[2]।

वस्तुतः वाज को बहुधा अन्न,[3] सोम,[4] ओषधी[5] और पशु[6] कहा गया है। इन सब वस्तुओं को उत्कृष्टक वीर्य के लिये ही प्राप्त किया जाता है। अतः वाज को वीर्य भी कहते हैं[7]। वाक्-वाणी-इसी वीर्यरूप वाज का प्रसव-उत्पादित फल-है[8]। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल वाज का अर्थ स्फूर्ति, वेग, शक्ति, प्राण और वीर्य करते हैं।[9] डा० कीथ के अनुसार इसका प्राचीन अर्थ बल और जीवन है[10]।

अन्यत्र यह निर्देश है कि स्वाराज्यकामी ब्राह्मण या राजन्य ही इस यज्ञ को अनुष्ठित करें[11]। इस यज्ञ की अनेक क्रियायें-यथा-रथारोहण, रथ-दौड़, अभिषेक आदि इस उद्देश्य के अनुकूल भी प्रतीत हैं। दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि वाजपेय-याजी उत्कृष्ट अन्न,[12] स्वर्गलोक,[13] प्रजापति[14] और सब कुछ[15] को भी प्राप्त

---

१ तै. सं. भा. २।८८
२ श. ५।१।३।३.
३ मै. सं. १।११।५, श. ५।१।१।१६, ५।१।४।३, ६।३।२।४, तै. १।३।६।२, १।३।८।५, तां. १३।६।१३, १५।११।१२, १८।६।८.
४ मै. सं. १।११।५, त. १।३।२.
५ तै. १।३।७।१.
६ ऐ. ५।८.
७ श. ३।३।४।७.
८ मै. सं. १।११।५, तै. १।३।२.
९ उरु ज्योति, पृ. ५८-६१.
१० तै. सं. अं अ., भूमिका, पृ. ११०.
११ मै. सं. १।११।५, तै. १।३।२, मा. श्रो. सू. ७।१।१।१.
१२ श. ५।१।१।३.
१३ तां. १८।७।१
१४ तां. १८।६।४
१५ श. ५/१/१/८-९

कर लेता है। मैत्रायणी संहिता में इस यज्ञ को मुख्यत उस वाजप्रसवा वाक् को प्राप्त करवाने वाला कहा गया है, जो चार भागों में विभक्त होकर विविध रूपों में सर्वत्र व्याप्त है[1]। शतपथ ब्राह्मण[2] इस यज्ञ को साम्राज्य-प्राप्ति करवाने वाला कहकर इसे राजसूय से श्रेष्ठ और सिर्फ ब्राह्मण द्वारा ही अनुष्ठेय मानता है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[3] के विचारानुसार वीर्यरूप वाज को भीतर-ही-भीतर पचाकर ओज में परिवर्तित कर लेने की विधि ही वाजपेय याग है। अत ब्रह्मचारी ही इसका वास्तविक अनुष्ठाता है, और अपनी सर्वोत्कृष्ट तेजस्विता के कारण यह ब्रह्मचारी असाधारण शक्ति-सम्पन्न और समस्त पदार्थों का अधिकारी हो जाता है।[4] शतपथ ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मण को ही इस यज्ञ का एक मात्र अनुष्ठाता मानने से इसकी पुष्टि भी की जा सकती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्रह्म को भी वाजपेय कहा गया है[5]। किन्तु डा० अग्रवाल के अनुसार यज्ञ की इस मूल भावना को प्रत्येक यज्ञ-विधि से सम्बन्धित करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। सम्भवत ये असम्बन्धित विधियाँ परवर्ती परिवर्धन हों। डा० कीथ अपने "वैदिक धर्म और दर्शन" में इस यज्ञ का सम्बन्ध उच्च वैभव और उच्चतम ध्येयों की प्राप्ति से मानते हैं,[6] किन्तु तैत्तिरीय संहिता के अनुवाद की अपनी भूमिका में इस यज्ञ की मूल प्रकृति को अस्पष्ट मानते हुये इसे मूलत इन्द्र के सम्मान में अनुष्ठित यज्ञ कहते हैं, जिसे कालान्तर में ऋत्विजों ने बृहस्पति से सम्बद्ध कर दिया।[7] श्री वेबर "पेय" शब्द को पा पाने से निष्पन्न न मानकर पा रक्षणे से व्युत्पन्न मानते हैं, और यज्ञ-नाम की व्याख्या "शक्ति का रक्षक" करते हैं, तथा यज्ञ का स्वरूप रथ-दौड़ में विजेता की विजय पर मनाये जाने वाले विजयोत्सव के रूप में मानते हैं।[8] श्री हिल्लेब्राट इस यज्ञ को उस ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के लिये उपयोगी कहते हैं, जो अपने गतवैभव को लौटाने का इच्छुक हो।[9] डा० कीथ इस मान्यता को भी अपनी सहमति देते हैं।[10]

---

१ मै स. १।११।५
२ श ५।१।१।१३
३ उरु ज्योति, पृ ५८-६१
४ ब्रह्मचारी की महिमा के लिये अथर्ववेद का ११।५ सूक्त भी द्रष्टव्य है।
५ तै. १।३।२
६ वे ध द २।४२१.
७ तै. स अ अ, पृ ११०
८ ,, पृ १०६
९ ,, ,, ,,
१० ,, ,, ,,

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न विचारों के बीच भी वाज के "शक्ति, वीर्य अथवा उत्कृष्ट वस्तु' परक अर्थ के विषय में सामान्य सहमति है। ब्राह्मण-व्याख्यानों में भी इसके "बल और अन्न' अर्थ पर ही विशेष जोर दिया गया है। अतः अपने शाब्दिक अर्थ में इस यज्ञ का स्पष्ट प्रयोजन वीर्य अर्थात् जीवनी-शक्ति को उत्कृष्टता से पान करना अर्थात् प्राप्त करना है। यज्ञ की एक विशिष्ट विधि से इसकी पुष्टि भी होती है। यज्ञ मे प्रजापति के लिये १७ सोम के ग्रह और १७ सुराग्रह लिये जाते हैं। मैत्रायणी संहिता[1] इस संख्या और ग्रहों का औचित्य बताते हुये कहती है कि यह सत्रह की संख्या पुरुष[2] के सात अंगों और दस प्राणों की द्योतक है, और सोम श्री है तथा सुरा पाया है। सोमग्रह और सुराग्रह को लाने की विधि में भिन्नता है। इससे स्पष्ट किया गया है कि सोमरूप श्री से पुरुष के समस्त अंगों और प्राणों को पुष्ट किया जाता है, और सुरारूप ग्रह को विपरीत विधि से रखते हुये शरीर को सब दोषों से मुक्त बनाया जाता है। किन्तु इस एक विधि के अतिरिक्त अन्य अनुष्ठित क्रियाएँ इस प्रयोजन को सिद्ध करने में किस प्रकार सहायक हैं, इस पर कोई स्पष्ट प्रकाश नही डाला गया है।

राजसूययज्ञ

राजसूय का स्पष्ट निर्वचन है कि "राजा सूयते अभिषिच्यते अस्मिन् याने इति राजसूयः।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस यज्ञ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना राजा का अभिषेक होना है, अन्य सब विधियाँ इसी की पूरक हैं। अतः इस यज्ञ का निर्विवाद प्रयोजन राज्य-प्राप्ति ही है। सूत्रग्रन्थों में स्पष्टतः राज्यकामी को ही राजसूय के अनुष्ठान का निर्देश दिया गया है[3]। ब्राह्मणग्रन्थ स्पष्ट करते हैं कि राजसूय से यजन करने पर राजा बनता है[4]। अनुष्ठित विधियाँ इसी प्रयोजन-सिद्धि के लिये हैं। यथा-इन्द्राग्नी का यजन करके राष्ट्र-रक्षण में आवश्यक बल और ओज को प्राप्त किया जाता है,[5] रत्नियों की हवियों से रत्नियों अर्थात् जनप्रतिनिधियों अथवा प्रमुख राज्याधिकारियों का राजा बनकर[6] राष्ट्र को प्राप्त करते हैं,[7] राष्ट्र

१ मै. सं. १।११।६.
२ प्रजापति को बहुधा पुरुष कहा गया है।
(श. ६।२।१।२३, ७।१।१।३७, ७।४।१।१५, तै. २।२।५।३)
३ मा. श्रौ. सू. ९।१।१।१, ते. सं. भा. ३।८५६-५७ में उद्धृत बौधायन और आपस्तम्ब सूत्र.
४ श. ५।१।१।१२, ९।३।४।८, गो. पू. ५।८.
५ मै. सं. ४।३।१, तै. १।६।१, श. ५।२।३।८.
६ श. ५।२।३।८.
७ तै. १।७।३

को तेजस्वी और ओजस्वी बनाते हैं[१] अभिषेक-जलो को ग्रहण करना मानो राष्ट्र को ग्रहण करना है,[२] अभिषेक विधि द्वारा अभिषेककर्त्ता ब्रह्मा, वैश्य, भ्रातृव्य और मित्र यजमान राजा के लिये क्रमश अपेक्षित ब्रह्मतेज, वीर्य, अन्नाग और क्षेत्र को प्रदान करते हैं,[३] और इस यज्ञ द्वारा इस प्रकार विशेष शक्तिसम्पन्न राजसूय-अनुष्ठाता के महत्व से समस्त पृथिवी भयभीत होकर वशवर्ती हो जाती है।[४]

इसके अतिरिक्त राजसूययाजी सब यज्ञक्रतु, सब इष्टि और होमो को भी प्राप्त कर[५] सर्वोत्कृष्ट बन जाता है,[६] मृत्यु से मुक्त होकर पूर्ण वायु को प्राप्त करता है,[७] और राजसूय के यजनकर्त्ता पर आभिचारिक प्रयोग करने वाला अपने अभिचार का स्वत शिकार होकर नष्ट हो जाता है।[८]

अश्वमेधयज्ञ

अश्वमेध का प्रयोजन क्या है, यह इस बात पर भी निर्भर है कि इस यज्ञ का अनुष्ठाता कौन है। सूत्र और ब्राह्मण मे इस विषय में भिन्नता प्रतीत होती है। अत सर्व प्रथम इस पर विचार करना आवश्यक है।

जनश्रुति और साहित्य के अनुसार अश्वमेधयज्ञ दिग्विजयी सम्राट् द्वारा किया जाता है, और इसके यजन द्वारा वह अपना सार्वभौमत्व सिद्ध करता है। मानवश्रौतसूत्र के अनुसार यह यज्ञ लोको को जीतने और सब कामनाओको वशवर्त्ती करने के इच्छुक राजा द्वारा किया जाना चाहिये।[९] कात्यायन श्रौतसूत्र इस यज्ञ को प्रत्येक राजा के लिये अनुष्ठेय मानता है।[१०] किन्तु आपस्तम्ब के मत मे सिर्फ एकच्छत्र सार्वभौम सम्राट् ही इस यज्ञ को करने का अधिकारी है।[११]

किन्तु ऐसा प्रतीत नही होता है कि ब्राह्मणकारो अथवा अश्वमेध के पूर्व प्रणेताओ को भी केवल राजा से ही इस यज्ञ का सम्बन्ध मान्य रहा होगा। सूत्र-

१ मै स ४।३।८
२ तै १।७।५
३ मै स ४।४।२
४ श ५।४।३।२०-२१
५ श ५।५।४।१४, ५।४।५।१०.
६ श. ५।४।२।५
७ तै १।७।७
८ श ५।४।१।१, तै १।७।५
९ मा श्रौ सू ६।२।१।१
१० य त प्र, पृ ११५
११ ,, ,,

ग्रन्थों में वर्णित राजा की अभिषेक-क्रिया का ब्राह्मणों में उल्लेख तक भी न पाया जाना[1] इस बात को पुष्ट करता है कि राजा को ही अश्वमेघ का यजमान मानना समीचीन नहीं है। शतपथ[2] में तो इस यज्ञ के अनुष्ठान-काल का प्रश्न उठाकर स्पष्ट किया गया है कि "ग्रीष्म में अनुष्ठान करने से यह यज्ञ क्षत्रिय का बन जायेगा, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु क्षत्रिय की है। अतः वसन्त में इसका आरम्भ करना चाहिये, क्योंकि वसन्त ब्राह्मण की ऋतु है। ब्राह्मण बनकर ही इसका यजन किया जाता है।" इससे तो यही सिद्ध होता है कि मूलतः इस यज्ञ का अधिकारी ब्राह्मण ही है। यद्यपि राष्ट्र को अश्वमेघ[3] कहने से इसका राजा से भी सम्बन्ध जुड़ तो जाता है, किन्तु जैसा आगे स्पष्ट किया जायेगा कि यह अश्वमेघ के प्रयोजन का एक पहलू भर ही है।

वस्तुतः "अश्वमेघ" का "मेघ" शब्द भी अपने में बहुत विवादास्पद है। मेधृ हिंसासंगमनयोः से व्युत्पन्न यह शब्द अश्व का हिंसन करने वाले अथवा अश्व का संगमन करने वाले यज्ञ का सूचक बनता है। वर्णित यज्ञ-विधि में दोनों ही कार्य होते हैं। किन्तु इस बाह्य सत्य के भीतर निहित सोद्देश्य और मूल सत्य को जाने बिना यज्ञ का तात्पर्य पूर्ण नहीं हो सकता है और अश्वमेघ के प्रयोजन को समझने के लिये पहले "अश्व" की प्रतीकात्मकता को जानना आवश्यक है। अतः ब्राह्मण-व्याख्यानों के आधार पर इसे निम्न रूपों में समझने का प्रयास किया गया है।

अन्यत्र[4] सोदाहरण विवेचन द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि यज्ञ की प्रत्येक वस्तु प्रतीक रूप है, और प्रत्येक क्रिया किसी प्राप्त या प्राप्तव्य, ज्ञात, अथवा ज्ञातव्य तथ्य की ओर संकेत करती है। ऐसी स्थिति में यह जानना आवश्यक है कि यहां पर अश्व किस वस्तु का प्रतीक है, जिसका हिंसन होता है, संगमन होता है। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण विविध व्याख्यान देते हैं। किन्तु यज्ञ की समस्त विधियों में घटित हो जाये, ऐसा एक भी तत्व सामने नहीं आता है। अश्वमेघ की दार्शनिक पृष्ठभूमि और यज्ञ की अनुष्ठित विधि के बीच की यह खाई अन्य यज्ञों की स्थिति में भी मिलती है। असंगतता का यह दोष यज्ञ-विकास की अनेकानेक अनमेल धाराओं के सप्रयास सम्मिलन के क्रमिक इतिहास का ही सूचक प्रतीत होता है।

अश्व की महत्ता को बड़े व्यापक रूप में वर्णित किया गया है। अश्व की उत्पत्ति और निर्वचन बताते हुये बहुधा कहा गया है कि 'प्रजापति की आँख सूजकर

---

१ देखिये षष्ठम् अध्याय

२ श. १३।४।१।२-३.

३ श. १३।२।२।१६, तै. ३।८।९।४.

४ देखिये सप्तम अध्याय

फैलकर—दूर जा पड़ी, उसी निस्मृत आंख से अश्व बना। अत 'अश्वयत्—सूजकर फैल गई, ऐसी वस्तु से उत्पन्न होने के कारण अश्व का 'अश्व' नाम हुआ।[1] यहाँ टुओश्वि वृद्धौ धातु से अश्व की निष्पत्ति मानी गई प्रतीत होती है। किन्तु अन्यत्र[2] अशूङ् व्याप्तौ से भी अश्व को निष्पन्न करते हुये कहा गया है कि 'अश्व-अर्थात् व्यापक होकर ही प्रजापति प्राप्त होने वाला बन सका, इसलिये प्रजापति का नाम अश्व है।' यदि अधिक सूक्ष्मता से देखें, तो वृद्धि मे भी व्यापकत्व का भाव आ जाता है। पहला निर्वचन अश्व की उत्पत्ति प्रजापति से बताता है, तो दूसरा प्रजापति को ही अश्व की सज्ञा देता है। 'प्राजापत्यो वा अश्व' तो प्राय सर्वत्र कहा ही गया है। इससे इस अश्वमेध के अश्व को प्रजापति का भी एक प्रतीक कहा जा सकता है। और इस अश्वमेध यज्ञ के द्वारा ही देवो ने प्रजापति की विच्छिन्न आंख को पुन उसमें स्थापित किया था।[3] इन सदर्भ मे 'अश्वमेध' शब्द प्रजापति के विच्छिन्न अग को पुन सयुक्त करने के अर्थ का ही स्पष्ट परिचायक प्रतीत होता है। सयोग के इस तथ्य को ही अश्व-महिषी सगमन की क्रिया द्वारा व्यक्त करने प्रयास किया गया लगता है। इस दृष्टि से यहाँ महिषी नेत्र-ज्योति की प्रतीक है।

इस प्रकार इस अश्वमेधयज्ञ द्वारा प्रजापति को सर्व—पूर्ण—किया गया।[4] अत अश्वमेध का यजनकर्त्ता भी पूर्ण बनता है,[5] और सब भूतो एव प्रजापति को प्राप्त कर लेता है।[6] यह यज्ञ सर्व-समस्त-की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है।[7] यह समस्त की औषधी है, इसके यजन से सब पाप-ब्रह्महत्या जैसा महापाप भी नष्ट हो जाता है।[8] अश्वमेधयाजी सब भूतो को अभिभूत कर लेता है, भूमत्व को पाता है, धारक बनता है,[10] और सब दिशाओ व भुवनो को जीत लेता है।[11]

---

१ मै स १।६।४, तै म ५।३।१२, श १३।३।१।१, तै ११।१५।४, ता २१।४।२.
२ तै ३।६।२१, तै ब्रा मा. ३।१३०७
३ मै म ३।१।३, ४।१।२, तै म ५।१।७, श ६।५।३।६, १३।१।१।१;
तै १।१।५।५, ४।२।२।१, ३।८।२२।३
४ ता २१।४।२
५ तै म ५।३।१२, श १३।३।१।१.
६ श १३।३।१।१
७ तै ३।८।१६
८ श १३।३।१।४
९ तै म ५।३।१२, श १३।३।१।१, मा श्रौ सू ९।२।५।२६, य त प्र पृ ११५-११६
१० तै ३।८।३।४
११ श १३।१।२।३.

इस महामहिमावान् यज्ञ की सीधी व्युत्पत्ति देते हुये शतपथ ब्राह्मण कहता है कि उस (प्रजापति) ने कामना की कि मेरा शरीर मेध्य-यज्ञिय-बन जाये। तो अश्व उससे (उसके शरीर से) संयुक्त हुआ, और वह मेध्य बन गया। यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है।[1] यहाँ यह अस्पष्ट है कि 'अश्व' नामक क्या वस्तु है, जिससे संयुक्त होने पर प्रजापति मेध्य बन सके। पर अन्यत्र अश्व को वीर्य और अग्नि भी कहा गया है।[2] ये दोनों ही वस्तुयें जीवनी-शक्ति की स्पष्ट द्योतक हैं। इन दोनों के ही अभाव में यह पांच भौतिक देह निरूपयोगी है, अपवित्र है। इनसे संयुक्त होने पर भी यह जड़ शरीर भी चेतन और सक्षम बनकर यज्ञीय-यज्ञ करने योग्य-बन जाता है। अतः इस निर्वचन के सन्दर्भ में अश्वमेध का अर्थ 'शरीर को प्राणशक्ति और वीर्यशक्ति से संयुक्त करना ही प्रतीत होता है। क्योंकि अन्यत्र स्पष्ट रूप से अश्वमेध को 'अग्नि की योनि'[3] कहा गया है, और यह भी वर्णित है कि अश्व ही अग्नि बनकर देवों के लिये यज्ञ को धारण करता है।[4] यजमान को भी अश्वमेध[5] कहने से इस विचार की ओर भी पुष्टि हो जाती है।

सूर्य को भी अश्वमेध कहा गया है।[6] शतपथ स्पष्टता से कहता है कि 'यह जो तपता है, वह अश्वमेध ही है।'[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण[8] में आख्यान है कि अंगिरसों ने आदित्य देवताओं के लिये इस आदित्य सूर्यरूपी श्वेत अश्व की दक्षिणा दी थी और आदित्यों ने इस अश्व को श्रेष्ठ बना दिया था। किन्तु इससे अधिक ऐसा कोई वर्णन नहीं है, जिससे अश्वमेधयज्ञ के सम्बन्ध में आदित्य का स्वरूप स्पष्ट हो सके। पाश्चात्य विद्वान् डा० कीथ और फान नैगलीन भी यह मानते हैं कि इस यज्ञ का अश्व सूर्य के अश्व का प्रतीक है,[9] और नैगलीन के मत मे[10] यह यज्ञ अश्व के रूप में समझे गये सूर्य को उसकी यात्रा के लिये बलशाली बनाने के अभिप्राय से किया जाने वाला यज्ञ है। ओल्डनबर्ग के मतानुसार[11] इस यज्ञ द्वारा योद्धागण इन्द्र को

---

१ श. १०।६।५।७.
२ श. २।१।४।२३,२४, ६।३।३।२२, गो. उ. ४।११
३ तै. ३।६।२१.
४ श. १।४।१।३०.
५ श. १३।२।२।१, १३।२।१।१.
६ श. ६।४।२।१८, १३।५।१।५, ७।३।२।१०, तै. ३।६।२३।२.
७ श. १-१६।५।१८.
८ तै. ३।६।२१
९ वै. ध. द. २।४२६-३०.
१० ,, ,,
११ ,, २।४२८.

एक तेज और शक्तिशाली अश्व की बलि देकर उसमे आभिचारिक शक्तिमात्र प्राप्त करते है।

एक स्थल पर अश्वमेध को दर्शपूर्णमासयाग और अग्निहोत्र के एकरूप बताते हुये कहा गया है कि "जो विद्वान् अग्निहोत्र की आहुति देता है, और दर्शपूर्णमास से यजन करता है, वह प्रतिमास अश्वमेध से ही यजन करता है।"[१] इसी बात को और स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि "यह चन्द्रमा ही अश्वमेध है।[२] इसका आशय यह है कि अमावस और पूर्णिमा का विभाग जिस चन्द्रमा की गति पर आधारित है वह अश्वमेध है। इसीलिये दर्श और पूर्णमास की इष्टियों के करने से अश्वमेधरूपी चन्द्रमा को ही प्राप्त किया जाता है। अमावस में सम्पन्न दर्शेष्टि इस दूरस्थ अश्वमेधरूपी चन्द्रमा को प्राप्त करने का प्रथम चरण है, और पूर्णिमा में अनुष्ठित पूर्णमासेष्टि इसकी प्राप्ति का अन्तिम चरण है, जब चन्द्रमा को प्राप्त कर लिया जाता है।[३] अग्निहोत्र से अश्वमेध का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि अग्निहोत्र की प्रात साय की २-२ अर्थात् कुल चार आहुतियाँ मानो अश्व के चार पैर हैं। अत अग्निहोत्र द्वारा मेध्य अश्व के पद-पद पर आहुति दी जाती है।[४]

इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा से अश्वमेध का सम्बन्ध जोडकर इस यज्ञ को सम्भवत सृष्टि के सतत गतिशील उस यज्ञ का प्रतीक माना गया है, जो कालतत्त्व का नियामक और विभाजक है। इसीलिये सूर्यरूप से यह अश्वमेध वर्ष भर चलता है, और चन्द्रमारूप से प्रतिमास होता है।[५] इससे एक यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि सृष्टि के तेजस् तत्त्वों के प्रतीक रूप में ही प्राय अश्व को लिया गया है। अश्व को अग्नि की योनि कहने[६] और अग्न्याधान के समय अश्व को आगे-आगे ले[७] जाने से इसी चिन्तन-धारा की पुष्टि होती है।

राष्ट्र भी अश्वमेध है।[८] दुर्बल व्यक्ति (राजा) द्वारा इस यज्ञ के अनुष्ठान का निषेध किया गया है,[९] क्योंकि उसके बलशाली शत्रुओं द्वारा अश्व के पकड लिये जाने पर यज्ञ-भंग का पाप हो जायेगा। यह अश्वमेध यज्ञ राष्ट्र की उन्नति की

---

१ श ११।२।५।५
२ ,, ११।२।५।१
३ ,, ११।२।५।४
४ ,, ११।२।५।२.
५ ,, ११।२।५।४
६ तै ३।६।२१, मै स ३।१।४
७ देखिये पचम अध्याय।
८ श १३।२।२।१६, १३।१।६।३, तै ३।८।६
९ ,, १३।१।७।३, तै ३।८।६.

कामना से किया जाता है।[1] शतपथ ब्राह्मण[2] में महिषी के अश्व-संगमन के समय पठित मन्त्रों का व्याख्यान स्पष्टतः यह प्रदर्शित करता है कि इस प्रक्रिया का स्वरूप राष्ट्ररूपी अश्व से महिषीरूपी श्री—समृद्धि— को संयुक्त करना है।

इसके अतिरिक्त इस यज्ञ को प्रभू, विभू, व्यप्टि, विधृति, ऊर्जस्वान्, पयस्वान्, ब्रह्मवर्चसी, अतिव्याधी आदि अनेकों नाम भी दिये गये हैं, इसके यजन से तन्नामवाची समस्त वस्तुओं की प्राप्ति का फल भी वर्णित किया गया है।[3]

इस प्रकार अश्वमेध को अनेक रूपों में वर्णित करते हुये उसके विविध प्रयोजनों का उल्लेख किया गया है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है कि यज्ञ की समस्त विधियों से सुसम्बद्ध कोई एक प्रयोजन स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पाता है, और ऐसी स्थिति अश्वमेध की नहीं, दर्शपूर्णमास और अग्निष्टोम की भी मानी जा सकती है।

सौत्रामणीयाग

शतपथ ब्राह्मण में सौत्रामणी का निर्वचन देते हुये कहा गया है कि "इसमें इन्द्र की पापरूप मृत्यु से सम्यक्तया रक्षा की गई। यही सौत्रामणी का सौत्रामणीत्व है।[4]

इन्द्र को रक्षण की आवश्यकता क्यों पड़ी, इस सम्बन्ध में सर्वत्र प्रायः एकसा आख्यान मिलता है, जिसके विवरण में कुछ बाह्य भिन्नता होते हुये भी मूल तत्त्व प्रायः समान हैं कि "जब इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्ष सोमपायी विश्वरूप को मार दिया, तो क्रुद्ध त्वष्टा ने इन्द्र को सोम से वंचित कर दिया। इन्द्र ने उसके यज्ञ का विनाश करके सारा सोम पी लिया। वह पीत सोम इन्द्र के शरीर से निकलने लगा और उसके अंगों से निःसृत यह सोम विविध पशुओं और अन्नों में परिवर्तित हो गया। और इस तरह इन्द्र की शक्ति उन-उन पशुओं और अन्नों में चली गई। इसी क्षीणशक्ति इन्द्र की अश्विनों और सरस्वती ने चिकित्सा की, और नमुचि के वीर्य को इसमें स्थापित किया। इससे इन्द्र में पुनः शक्ति का संचरण हुआ, और वह मृत्यु से बच गया।[5]

रूपक अथवा प्रतीक की भाषा में इस आख्यान का मूलभाव यह है कि जब अत्यधिक मात्रा में पिया गया सोम शरीर के अन्दर पचकर शक्तिरूप में परिवर्तित

---

१ मै. सं ३।१२।६, तै. सं. ७।५।१८, का. सं. ५।५।१४, वा. सं. २२।२२.

२ श. ३।२।६.

३ श. १३।३।७, तै. ३।६।१६.

४ ,, १२।७।१।१४.

५ मै. सं. २।४।१, का. सं. १२।१०, श. १२।७।१, तै. १।८।५.

होने के बदले बिना पचे ही—अजीर्ण के रोगी की तरह—निकलकर शरीर की शक्ति को क्षीण करने लगता है, तब इस याग द्वारा शरीर की शक्ति के पुन संस्थापन से शरीर-रक्षा की जाती है।

यह सोम-नि सरण दो प्रकार से होता है—ऊपर से अर्थात् उल्टी होकर और नीचे से अर्थात् रेचन-क्रिया मे।[1] प्रथम मे आक्रान्त व्यक्ति को सोमवामी और दूसरे से पीडित को सोमातिपवित कहते हैं। इन दोनों प्रकार के क्षीणवीर्य यजमानो के लिये इस याग की पयोहवि के उत्पवन-मन्त्र भी पृथक्-पृथक् हैं।[2] मानवश्रौतसूत्र में तो यह भी निर्देश है कि सोमातपवित चरक सौत्रामणी का और सोमवामी कौकिली सौत्रामणी का अनुष्ठान करे।[3]

इस दृष्टि से यहाँ इन्द्र आत्मा अथवा यजमान है।[4] सोम को वीर्य,[5] रेतस्,[6] प्राण[7] और अन्न[8] कहा गया है। अश्विनी नासिका[9] और सरस्वती वाक्[10] है। अत जब पाचनक्रिया के बिगड जाने पर शरीर की जीवनी-शक्ति क्षीण होने लगती है, तब इस याग के द्वारा अर्थात् प्राणापान के शोधन और आहार-शोधन के द्वारा उसको पुन संस्थापित किया जाता है, यही उपर्युक्त आख्यान का आशय है। इन्द्र की शक्ति जिन-जिन वनस्पतियों या अन्नो मे प्रविष्ट हो गई थी, उन्हीं को हवि मे मिलाने से भी इस आशय की पुष्टि होती है। मैत्रायणी संहिता में तो स्पष्टत. ज्योगामयावी अर्थात् पुराने रोगी और आर्त पुरुष के लिये इस यज्ञानुष्ठान का निर्देश[11] है। इसीलिये यह कहा गया है कि इस यज्ञ का अनुष्ठाता सौ वर्ष की पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है।[12]

---

१ श १२।७।२।१
२ मै स. ३।११।७।५२-५३, मा श्रौ सू ५।२।११।१३, श १२।७।३।६-१०, तै २।६।१
३ मा. श्रौ सू ५।२।४।१, ५।२।११।२
४ श २।१।२।११, ४।५।४।८, ८।५।३।८
५ ,, १२।७।२।१
६ ,, १।६।२।६, २।५।१।६, ३।८।५।२, ३।४।३।११. तै २।७।४।१, ३।६।५।५, कौ. १३।७.
७ ,, ७।३।१।२, ७।३।१।४५, ता ६।६।१,५, कौ ६।६.
८ ,, ३।३।४।२८, २।६।१।८, ७।२।२।११, ता ६।६।१, कौ ६।६.
९ ,, १२।९।१।१४
१० ,, ७।५।१।३१, ११।२।४।६, १२।६।१।१३, कौ ५।२, १२।८, ऐ २।२४, ६।७, गो. उ १।२०
११ मै स २।४।१, मा श्रौ. सू ५।२।४।१
१२ ,, २।३।६, श. १२।७।३।१६

शतपथ ब्राह्मण सोमवामी की एक विशिष्ट परिभाषा देते हुए कहता है कि "जो पर्याप्त पशुओं को प्राप्त नहीं कर पाता है, वह सोमवामी है, क्योंकि सोम पशु है।"[१] और इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह यज्ञ समृद्धि-प्राप्ति के लिये भी विहित है। मैत्रायणी संहिता और मानवश्रौतसूत्र भी इसे भूतिकामी के लिये अनुष्ठित करने का निर्देश देते हैं।[२]

इसके अतिरिक्त राजसूययजन से क्षीण बल हुये व्यक्ति के लिये भी यह यज्ञ अनुष्ठेय है।[३] वस्तुतः यह यज्ञ इन्द्रियों को सर्वप्रकारेण वीर्यसम्पन्न करने वाला कहा गया है। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि जब प्रजापति एक यज्ञ का अनुष्ठान करने पर रिक्त-शक्ति रहित-हो गया, तब किसी सौत्रामणी के यजन द्वारा उसने पुनः परिपूर्णता प्राप्त की।[४] इतना ही नहीं इसी यज्ञ से पुरुष की उत्पत्ति होती है।[५] इस यज्ञ की एक-एक वस्तु किस प्रकार पुरुष-शरीर के विविध घटकों की प्रतीक है, इसका विशद विवेचन भी शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है।[६]

प्रवर्ग्य

मैत्रायणी संहिता में प्रवर्ग्य का ब्राह्मण नहीं है। अतः शतपथ आदि से ही इसे समझा गया है। प्रवर्ग्य के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में एक आख्यान दिया गया। यद्यपि दोनों का मूल तत्त्व एक ही है, किन्तु प्रारम्भिक अंश और कथा का विस्तार दोनों में भिन्न हैं। शतपथकार[७] कहता है कि जब श्री, यश और अन्न की इच्छा से देवता सत्र के लिए बैठे, तो उन्होंने निश्चय किया कि जो भी हम में से श्रम, तप, श्रद्धा, यज्ञ और आहुतियों द्वारा पहले यज्ञ की पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, वही हममें श्रेष्ठ होगा। विष्णु ने ही करके देवों में श्रेष्ठत्व को पा लिया पर विष्णु श्रेष्ठत्व के इस यश को सम्भालने में समर्थ न हो सका, और वह तीन बाणों वाले धनुष को लेकर सब देवों से दूर हो गया। किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक[८] में कहा गया है कि सत्रानुष्ठान के लिए बैठते समय देवों ने परस्पर यह निश्चय किया कि इस यज्ञानुष्ठान से जिसको जो यश मिलेगा।

---

१ श. १२।७।२।२.
२ मै. सं. २।४।१, मा. श्रौ. सू. ५।२।४।१.
३ मै. सं. २।४।१, मा. श्रौ. सू. ५।२।४।१.
४ श. १२।८।२।१.
५ ,, १२।९।१।१.
६ ,, १२।९।१
७ श. १४।१।१।१-५.
८ तै. आ. ५।१।१-२.

वह किसी एक का न होकर सबका समान होगा। परन्तु विष्णु ने सारा यश स्वत ले लिया और फिर देवो से दूर चला गया। देवों ने उसे घेर लिया, तब उसने अपने बायें हाथ से धनुष और दायें से बाण उत्पन्न करके अकेले ही सब देवो का सफलता पूर्वक सामना किया।

इस प्रारम्भिक विभिन्नता के बाद इस विषय मे शतपथ ब्राह्मण, ताड्य ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक एकमत है[1] कि उस धनुष की प्रत्यचा को दीमको ने काट दिया और तब सहसा टूटी प्रत्यचा ने अथवा उस प्रत्यचा से स्वत निसृत बाणों ने उस यज्ञरूप विष्णु का सिर काटकर ऊपर की ओर उछाल दिया। यह छिन्न सिर ही प्रवर्ग्य है, जिसे अश्विनो ने यज्ञपुरुष के शरीर मे पुन सम्यक्तया जोड दिया। शतपथ ब्राह्मण[2] मे इस स्थल पर दध्यङ् ऋषि द्वारा अश्विनो को उस मधु-विद्या का उपदेश देने का भी सविस्तर वर्णन है, जिसे प्राप्त करके ही अश्विनी, छिन्न यज्ञसिर को जोडकर यज्ञ को पूर्ण बनाने की विधि का ज्ञान प्राप्त कर सके थे।

उपर्युक्त आख्यान के ही आगामी वर्णन के अनुसार प्रवर्ग्य के अनुष्ठान के बिना अनुष्ठित यज्ञ सिरविहीन शरीर की तरह रह जाता है।[3] ऐसे सिररहित यज्ञ से यजमान को न अभीष्ट फल की प्राप्ति हो पाती है, न ही वह स्वर्ग को जीत सकता है।[4] प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करने पर ही यज्ञ पूर्ण होता है,[5] और इस सिरयुक्त यज्ञ के द्वारा ही यजमान की कामनायें पूर्ण होती हैं, और वह स्वर्ग पाता है।[6] किन्तु प्रवर्ग्य का यह अनुष्ठान सोमयागो मे ही अनिवार्य है, क्योकि सिर रहित यज्ञपुरुष विष्णु के जो तीन भाग किये गये, वे ही क्रमश प्रात सवन, माध्यदिन-सवन और तृतीय-सवन हैं।[7] इसीलिये सोमयागो मे उपसद्-विधि के साथ-साथ प्रवर्ग्य के अनुष्ठान का भी निर्देश दिया जाता है। किन्तु शतपथ के अनुसार प्रथम सोमयाग मे इसके अनुष्ठान का निषेध है,[8] यद्यपि कौषीतकि ब्राह्मण का मत इसके विपरीत है।[9] तैत्तिरीय आरण्यक उवथ्य मे इसके अनुष्ठान का निषेध करता है।[10]

---

१ श १४।१।१।८-११, २१, तै आ ५।१।४,६, ता ७।५।६
२ श १४।१।१।१८-२४
३ श १४।१।१।१७, तै आ ५।१।५
४ तै आ ५।१।५
५ श १४।१।१।१८-२१
६ तै आ ५।१।६
७ श १४।१।१।१५-१७, तै. आ ५।१।५
८ श १४।२।२।४४.
९ कौ ८।३
१० तै आ ५।६।८

प्रवर्ग्य का निर्वचन दो प्रकार से किया गया है। प्रथम के अनुसार छिन्न यज्ञसिर के प्रकृष्टता से गमन के कारण "प्रवर्ग्य" नाम पड़ा[1] और दूसरे के अनुसार तप्त घृत अर्थात् आज्ययुक्त महावीर पात्र में दूध को मिलाना "प्रवृंजन" कहलाता है, और इसीसे "प्रवर्ग्य" बना।[2] इस प्रवर्ग्य को ही धर्म, महावीर और सम्राट् भी कहते हैं[3]।

वस्तुतः प्रवर्ग्य आदित्य है।[4] तैत्तिरीय आरण्यक में छिन्न यज्ञसिर के आवा-पृथिवी मे क्रमशः गमन का जो उल्लेख है,[5] वह भी दोनों लोकों में आदित्य के गमन-चक्र को ही सकेतित करता प्रतीत होता है। अतः प्रवर्ग्य का यजन करने वाला आदित्य-देवता का यजन करता है[6]। यह सूर्य तपता है, अतः यही धर्म भी है।[7]

शतपथ ब्राह्मण[8] में प्रवर्ग्य को संवत्सर, समस्त लोक, देवता, यजमान, अग्नि-होत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु बन्ध और सोम अर्थात् सब कुछ कहा गया है। जो-जो फल इन सबसे मिलता है, वह-वह सब फल प्रवर्ग्य से भी मिलता है।

इससे मूलतः यही व्यक्त होता है कि प्रवर्ग्य का कोई स्वतन्त्र फल नहीं है, अपितु अन्य यज्ञों के फलों को पूर्णता से प्राप्त करवाना ही इसका मुख्य प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त आधिदैविक प्रसंग में इस यज्ञ द्वारा सृष्टि-निर्माण की उस समय की प्रक्रिया को बताने का प्रयास किया गया है, जब अविभक्त ब्रह्माण्ड से पृथक् होकर सूर्य ने अपना अलग स्थान लिया होगा। यज्ञ-सिर से कटकर अन्तरिक्ष में चले जाने का वर्णन सम्भवतः सूर्य के शेष ग्रहपिण्डों से पृथक् होने को ही स्पष्ट करता है।

डा० कीथ और हिल्ले ब्रांट आदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार[9] महावीर पात्र सूर्य का और दूध की उष्णता सूर्यताप की शक्तिमत्ता की प्रतीक है, और यजमान की शक्तियों का पुनर्नवीकरण करना इसका प्रयोजन है।

---

१ श. १४।१।१।१०, तै. आ. ५।१।४। यद्यपि शतपथ इसे प्रपूर्वक वृज् गतौ से निष्पन्न मानता है, और अरण्यक प्रपूर्वक वृतु वर्तने से सिद्ध करता है।

२ तै. आ. भा. १।२७७, य त. प्र. पृ. ६४। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रपूर्वक वृङ्० सम्भक्तौ के प्रवर्ग्य बना है।

३ श. १४।१।१।१०-११, तै. आ. ५।१।४.

४ श. १०।२।५।४, १४-१।१।२७.

५ तै. आ. ५।१।४.

६ श. १२।१।३।५.

७ श. १४।१।३।१७, १४।३।१।३३, ११।६।२।२, ६।४।१।१६, कौ. २।१.

८ श. १४।३।२.

९ तै. सं. अं. अ., पृ० १२४.

गोनामिक

यह विधि अपने स्वरूप मे जितनी सक्षिप्त और सामान्य है, अपने प्रयोजन मे उतनी ही दुरूह और रहस्यात्मक प्रतीत होती है। जैसा इसके नाम से स्पष्ट होता है कि इस यज्ञ विधि का सम्बन्ध गौ के नामो से है, और हम देखते भी हैं कि इसमें गाय के अनेको नामो का बार-बार उच्चारण और मन्त्र-प्रयोग किया जाता है। किन्तु यह गाय क्या वस्तु है, और इस सब विधि से क्या प्रयोजन सिद्ध होना है, इस विषय मे विविध आख्यान है।

सर्वप्रथम कहा गया है कि प्रजापति ने क्रमश असुरो, पितरो, देवो और मनुष्यो को उत्पन्न किया। प्रजापति की मनस्-शक्ति से निर्मित मनुष्यो मे जो अधिक बोलता अथवा गमन करता है, उसके मनुष्य स्थिर रहते हैं, और मनुष्य के लिये उसकी जो योनि बाहर आ पडी, वह गौ बन गई। इसका प्रत्यक्ष नाम योनि ही है, गौ परोक्ष नाम है। इस योनिरूपा गाय के पयस् को देखकर देवो ने हरितपात्र द्वारा गाय से अमृत का दोहन कर लिया, पितरो ने रजतपात्र से स्वधा को, मनुष्यों ने दारुपात्र से अन्न को और असुरो ने स्रवणशील अयस्पात्र से सुरा को दुह लिया। ये सब इसी गाय के दोह हैं, और यह सब जानने वाला इन सब वस्तुओ का दोहन कर सब प्रकार की कामनाओ का उपभोग कर लेता है।[1]

इसी आख्यान को और अधिक विस्तारपूर्वक आवृत्त करते हुये इसी प्रकरण मे अन्यत्र वर्णित किया है कि पहले मित्रावरुण ने गौ को द्विपदी बनाया, पर वह खडी न हो सकी। तब उसे चतुष्पदी बनाया गया, इसी से वह स्थित हो सकी। यह तथ्य जानने वाला प्रजा और पशुओ के द्वारा स्थित होता है। इसी चतुष्पदी गाय के पयस् को देखकर देवो, पितरो, मनुष्यो और असुरो ने उपर्युक्त वर्णित वस्तुओं के अतिरिक्त क्रमश यज्ञ, ऊर्ज, प्रजा और भूमि-पराभूति को भी दुहा था। इतना ही नही, ऋषियो ने चमस से छन्दो और पशुओ को, गन्धर्वो और अप्सरस् ने पुष्करपर्ण से पुण्य गन्ध को और सर्पो ने तुम्बी के आकार के दर्भपात्र से विष को भी दुहा था। इसे जानने वाला भी इन सबका दोहन कर लेता है।[2] . . . और इसी गाय के पैरो मे घृत का अधिष्ठान है, इसी से इसे घृतपदी भी कहते हैं।[3] इसी गाय के पैरो से क्षरित घृत से ही श्रोत्रिय, कुमारी और पतिकामा स्त्री के मुख का परिमार्जन करने का विधान है।[4]

---

१ मै. स ४।२।१

२ मै स ४।२।१३। यहाँ यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि गाय के समस्त दोहनो का यह वर्णन अथर्ववेद के विराट् सूक्त (८।१०(१-६) से बहुत मिलता है।

३ श १।८।१।२६.

४ देखिये अध्याय पाँच तथा मै स ४।२।१३

इसी गाय को इडा नाम देते हुये कहा गया है कि जो इस इडारूपा गौ को जानता है, उसके लिये सब दिशायें धेनु (दूध देने वाली गाय) बन जाती हैं।[१] इसी इडा का कृषिमय स्वरूप व्यक्त करते हुये कहा गया है कि यह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, वर्ष और कृषि इसके पैर हैं। जब कृषि सस्ययुक्त (अच्छी पैदावार वाली) होती है, तभी यह गाय सम्यक् प्रतिष्ठित होती है, अन्यथा नहीं और इसके ज्ञाता का सस्य कभी क्षीण नहीं होता है।[२]

इसी इडा के विराट् स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि "वह (द्युलोक) इसका पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष आत्मा है, यह (पृथिवी) उरस् (वक्षस्थल अथवा उदर) है, दिशायें पार्श्व हैं, समुद्र कोंखें हैं, यह आदित्य सिर है, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, और गायत्री अभिधानी है। इसका ज्ञाता पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है।'[३]

इसी गाय के यज्ञ-रूप को बताते हुये कहा गया है कि "उत्तरवेदि इसका ऊधस् है, पवमान वत्स है, और इस (तथ्य) को जानने वाला इन समस्त लोकों को दुह लेता है। बृहद्, रथन्तर, वामदेव्य और यज्ञायज्ञिय नामक चार साम इस (यज्ञ-गौ) के चार थन हैं, जिनसे क्रमशः पशुओं, ओषधियों, जल और यज्ञ को दुहा जाता है।[४]

इसी प्रकरण में अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि प्रजापति ने अपने मानस-संकल्प से अथवा आन्तरिक गति से मन को उत्पन्न किया, और फिर क्रमशः मन ने वाक्, वाक् ने विराट्, विराट् ने गौ और गाय ने इडा का निर्माण किया। और वे समस्त भोग और कामनायें इस इडा से ही उत्पन्न होते हैं, जिन्हें मनुष्य भोगता है।[५]

गाय के सात देवगव्य नामों का व्याख्यान देते हुये इनको ब्रह्म, श्रेयस्, विश, मन, वाक्, पशु और अन्न भी कहा गया है। इन नामों से गाय का आह्वान करने वाला इन सब वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है, तथा संग्राम में विजयी होता है।[६]

वस्तुतः यह गो-इडा ही सब कुछ है।[७] इसी विश्वरूपा गाय को उद्दिष्ट करके ही इस याग का अनुष्ठान किया जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस याग

---

१ मै. सं. ४।२।२.
२ ,, ,,
३ ,, ,,
४ ,, ,,
५ ,, ४।२।३.
६ ,, ४।२।६.
७ ,, ४।२।२.

की गो वस्तुत, सृष्टि की समस्त सर्जनात्मक, उत्पादक और पोषक शक्तियों की प्रतीक है। इस गो को जानना मानो सृष्टि की इन्ही समस्त शक्तियों के रहस्य को जानना है, और इन्हें जानने के बाद लोकहित और सवृद्धि के लिये इनका यथायोग्य उपयोग कर लेना ही इसे दुह लेना है।

इस विषय मे यह उल्लेख करना आवश्यक है कि "गोनामिक के रूप में यह यज्ञविधि मैत्रायणी-सम्प्रदाय की विशिष्टता भले ही हो, पर इडा को गो, पशु, अन्न आदि के रूप मे अन्यत्र भी बहुधा वर्णित किया गया है।[1] समस्त यज्ञों की आवश्यक विधि "इडोपाह्वान' और इडा-भक्षण के पीछे वस्तुत इस सर्वदुहा इडा को प्राप्त करने की ही भावना सर्वत्र लक्षित होती है।

अग्निचितियाग

अग्नि का अथवा अग्नि-सन्दीपन के लिये इष्टकाओं का चयन करना-चुनना, यथाविधि सयोजन करना "अग्निचिति" है। ज्येष्ठता के इच्छुक प्रजापति ने सर्वप्रथम इस अग्नि का चयन कर ज्येष्ठत्व प्राप्त किया था। अत अग्निचित् यजमान भी श्रेष्ठ महिमा को प्राप्त करता है।[2] यह अग्नि सवत्सर है। प्रजापति ने इसे ऋतुओं द्वारा चुना था। पक्षी की आकृति वाले इस अग्नि का सामने का भाग वसन्त से, दक्षिणपक्ष ग्रीष्म से, उत्तरपक्ष वर्षा से, पुच्छभाग शरद् से और मध्यभाग हेमन्त से चुने गये।[3] ये ही भाग क्रमश ब्रह्म, क्षत्र, प्रजा, पशु और आशा से भी चुने गये थे। अत अग्नि का चयनकर्त्ता इन सब वस्तुओं को पा लेता है।[4]

अग्नि का चयन अन्न और बल की प्राप्ति के लिये[5] तथा स्वर्गलोक के लिये[6] किया जाता है। अग्नि का चयनकर्त्ता समृद्धि को प्राप्त करता है, अग्निमान् और अग्निविद् बनता है, पशुमान् हो जाता है और सात प्राणों वाले पुरुष का उपजीव्य बनता है।[7]

शतपथ ब्राह्मण मे इस चिति का प्रयोजन और व्याख्यान विशद रूप मे वर्णित है।[8] शतपथकार कहता है कि प्रारम्भ मे सिर्फ प्राण रूप सात ऋषि थे। इन

---

१ श ३।३।१।४, २।३।४।३४, १४।२।१७, १।८।१।२२, ७।१।१।२७, को ३।७, ५।७, २९।३, १३।६, प० २।२, ता. ७।३।१५, १४।५।३१, गो उ १।२५, तैं १।६।६।६, ऐ २।९, १०, ३०, ८।२६
२ मैं स. ३।४।८।१७
३ मैं स ३।४।८।१३ तैं म ५।५।७, का स २२।४.
४ ,, ३।४।८।१३
५ मैं म ३।१।३
६ मैं स. ३।४।८।१३
७ तै. स. ५।५।२
८ श ६।१।१-३.

सप्तर्षियों ने सात पुरुषों (-भागों)-दो नाभि से ऊपर के, दो नीचे के, दो पक्ष और एक प्रतिष्ठा को संयुक्त करके एक पूर्ण पुरुष का निर्माण किया। यही पुरुष प्रजापति है और यही वेह अग्नि है, जिसका चयन किया जाता है[1]। इसी अग्निरूप प्रजापति[2] ने इस जगत् में सर्वप्रथम जिस वस्तु का सृजन किया, वह भी अग्नि ही है। उत्पन्न होने वाले पदार्थों में अग्रणी होने से ही इसका नाम "अग्नि" है।[3] तत्पश्चात् प्रजापति ने अनेकानेक पदार्थों, लोकों और प्रजाओं का निर्माण किया है।[4]

किन्तु प्रजा-निर्माण के श्रम के कारण प्रजापति शिथिलावयव हो गये, उनका शरीर विघटित हो गया। अतः प्रजापति ने अग्नि से अपना सन्धान करने को कहा। इसीलिये इस प्रजापति को अग्नि का "चित्य"-अग्नि द्वारा संचित किया जाने योग्य-भी कहते हैं। और यही प्रजापति रूप अग्नि यजमान का भी "चित्य" है।[5]

पुरुष-प्रजापति के शरीर के लोम, त्वक्, मांस, अस्थि और मज्जा, संवत्सर-प्रजापति के शरीर की पाँचों ऋतुयें और वायु-प्रजापति की पांचों दिशायें विघटित हो गई थीं। यही पाँच-पाँच तत्त्व इस अग्निचितियाग की पाँच चितियां है। अग्नि ने इन बिखरे तत्वों को पुनः संगठित कर सम्यक्त्या यथास्थान चुना था, इसी से ये "चिति" हैं।[6] इस प्रकार प्रजापति ने अग्नि को और अग्नि ने प्रजापति को उत्पन्न किया। अतः प्रजापति अग्नि का पिता भी है और पुत्र भी।[7]

यही बात अत्यन्त संक्षेप में मैत्रायणी और काठक संहिता में भी है।[8] किन्तु इनमें प्रजापति को शिथिल अवयव वाला न कहाकर प्रजाओं में ही अनुप्रविष्ट होने वाला कहा गया है, और प्रजाओं में व्याप्त प्रजापति को देवों ने चुना और वृद्धि प्राप्त की थी। अतः अग्निचित् प्रजापति का ही चयन करता है।

कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में इस याग की पाँचों चितियों को तीनों लोकों, यजमान और यज्ञ का प्रतीक कहा गया है।[9] इनके चयन से तीनों लोकों में यजमान को प्रतिष्ठित किया जाता है, और यजमान को प्रजा, यज्ञ तथा पशुओं की प्राप्ति होती है।

---

१ श. ६।१।१ १-६
२ श. २।३।३।१८, ३।९।१।६, ६।५।३।७, तै. १।१।५।५.
३ श. ६।१।१।११.
४ श. ६।१।१।१२-१५, ६।१।२।१-११
५ श. ६।१।२।१६.
६ श. ६।१।२।१२-१९.
७ श. ६।१।२।२६-२७.
८ मै. सं. ३।४।८।१७, का. सं. २२।७.
९ मै सं. ३।३।३, तै. सं. ५।२।३, का. सं. २२।४.

इससे प्रतीत होता है कि मूलतः अग्निचिति की इस विधि द्वारा सृष्टि-रचना और प्रजोत्पत्ति की जटिल प्रक्रियाओं को प्रतीकात्मक ढंग से सविस्तार वर्णित किया गया है। यथा-"स्वयमातृण्णा" नामक इष्टकायें तीनों लोकों की प्रतीक हैं।[1] "रेतःसिक्" इष्टकायें प्रजोत्पत्ति के लिये रेतम् के आधान के निमित्त रखी जाती हैं।[2] पांच पशु सिरों का आधान प्राणियों के पांच वर्गों का द्योतक है।[3] "प्राणभृत्" नामक दस इष्टकाओं द्वारा दस प्राणों अथवा दस इन्द्रियों की स्थापना की जाती है।[4] दिश्या इष्टकाओं से दिशाओं को स्थिर किया जाता है।[5] १२ "ऋतव्या" इष्टकाओं द्वारा २-२ मासों वाली ६ ऋतुओं को सूचित किया गया है।[6] "विराट्" नामक इष्टकायें वाणी की प्रतीक हैं, अतः इनके आधान से प्राणियों में "वाक्" की स्थापना की गई है।[7] इत्यादि। अतः सृष्टि निर्माण आदि से सम्बन्धित ज्ञान देना ही इसका मुख्य प्रयोजन प्रतीत होता है। यद्यपि भ्रातृव्यनाश के लिये असपत्नेष्टका[8] का और असुरों को छल कर अन्न-ओज की प्राप्ति के लिये "अक्ष्णयास्तोमीय इष्टकाओं[9] जैसे अनेक अवान्तर प्रयोग भी इस यज्ञ का अंग हैं। बहुत सम्भव है कि ऐसे अंश परवर्ती परिवर्धन हों।

डा० कीथ[10] भी ऐसा ही मानते हुए लिखते हैं कि यह यज्ञ वस्तुतः ब्रह्माण्ड-रचना के उस पूर्ववर्ती विचार को कर्मकाण्ड में उतारने का पुरोहितों द्वारा किया गया एक ठोस प्रयास है, जो ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में आदि विराट् पुरुष के शरीर-विच्छेद द्वारा सृष्टि-रचना की प्रक्रिया के रूप में वर्णित है। यह अग्नि-वेदि ब्रह्माण्ड की प्रतीक है, और इस तरह यह यज्ञ ब्रह्माण्ड-रचना के दार्शनिक सिद्धान्त का साकारीकरण है।

---

१ मै स ३।२।६, तै. स ५।२।८, ५।३।२-७, श ७।४।२।८, ८।३।१।१०.
२ ,, ,, का स. २०।६, श. ७।४।२।२४
३ ,, ३।२।७, श. ६।२।१।११-१२, ७।५।२।१
४ ,, ३।२।८, तै. स ५।२।१०, का स २१।३, का ८।४।२।३०
५ ,, ३।२।६, तै. स ५।३।२, का स २०।११, श ८।३।१।११
६ ,, ३।३।३, तै. सं ५।४।२, का स २१।३, श. ७।४।२।२६-३१.
७ ,, ३।२।१०, तै. सं. ५।३।५, का स. २१।२
८ ,, ,, तै. स ५।३।५, का. स २१।२, श ८।५।१।६-७
९ ,, ,, तै स ५।३।३, का स २०।१३
१० वै व द २।४४०-४४१.

पंचम अध्याय

यज्ञों की विधियाँ

जैसा प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि मैत्रायणी-संहिता में १४ यज्ञ हैं—अग्न्याधान, पुनराधान, अग्न्युपस्थान, अग्निहोत्रहोम, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, सौत्रामणी, प्रवर्ग्य, गोनामिक, अग्नि-चितियाग। इनके अतिरिक्त प्रत्येक यज्ञ में यजमान द्वारा किये जाने वाले सामान्य कार्यों का और दर्शपूर्णमास से पूर्व अनुष्ठेय अन्वारमणीयेष्टि का वर्णन भी पृथक् रूप से किया गया है। ये दोनों विधियाँ यहाँ अग्निहोत्रहोम के बाद दी गई हैं।

मैत्रायणी संहिता में यद्यपि सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास का वर्णन है। किन्तु संहिता में यज्ञों को किसी क्रम-विशेष में नहीं रखा गया है और यज्ञ की प्राथमिक क्रिया वस्तुतः अग्न्याधान ही है। अतः यहाँ यज्ञों का क्रम सामान्यतः उनके अनुष्ठान-क्रम के अनुसार रखा गया है। किन्तु यह क्रम चातुर्मास्य और वाजपेय के बाद के स्वतन्त्र यज्ञों के लिये निश्चित नहीं है।

अब क्रमशः सब यज्ञों का विवरण प्रस्तुत है—

अग्न्याधान

काल—

ब्राह्मण यजमान के लिये यह अग्न्याधान फाल्गुनी पूर्णिमा को कृत्तिका नक्षत्र में, राजन्य के लिये ग्रीष्म में उत्तराफल्गुनी नक्षत्र में, और वैश्य के लिये शरद् में किया जाता है। पशुकामी और स्वर्गकामी के लिये रोहिणी, शत्रुनाश के लिये चित्रा और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये पूर्वाफल्गुनी नक्षत्र का समय उपयुक्त है। पूर्णिमा या अमावस्या का समय इसके लिये सदा अनुकूल है।

देवता हवि—

इस यज्ञ का प्रमुख देवता अग्नि है। किन्तु यह अग्नि पवमान, पावक और शुचि उपाधि से युक्त है। अवान्तर देवताओं में अग्नि-विष्णु, शिपिविष्ट विष्णु, अदिति और अग्नि-सोम भी हैं। इनकी हवियाँ ७ होती हैं, जो पवमान, पावक और शुचि अग्नि के क्रमशः आठ-आठ कपालों वाले ३ पुरोडाश, आग्न्यावैष्णव एकादश

कपाल पुरोडाश, शिपिविष्ट विष्णु का घी मे बना तीन उठान वाला चरु, अदिति के लिये चरु और अग्नीषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश हैं।

आधान-विधि

जिस प्रातःकाल अग्नि का आधान करना हो, उससे एक दिन पूर्व यजमान अन्याधान के सकल्प के साथ उपवास रखकर, उसी पूर्वरात्रि को अध्वर्यु होता, अग्नीत् और ब्रह्मा-इन चार ऋत्विजो का वरण कर,[1] शमी वृक्ष पर चढे अश्वत्थ की दो अरणियो से घर के खुले भाग मे अग्निमन्थन कर, उस अग्नि पर चार तश्तरियो के परिमाण के अखण्डित चावलो को पकाकर ब्रह्मौदन[2] तैयार करता है। पके हुये ब्रह्मौदन पर प्रचुर घी डाला जाता है। यजमान इस ब्रह्मौदन को चारो ऋत्विजो को खिलाकर, अवशिष्ट ब्रह्मौदन को अश्वत्थ या शमी की तीन समिधाओ से हिलाकर उन समिधाओ को अग्नि मे रख देता है।

इस प्रक्रिया द्वारा यजमान अन्याधान की पूर्वभूमिका प्रस्तुत करता है। अत उसे कुछ नियमो का पालन करना पड़ता है। अब वह न किसी अन्य के घर से अग्नि ला सकता है, और न ही कोई उसके यहाँ से अग्नि ले जा सकता है। उसका घर से बाहर जाना, असत्यभाषण, मास भक्षण और स्त्री-सग भी निषिद्ध होता है[3]। इस ब्राह्मौदनिक अग्नि को वर्ष भर तक अथवा १२, ३ या एक रात तक लगातार प्रज्वलित रखा जाता है। आगामी क्रिया इस प्रज्वलन-काल की समाप्ति पर होती है।

अध्वर्यु अन्याधान की पूर्व रात्रि को ब्राह्मौदनिक अग्नि के उत्तर-पूर्व मे एक बकरे को बांधता है, और यजमान रात्रि भर अग्नि के पास रहकर जागरण करता है। उपवासपूर्वक अग्नि के निकट का यह रात्रि-जागरण ही यजमान का "उपवसथ-दिन"-देवता की सन्निधि मे रहने का दिन-कहलाता है। इन उपवसथ दिनों की सख्या अन्य यज्ञो मे कम-अधिक भी होती है।

---

१ यद्यपि मा श्रौ सू (१।५।१।१५,२१) के अनुसार अग्नीत् के स्थान पर उद्गाता का उल्लेख है। किन्तु मैत्रायणी सहिता (१।६।४) मे अग्नीत् का स्पष्ट उल्लेख है। स्वत मा श्रौ सू (१।६।४।४) भी अग्नीत् का उल्लेख करता है। विशेष विवरण के लिये दूसरे अध्याय के पृष्ठ सख्या २४ तथा २५ देखिये।

२ यज्ञ मे प्रयुक्त वस्तुओ (यथा-ब्रह्मौदन) आदि और क्रियाओ (यथा अभिमन्त्रण, प्रोक्षण आदि) के पारिभाषिक शब्दो के अर्थ के लिये कृपया परिशिष्ट (क) देखिये।

३ मा श्रौ सू १।५।१।२७-३०, तै १।१।६।७

आयतन-निर्माण

अब अगले दिन पौ फटने पर यजमान दो अरणियों पर अग्नि को रखता है, और अध्वर्यु ब्राह्मौदनिक अग्नि को बुझाकर,[1] उसकी राख को साफ करके वहाँ गार्हपत्याग्नि के लिये आयतन का निशान बनाकर उस जगह को खोदकर उस पर जल छिड़कता है। गार्हपत्य की बिलकुल सीध में पूर्व की ओर २४ कदमों की दूरी पर आहवनीय के लिये और दोनों के मध्य में दक्षिण-पूर्व की ओर दक्षिणाग्नि के लिये आयतन का निशान बनाकर पूर्ववत् इन्हें भी खोदकर जल से नम किया जाता है[2]। तत्पश्चात् क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के आयतनों में वराह-विहत, वल्मीकवपा, ऊषा, सिकता, शर्करा, आखुकिरि और हिरण्य इन सात पार्थिव सम्भारों को मिलाकर डालते हैं, तथा सम्भारयुक्त आयतनों को पूर्वक्रम से अभिमर्शित किया जाता है। आयतनों के अगले भाग में व्रीहिका और पिछले भाग मे यव का अपूप भी रखा जाता है।

गार्हपत्याधान—

अब अध्वर्यु गार्हपत्याग्नि के लिये आयतन के पिछले भाग में मूंज अथवा जल्दी आग पकड़ने वाली कोई अन्य वस्तु रखकर, उस पर दो दर्भों को रखते हुये उन पर क्रमशः अधरारणि और उत्तरारणि रखकर दोनों को परस्पर रगड़कर अग्नि उत्पन्न करता है, और यजमान अपने हृदय प्रदेश को छूते हुये मन्त्र का जप करके ३ बार फूँक मारकर अग्नि को प्रदीप्त करता है। एक मन्त्र अध्वर्यु स्वतः जपकर एक को यजमान से बुलवाता है, और एक को दोनों मिलकर बोलते हैं। अध्वर्यु यजमान के वर्णानुसार आधान-मन्त्र बोलकर मथित अग्नि को "भूर्भुवः" कहकर पीछे और "भुवःस्वः" से आगे करके आयतन के मध्य में स्थापित करता है, और वारवन्तीय साम का गान कर लेने पर अग्नि को रखकर छोड़ देता है। यही "गार्हपत्याग्नि का आधान" है।

इस स्थापित अग्नि में अश्वत्थ और शमी की ३-३ तथा उदुम्बर की एक समिधा रखी जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लकड़ियाँ भी अग्नि में रखी जाती हैं,[3] जिनसे बाद में आहवनीयाग्नि को प्रज्ज्वलित करते हैं। इन्हीं लकड़ियों को "अग्निप्रणयन"-अग्नि लेकर चलने वाली-कहा जाता है।

---

१ मा. श्रौ. सू. १।५।२।६, तै. १।१।६।६

२ क्रियाओं का अनिर्दिष्ट कर्त्ता सर्वत्र अध्वर्यु ही माना जाना चाहिये। अन्य विशिष्ट कर्त्ता का उल्लेख स्पष्टतः कर दिया जायेगा। (मा. श्रौ. सू. १।१।१।१०)

३ मा. श्रौ. सू. १।५।३।१६.

दक्षिणाग्न्याधान—

गार्हपत्याधान के अनन्तर अध्वर्यु एक अश्व को अभिमन्त्रित करता है, और यजमान अश्व के दायें कान में एक मन्त्र बोलता है। इसके बाद उपयमनी मे अवशिष्ट सम्भारो को लेकर उनपर अग्नि को उठाकर उसे आग्नीध्र को[1] देकर उत्तराभिमुख होकर अध्वर्यु दक्षिणाग्नि का आधान करता है, अथवा दक्षिणाग्नि का आधान पशुकामी यजमान के लिये किसी प्रचुर पशुओं के स्वामी के घर से और अन्नकामी के लिये भाड मे से अग्नि लाकर किया जाता है। वामदेव्य सामगान के बाद इस अग्नि को रखकर छोड दिया जाता है। यही "दक्षिणाग्न्याधान' है।

आहवनीयाधान—

अब गार्हपत्य मे से पूर्वोक्त प्रज्ज्वलित अग्निप्रणयन लकडियों को लेकर, अभिमन्त्रित अश्व को आगे करके सब ऋत्विज् और यजमान आहवनीयायतन की ओर चलते हैं। यजमान अग्नि के दक्षिण की ओर चलता है, तथा रास्ते के बीच मे अध्वर्यु को "वर"[2] देता है। आयतन के पास पहुंचकर अध्वर्यु आयतन के उत्तर की ओर से घूमकर अश्व के दायें पैर से सम्भारों को लघवाकर आयतन की परिक्रमा करता है, और अश्व को वापिस घुमाकर उन अग्निप्रणयनों को क्रमश एडी, जघा, नाभि और कन्धे तक की ऊँचाई पर लाकर पूर्ववत् वर्णानुसार आधानमन्त्र बोलकर "भुव स्व ' इन व्याहृतियो के साथ सम्भारों पर पड़े अश्व के पदचिह्न के समीप पश्चिमाभिमुख खड़े होकर सूर्योदय के समय आहवनीय अग्नि का आधान करता है, और यज्ञायज्ञिय समगान करते हुये उसे पकडे रहता है, गान-समाप्ति पर अग्नि को छोडकर अलग हो जाता है। यदि यजमान राजन्य हो, तो इसके आधान-काल मे ब्रह्मा तीन बार एक रथ चक्र को घुमाता है। यही आहवनीयाग्नि का आधान है।

आधानोत्तरकर्म—

इस प्रकार इन तीनों अग्नियों के आधान के बाद यजमान क्रमश गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और अहवनीयाग्नि की उपासना करता है। ऋत्विज् सब अग्नियों के चारो ओर सफाई करके, जल छिड़ककर, बर्हि बिछाकर, दक्षिणाग्नि पर आज्य को पिघलाकर और गार्हपत्य पर रखकर आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग करते हैं।[3] अध्वर्यु शमी की तीन समिधाओं को आज्य से चिकना करके और उदुम्बर की एक आज्यरहित समिधा को स्वाहा-कारपूर्वक आहवनीय मे रखकर एक पूर्णाहुति और एक "अग्नि विपराशयनीय" अग्नि को वापिस लाने की-आहुति देता है।

---

१ मा. श्रौ सू १।५।४।४.

२ देखिये परिशिष्ट "क" मे

३ मा. श्रौ सू १।५।४।१८.

आधानांगेष्टि—

अब पूर्वरात्रि के बंधे हुये बकरे को खोलकर आहवनीय के सामने कुछ स्थान खोदकर[1] उसे जल से प्रोक्षित करके, आहवनीय से अग्नि लेकर सभ्याग्नि का आधान किया जाता है, और सभ्य के सामने इसी तरह अवसथ्य अग्नि को भी स्थापित किया जाता है।[2] सभ्य के उत्तर में द्यूतक्रीडा के लिये और पूर्व में आमन्त्रण स्थल के लिए बर्हि विछाकर स्थान तैयार किया जाता है। द्यूतभूमि के मध्य में हिरण्य रखकर एक आहुति दी जाती है और भूमि में पांसों को फैलाकर एक आहुति सभ्य में देते है। यजमान गाय को सामने लाता है, और अध्वर्यु यजमान को सौ पांसे देता है, जिन्हें यजमान चुनता है, और उनसे जुआरियों को जीतकर सभा में गाय से दांव खेलने का आदेश लेता है। गाय जोड़ों को हानि न पहुंचाते हुये उसे सभासदों के पास लाया जाता है। गाय के द्वारा यजमान जो कुछ जीतता है, वह ब्राह्मणों को दे देता है।

तदन्तर अध्वर्यु, आवसथ्य में एक आहुति देकर एक मन्त्र आमन्त्रण स्थल में बोलता है। अन्त में यजमान पश्चिम की ओर से पूर्वाभिमुख होकर गार्हपत्य की, पूर्व से पश्चिमाभिमुख होकर आहवनीय की, दक्षिण से उत्तराभिमुख होकर दक्षिणाग्नि की तथा मध्य में खड़े होकर सब अग्नियों की सम्मिलित उपासना करता है।

---

१ मा. श्रौ. सू. १।५।५।५.

२ मैत्रायणी संहिता के ब्राह्मण (१।६।३-२०) में 'आवसथ्य' नाम का कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।१०) में पांचों अग्नियों का आख्यान पूर्वक निर्देश है, और इस स्थल पर तथा आगे इन पाँचों अग्नियों के उपासना-मन्त्रों (तै. १।२।१।२६) में भी आवसथ्याग्नि के लिये 'अहे बुध्नियं' शब्द वाले मन्त्र का प्रयोग है। और इसी शब्द वाला मन्त्र मैत्रायणी में (१।६।२।३२) में इसी स्थल पर है, और मानवश्रौत सूत्र (१।५।५।१०, १७) के अनुसार सभ्य और आवसथ्य में आहुति देने मे विनियुक्त हैं। इसी आधार पर यहाँ आवसथ्याग्नि के आधान और आगे उसमें आहुति का उल्लेख किया गया है। काठक (६।८, ८।७) में इसी अग्नि को 'आमन्त्रण' कहा गया है।

यद्यपि शतपथ (२।१।४) में सभ्य और आवसथ्य के आधान का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु उपस्थान-प्रकरण श. (२।३।२।१-३) में अनशनन् सांगमन् और 'असन् पांसु' नामक दो अन्य अग्नियों का भी वर्णन है और 'सायण श. ब्रा. मा. (२।७६-७७) में इन्हें क्रमशः सभ्य और आवसथ्य ही कहते हैं। स्वतः शतपथ (२।३।२।३) भी प्रथम अग्नि को 'सभायां अग्निः' कहता है, और २।३।२।८ में ''आवसथ'' नाम भी देता है।

अग्न्याधान की इस प्रमुख-विधि के बाद अब पवमानेष्टि की उत्तराहुति के लिये हवियाँ तैयार की जाती हैं। सर्व प्रथम पवमान अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश बनाने के लिये हवि निकाली जाती है[1]। इस हवि के तैयार हो जाने पर क्रमश: पावक अग्नि और शुचि अग्नि के लिये अष्टाकपाल का १-१ पुरोडाश, अग्नि-विष्णु के लिये एकादश कपाल पुरोडाश, शिपिविष्ट विष्णु के लिये घृत में बना चरु, पशुकामी के लिये अदिति देवता का चरु और अग्नि-सोम के लिये एकादशकपाल पुरोडाश की हवियाँ बनाई जाती हैं। इनसे अनुष्ठान कर लेने पर अध्वर्यु अदिति के चरु को ब्रह्मा के लिये लाता है, और चारो ऋत्विज इसे खाते है। इन चारा को यजमान ममान वर देता है। साथ ही अग्नीत् को एक अज और सर्वसूत्र का तकिया, अध्वर्यु को बैल, होता को दुधारी गाय और प्रत्येक ऋत्विज को बैल का एक जोड़ा, दो वर्षीय साण्ड और सौ के परिमाण वाले सोने की दक्षिणा भी दी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रथम दो हवियों की त्रिंशन्मान और शेष की चत्वारिंशन्मान स्वर्ण की दक्षिणा सबको और अध्वर्यु को दो वस्त्र और दिये जाते हैं।

इस अग्न्याधान की समस्त विधि के बाद शाम को अग्निहोत्र की आहुति दी जाती है और फिर प्रात भी अग्निहोत्र किया जाता है।[2] किन्तु राजन्य के यहाँ सिर्फ अमावस और पूर्णिमा को ही अग्निहोत्र होता है[3]।

इस अग्न्याधान के बाद जो यजमान सोमयाग न करना चाहे, वह चतुशराव चावल पकाकर ब्राह्मणो को खिलाये, वर्ष भर तक हवि न निकाले, और जिन देवताओं के लिये अग्नि का आधान किया है, उन्हें सिर्फ आज्य की आहुति दे, यह भी विधान है।

पुनराधान

काल—

वर्षा या शरद् ऋतु में पुनर्वसु नक्षत्र के समय पुनराधान का विधान है।

देवता-हवि—

यह विधि अग्नि के लिये ही अनुष्ठित की जाती है। किन्तु मुख्य विधि "अग्न्याधान" की ही होने से उसी के सब देवता और हवि इसके भी हैं। इसमें अग्नि के एक पाँच कपालों वाले पुरोडाश की हवि अधिक है। इस तरह इसकी कुछ हवियाँ ८ हैं।

---

१ हवि निकालने, पुरोडाश पकाने तथा आहुति देने की विस्तृत विधियाँ दर्शपूर्ण-मासयाग में वर्णित हैं।

२ तै ब्रा भा (१ ४१) में स्पष्ट किया गया है कि यह अग्निहोत्र की आहुति दैनिक अग्निहोत्र की नहीं है, अपितु अग्न्याधान के बाद अग्नि को प्रदीप्त रखने के लिये आवश्यक होने के कारण इस अग्न्याधान का ही भाग है।

३ मैं स १।६।१०.

विधि

इस पुनराधान की समस्त प्रक्रियायें पूर्व वर्णित अग्न्याधान के समान ही होती हैं। अतः उस विधि में किये गये विशिष्ट परिवर्तनों-परिवर्धनों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

सामग्री-सम्बन्धी विशेष परिवर्तन यह है कि पुनराधान की अग्नि को काष्ठों (लकड़ियों) के स्थान पर दर्भों से स्थापित किया जाता है।

अग्न्याधान-सम्बन्धी प्रक्रियाओं को यथापूर्व अनुष्ठित करते हुये जब तीनों अग्नियों के आधान के समय सामगान होता है,[1] उस गान के बाद नये विशिष्ट १-१ मन्त्रों से तीनों अग्नियों को यथासमय प्रदीप्त कर उनका आधान किया जाता है, और पूर्णाहुति से पूर्व छह संतत होमाहुतियाँ दी जाती हैं।

मूल आधान-विधि में यही दो परिवर्धन हैं। इनके अतिरिक्त उत्तराहुति की हवियों में अग्निदेवता की एक नई पंचकपाल पुरोडाश की हवि तैयार की जाती है, और सब हवियों के प्रयाजों और अनुयाजों को तथा दोनों आज्यभागों को भी अग्नि देवता के बनाकर ही प्रयुक्त किया जाता है। इन प्रयाजों से पूर्व एक विशिष्ट आहुति और अनुयाजों के बाद चार नयी आहुतियाँ दी जाती हैं।

यही इस पुनराधान की विशिष्ट प्रक्रियाएँ हैं।

इस पुनराधान के लिये पुनः सिया गया वस्त्र, पुनः निर्मित रथ और पुनरुत्सृष्ट बैल की दक्षिणाविशेष का भी विधान है।

अग्न्युपस्थान[2]

काल—

अग्न्याधान के बाद उसी दिन सायंकालीन अग्निहोत्र के बाद[3] यह विधि अनुष्ठेय है।

---

१ मा. श्रौ. सू. १।६।५।७.

२ श. (२।३।२), मै. सं. (१।५।५), का. सं. (६।९-११) और श्रौतकोश (पृ. ५५-८३) में यह अग्न्युपस्थान अग्निहोत्र का एक अंग माना गया है। किन्तु सम्भवतः इसका स्वतन्त्र प्रयोजन होने के कारण ही सर्वत्र इसे पृथक् रूप में ही वर्णित किया गया है।

श. (२।३।२।४) में उपस्थान के सामान्य प्रकार को व्यक्त करते हुये कहा गया है कि "सुबह-शाम आहवनीय के समीप खड़ा होना और बैठना आहवनीय का उपस्थान है, और आहवनीय से लौटकर गार्हपत्य के पास बैठना या सोना गार्हपत्य का उपस्थान है। तथा (एक अग्नि से दूसरी अग्नि तक) जाते समय दक्षिणाग्नि का स्मरण करना दक्षिणाग्नि का उपस्थान है।" अतः मन्त्र सहित इस उपस्थान को शतपथ ब्राह्मण (२।३।३।२०) में "महतोवय" कहा गया है।

३ मै. सं. (१।५।७) में स्पष्ट किया गया है कि यह उपस्थानविधि सिर्फ सायंकाल

(शेष अगले पृष्ठ पर)

देवता-हवि—

अग्नि देवता है। हवि के रूप मे सिर्फ समिधाओ का ही प्रयोग होना है।

उपस्थान—विधि

सायकालीन अग्निहोत्र के बाद सर्वप्रथम आहवनीय की उपासना की जाती है।[1] इस उपासना में पूर्वपक्ष-पूर्णिमा के समय-अग्नीषोमीय ऋक् और अपरपक्ष-अमावस-मे ऐन्द्राग्न ऋक् अवश्य बोली जाती है। अग्नीषोमीय ऋक् से पूर्व विहव्य[2] की चार ऋचाओ का जप भी किया जाता है। क्षत्रिय के लिये एक विशिष्ट मन्त्र से भी उपासना का उल्लेख हैं। इस उपासना के बाद आहवनीय मे क्रमश अग्नि, सोम और यम देवता से सम्बन्धित ३ समिधाओ का आधान कर पुन तीन बार आहवनीयोपासना की जाती है।

इसके बाद गायो को गोष्ठ मे प्रविष्ट करते हुये एक बछड़े का स्पर्श किया जाता है,[3] और गार्हपत्य की उपासना कर लेने पर यजमान गायो को और और गायें यजमान की ओर देखती हैं।

तत्पश्चात् प्रजापति, ब्राह्मणस्पति, मित्र और आदित्य के मन्त्रो से पुन आहवनीय की उपासना की जाती है।

यदि प्रतिपक्षी निकृष्ट हो, तो एडी से, समान हो तो दायें पैर से और उच्च-स्तर का हो तो पैर के अग्रभाग से पृथ्वी को दबाया जाता है, और इससे सब प्रकार के शत्रुओ को पराजित कर दिया जाता है।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

को ही की जाती है, प्रात काल नही। इस वर्णन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि यह प्रति सायकाल अथवा प्रति पक्ष अमावस और पूर्णिमा की सध्या को-अनुष्ठेय है। मै स (१।५।६) और तै म भा (२।६४२) आहवनीयोपस्थान के उत्तर षट्क को ही वर्ष मे एक बार प्रयुक्त करने का निर्देश देने लगते हैं। किन्तु मा श्रौ. सू (१।६।२।४) और श (२।३।३।२०) से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्भवत वर्ष में एक बार-अग्न्याधान के बाद प्रथम बार अनुष्ठित अग्निहोत्र के समय ही यह महत् उपस्थान किया जाता है। मानवश्रौतसूत्र (१।६।२।४) इसका वास्तविक समय अग्निहोत्र की प्रथम आहुति के बाद का निर्दिष्ट करता है। किन्तु अन्यत्र ऐसा कोई उल्लेख नही है।

१ इस प्रकरण के कर्ता के लिये अग्निहोत्रविधि की टिप्पणी १ द्रष्टव्य है।

२ ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१२८) की ऋचाओ को "विहव्य" कहते हैं, क्योंकि उनमे "विहवे" शब्द का प्रयोग है। (तै म भा ६।३२६७)।

३ इस पशु-स्पर्श के बाद अग्नि का स्तुति रूप मे चयन किया जाता है, अत गार्हपत्याग्नि को "पशुचित्" भी कहते है। (तै स. १।५।८)

अब क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशा की उपासना की जाती है, और अन्त में दोनों अग्नियों के मध्य में बैठकर ज्योतिर्मय अग्नि का ध्यान किया जाता है।

प्रवासोपस्थान विधि

यदि एक साथ दस रातें घर से बाहर रहना पड़े, तो जाने से पूर्व तीनों अग्नियों की विशिष्ट उपासना करनी आवश्यक है। यही उपासना-विधि "प्रवासोपस्थान" (प्रवास-सम्बन्धी उपस्थान) अथवा "प्रवत्स्यदुपस्थान" (जाने के लिये तैयार यजमान द्वारा किया गया उपस्थान) कहलाती है।

जब जाने की पूरी तैयारी हो चुकी हो, और वाहन में सब कुछ जोड़ा जा चुका हो, तब दसवें अर्थात् अन्तिम दिन आहवनीय में वास्तोष्पति-सम्बन्धी दो मन्त्रों को बोलकर एक आहुति देते हैं, और आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि की उपासना द्वारा इनसे क्रमशः अपने पशु, प्रजा और अन्न की रक्षा करने की प्रार्थना की जाती है। अंत में गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य में स्थित होकर एक मन्त्र के जप द्वारा घर-बार को अहोरात्ररूपी मित्रा-वरुण को सौंपकर प्रवास के लिये प्रस्थान कर दिया जाता है।

इसी प्रकार प्रवास से वापिस आने पर भी उपासना की जाती है। सर्वप्रथम अग्नि-सामान्य को सम्बोधित कर अग्नियों की भस्म की उपासना करते हैं, और फिर पूर्ववत् आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि की उपासना और दो अग्नियों के बीच में खड़े होकर मन्त्र-जप द्वारा अपनी सब वस्तुओं को सुरक्षित रूप में पुनः प्राप्त कर लिया जाता है।

अग्निहोत्रहोम

काल—

यह होम प्रतिदिन दो बार-सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के समय (प्रदोपकाल में) किया जाता है। सायंकालीन आहुति सूर्यास्त के बाद दी जाती है। दोनों समय की विधि में पूर्ण समानता है, सिर्फ आहुति-मन्त्र की भिन्नता है।

देवता-हवि—

इसके देवता अग्नि, सूर्य तथा प्रजापति है। हवि के लिये दूध-पयस् का ही विधान है। अन्यत्र[1] वैकल्पिक प्रयोगों में अभीष्ट कामनानुसार आज्य, दही और यवागू के प्रयोग का भी उल्लेख है।

---

१ मा. श्री. सू. १।६।१।२३, तै. २।१।५, का. सं ६।३.

होमविधि

यजमान अथवा अध्वर्यु[१] प्रात पौ फटने पर और अपराह्न में सूर्यास्त से पूर्व[२] गार्हपत्याग्नि से अग्नि लेकर आहवनीय अग्नि को जलाता है[३]। गार्हपत्य और आहवनीय के चारो ओर बर्हि बिछाकर[४] एक बडी सी समिधा, स्रुव और अग्निहोत्र-हवणी को गार्हपत्य के उत्तर में रखता है और किसी आर्य-ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य द्वारा बनाई गई ऊर्ध्वकपाला स्थाली मे और एक दोहनपात्र मे दो गायो का दूध दुहता है। दुहते समय यदि दूध नीचे गिर जाये, तो उसे पानी से धो दिया जाता है। गार्हपत्य से उत्तर की ओर अगारे निकालकर उन पर दूध का पात्र रखकर उस गर्म होते हुये दूध को मन्त्रपूर्वक देखता है, और समन्त्रक ही उसे तपाता है। उबाल आने पर दूध मे पानी के छीटे देकर बिना अधिक पकाये तुरन्त उसे उत्तर की ओर उतार लिया जाता है।

अब स्रुव और स्रुक् अर्थात् अग्निहोत्रहवणी को गार्हपत्य मे तपाकर[५] दुग्ध-

---

१ मैत्रायणी संहिता के अग्निहोत्र ब्राह्मण (१।८) मे कही भी कर्त्ता का स्पष्ट नामोल्लेख नही है। मानवश्रौतसूत्र (१।६।१।१) के अग्रेजी अनुवाद (पृ ३३) के अनुसार गार्हपत्य से आहवनीयाग्नि को प्रज्ज्वलित करने का निर्देश यजमान देता है और अन्य सब क्रियायें अध्वर्यु करता है। किन्तु सायण (तै ब्रा भा १।३६७) के "अतौ वह्नौ द्वे आहुति हुत्वा यजमानो प्राश्नीयात्। यदाऽन्यो जुहोति तदा अन्य प्राश्नीयात्।" कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समस्त होमविधि को यजमान स्वय भी कर सकता है, और किसी अन्य व्यक्ति से भी करवा सकता है। निस्सन्देह यह "अन्य व्यक्ति" अध्वर्यु भी हो सकता है, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।३।८) मे अग्निहोत्र के एक ऋत्विक् के उल्लेख से स्पष्ट भी है। किन्तु इस याग मे अध्वर्यु की स्थिति अन्य यागों की तरह दक्षिणाधिकारी ऋत्विग् की न होकर यजमान के कुल पुरोहित की-सी ही होगी, जो यजमान द्वारा स्वत कार्य न कर सकने पर सर्वांश में यजमान का प्रतिनिधि बनकर ही यज्ञ-कार्य करता है, वरण किया हुआ तात्कालिक ऋत्विग् नही होता है। डा० नरेशचन्द्र पाठक ने अपने शोध-प्रबन्ध "ऋग्वैदिक यज्ञ-कल्पना" (पृ २) मे पुरोहित और ऋत्विग् मे यही पार्थक्य बताते हुये अग्निहोत्र के अनुष्ठाता के रूप में पुरोहित का उल्लेख भी किया है। इस होम के दैनिक और अदक्षिणा वाले होने से इस विचार की पुष्टि भी हो जाती है।

२ श २।३।१।७

३ मा श्रौ सू १।६।१।१

४ मा श्रौ. सू १।६।१।११-१२

५ ,, ,, १।६।१।२५, तै २।१।३।५

स्थाली में से चार बार सूत्र द्वारा दूध को निकालकर हवणी में डाला जाता है, और उस उन्नीत हवि को दशहोतृ-मन्त्र द्वारा छूते हैं। उस दुग्ध-हवि और समिधा को लेकर आहवनीय की ओर जाते हैं, और हवणी को आहवनीय के चारों ओर बिछी दर्भ पर मन्त्रपूर्वक रख देते हैं। प्रजापति देवता वाली उस समिधा को आहवनीय में रखकर सामने बैठकर, "भूर्भुवः स्वः" इन व्याहृतियों को मन्त्र से पूर्व जोड़कर कालोपयुक्त-अर्थात् शाम को अग्नि-सम्बन्धी और सुबह सूर्य-सम्बन्धी समन्त्रक प्रथमाहुति दी जाती है और प्रजापति-सम्बन्धी दूसरी आहुति अधिक हवि की, पर अमन्त्रक ही देते हैं। कुछ हवि हवणी में बचा लेते हैं और उसे पुनः मन्त्रपूर्वक दर्भ पर रख देते हैं। तत्पश्चात् हवणी को तीन बार उत्तर की ओर निर्दिष्ट करके रुद्र देवता का मन्त्र बोलते हैं। हवि को अंगुली द्वारा दाँतों से न छुआते हुये समन्त्रक खाते हैं। हवणी को दक्षिण में दर्भों पर साफ करके पितरों और औषधियों को तृप्त करते हैं। इस हवणी को प्रातःकाल मुख की ओर से तथा सायंकाल बिल की ओर से शुरू करके स्वच्छ करते हैं[1]। अब अग्निहोत्रहवणी को आहवनीय पर तपाकर हाथ पर रखकर, अपने हाथ को तपाकर उस पर हवणी को रखकर वापिस गार्हपत्य की ओर लौटकर एक समन्त्रक आहुति गार्हपत्य में दी जाती है।

अग्निहोत्र की यही विधि है।

यजमान द्वारा अनुष्ठेय यज्ञ-कर्म

अन्याधान के अनन्तर दर्शपूर्णमासयज्ञ ही प्रथम अनुष्ठेय इष्टि यज्ञ है। अतः इसके वर्णन में पूर्व यज्ञ में यजमान द्वारा करणीय कर्मों का उल्लेख करना उचित होगा। दर्शपूर्णमास अन्य समस्त इष्टियागों का प्रकृतियाग भी है। अतः यजमान के ये कार्य अन्य इष्टियज्ञों में भी निहित हो जाते हैं। संहिताओं में इन कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों और व्याख्यानों को पृथक् रूप से ही संकलित किया गया है[2]। इनके अतिरिक्त यजमान द्वारा अनुष्ठेय विशिष्ट कर्म यज्ञों के अपने-अपने प्रकरणों में ही निर्दिष्ट है।

यजमान और उसकी पत्नी स्नान आदि द्वारा शरीर शुद्धि कर यज्ञ को करने का संकल्प लेकर पूर्णिमा और अमावस के दिन अथवा इनसे एक दिन पूर्व चतुर्दशी को उपवास रखते हैं, और इसी दिन यजमान आहवनीयाग्नि में एक समिधा रखकर सर्वप्रथम अग्नि का ग्रहण कर लेता है[3]। यह दिन यजमान का उपवसथ-दिन है। यदि उपवास चतुर्दशी को रखा गया हो, तो अगले दिन, अन्यथा उसी दिन दम्पती

---

१ तै. ब्रा. भा. १।३६८.

२ मै. १।४, तै. सं. १।६।२-११, का. सं. ५ ३१.

३ मै. सं. १।४।५

अपने उपवास की समाप्ति पर व्रतरूप भोजन या दूध[1] को ग्रहण करते हैं। यह भोजन घृतयुक्त और स्वल्प होना चाहिये, धान्य आरण्यक हो, और इसमें उड़द और माष का सर्वथा निषेध है[2]। यह व्रत-ग्रहण दर्शयाग मे बछड़ो को हटाने से पूर्व किया जाता है, और पूर्णमासयाग मे बर्हि लाने से पूर्व लेते हैं। इसके बाद हाथ धोकर यजमान आहवनीय अग्नि की उपासना करता है।

अब निम्नलिखित क्रियायें यजमान यथा समय—जब जब अध्वर्यु अथवा ऋत्विज तत्सम्बन्धी अपना-अपना कार्य कर रहे हों, तब—करता है।

अध्वर्यु द्वारा हवि निकालने से पूर्व यजमान अग्निहोत्रहवणी और स्प्य को छूता है। जब वेदि को ग्रहण किया जा रहा हो, तब यजमान प्रमा, अभिमा, प्रतिमा आदि छन्दों के द्वारा वेदिरूप यज्ञ का ग्रहण करता है। आज्य-ग्रहण के समय यजमान विविध पदार्थों के धारण के लिये आज्य को लेने के मन्त्र बोलता है। हवि तैयार हो जाने पर जब वेदि के समीप रख दी जाती है, तब उस अवस्थित हवि को छूकर यजमान चतुर्होतृ-मन्त्र और विहव्य की ऋचायें बोलता है। होता द्वारा सामिधेनी-मन्त्र पढ़ने से पूर्व यजमान दशहोतृ-मन्त्र जपता है। प्रवर-प्रवरण हो जाने पर यजमान प्रवररूप देवों, पितरो से कल्याण-कामना करता है। प्रयाज-विधि से पूर्व यजमान चतुर्होतृ-मन्त्र का जप करता है। हवि-अनुष्ठान से पूर्व यजमान पञ्चहोतृ-मन्त्र को जपता है। जब होता इडोपाह्वान के मन्त्र बोलता है, उसी समय यजमान भी इडा-रूप शक्ति को धारण करने की प्रार्थना करता है। जब पुरोडाश के चार टुकड़े करके उसे बर्हि पर रख दिया जाता है, तब यजमान उस बर्हिस्थित विभक्त पुरोडाश को छूता है। अनुयाज-विधि से पूर्व यजमान सप्तहोतृ-मन्त्र का जप करता है। यज्ञ-समाप्ति के समय जब प्रस्तर को वेदि पर से हटाया जाता है, तब यजमान अपनी कामनाओं को देवों तक पहुँचाकर उनकी पूर्ति की प्रार्थना करता है। जब परिधियाँ हटाई जाती हैं, तब यजमान भी इनके विमोचन का मन्त्र बोलता है। जब परिधियों

---

१ तै स भा (२।७२३) में स्पष्टत व्रत का अर्थ भोजन दिया गया है। अग्निष्टोम के दीक्षा-प्रकरण मे श (३।२।२।१०) में व्रतपान का उल्लेख है, और सायण (श ब्रा भा ३।५०, इसे स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि "श्रृत क्षीर दीक्षित एव पिबति।"

श (६।६।४।५, ७।५।१।२५) और ता (२२।४।५, २३।२७।२) में स्पष्टतः अन्न को व्रत कहा गया है। यज्ञ-काल मे विशिष्ट नियम के कारण विहित होने से अन्न को व्रत कहना उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि "वृणुते स्वीक्रियते इद व्रतरूपेण इति व्रत दुग्धमन्नं वा।'

२ मा श्रौ सू १।४।१।५-६, तै स भा २।७२३, श १।१।१।१०

पर "संस्रावभाग" की आहुति दी जाती है, उस समय यजमान यज्ञ के यजन से उसके सम्यक् दोहन का वर्णन करता है और अन्त में यजमान वरों को चुनता है।

ऋत्विजों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ की प्रधानविधि सम्पन्न हो जाने पर पर अब मुख्यतः यजमान के कार्यों से सम्बन्धित प्रक्रिया का वर्णन है।

यजमान अपने भाग की हवि को खाकर[1] यज्ञ को अपने में धारण करता है। यदि यजमान प्रवास पर जाये तो अध्वर्यु समिष्टयजुष् की आहुति दे[2]। यजमान वेदि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर प्रणीता जलों में डाली जाती हुई अविच्छिन्न जल-धारा को अनुमन्त्रित कर अग्नि के ताप को शान्त कर उसे अपने में धारण करता है। इसी जल से क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशा में जल-सिंचन कर यजमान यज्ञ को संशोधित और शान्तिप्रद बनाता है।

अब यजमान अपने दाहिने पैर से वेदि के दक्षिण से पूर्व की ओर आते हुये तीन विष्णु-क्रमों को चलता है, और इनसे क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों को जीतकर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। यदि अभिचार करना हो, तो अपने द्वेषी का नाम लेकर अपनी एड़ी से प्रदक्षिणा कर अपने शत्रु के प्राणों को घेर लेता है। यदि अभिचार न करना हो, तो चुपचाप प्रदक्षिणा कर लौट आता है, और गार्हपत्याग्नि की उपासना करता है। वंश की अविच्छिन्न परम्परा के लिये अपने पुत्रों का नाम लेता है और अन्त में अतिमुक्ति के मन्त्रों से क्रमशः पृथिवी गार्हपत्य, अन्तरिक्षस्थ दक्षिणाग्नि और द्युलोकस्थ आहवनीयाग्नि की उपासना करता है।

इस सम्पूर्णयाग की समाप्ति पर पूर्णमासयाग के उपरान्त यजमान सरस्वती के लिये चरु और सरस्वान् के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि बनाकर इनकी आहुति देता है।

---

१ यह कहना कठिन है कि इडाभक्षण के समय यजमान द्वारा अपने भाग को खाना और यह हविभक्षण एक ही क्रियायें हैं, अथवा अलग-अलग दो क्रियायें। मा. श्री. सू (१।४।३।५) में इसका निर्देश इडा-प्रसंग से अलग ही किया है। किन्तु इसे इडा-प्रकरण का ही अंग माना जाना भी अयुक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। इसमें सिर्फ मन्त्र-क्रम ही एक बाधा है। इसीलिये सुनिश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है।

२ मा. श्री. सू. १।४।३।६ मे निर्दिष्ट समिष्ट यजुष् की इस आहुति की स्थिति भी उपर्युक्त इडा-भक्षण की तरह है।

पत्नी-संयाज[1]-यजमान के उपर्युक्त कार्य पूर्ण होने पर अध्वर्यु यजमान-पत्नी को अमन्त्रक ही वेद देकर एक मन्त्र का जप करता है। पत्नी वेद को लेती है, और यदि पुत्र की इच्छा हो, तो उस वेद को गोदी में रख लेती है। अब वेद को नीचे फेंका दिया जाता है, और यजमान उसे अनुमन्त्रित करता है। यजमान पूर्व की ओर जाता हुआ एक मन्त्र जपता है, और अध्वर्यु स्रुव के पिछले भाग को पत्नी से पकड़वाकर गार्हपत्य में एक आहुति देता है। पत्नी को गार्हपत्य के दक्षिण-पश्चिम में स्थित उसके स्थान पर बिठाकर अध्वर्यु इध्मकाष्ठ के टुकड़ों को दक्षिणाग्नि में डालता है, और फलीकरणों को चार बार लिये आज्य में भिगोकर दक्षिणाग्नि में ही उनकी आहुति देता है। यजमान और उसकी पत्नी जल से अपना मुख धोते हैं। और अन्त में अध्वर्यु ध्रुवा के आज्य से एक प्रायश्चित्ति की आहुति देता है, ताकि यज्ञविधि में जाने-अनजाने रही न्यूनताओं की क्षतिपूर्ति हो जाये।

इसके बाद समिष्टयजुष् की आहुति आदि का कार्य होता है, जो मन्त्र भाग में वर्णित है।

दर्शपूर्णमास की अन्वारम्भणीयेष्टि

अग्न्याधान के बाद यदि दर्शपूर्णमासयाग करने का विचार हो, तो याग से पूर्व एक इष्टिविशेष की जाती है। इस इष्टि के बाद ही दर्शपूर्णमासयाग का प्रारम्भ किया जाता है। अतः इसका नाम "अन्वारम्भणीयेष्टि" है।[2]

---

१ पत्नी-संयाज के इन मन्त्रों का क्रम मैत्रायणी-संहिता और मानवश्रौतसूत्र में अत्यन्त भिन्न है। संहिता इन मन्त्रों को यजमान ब्राह्मण (१।४।३) में देती है, इससे स्पष्ट होता है कि इस विधि का अनुष्ठान यजमान-प्रधान है। किन्तु मानवश्रौतसूत्र (१।३।५।१-१८) इसे दर्शपूर्णमास के अध्वर्यु-प्रधान प्रकरण में समिष्टयजुषों से पूर्व वर्णित करता है। मन्त्रों के क्रम में भी बहुत उलट-फेर है। यथा—मन्त्र १।४।३।२२ को सूत्र में दो स्थानों में विनियुक्त किया गया है, पहली बार अध्वर्यु-प्रधानविधि (मा श्री सू १।३।५।१५-१६) में २६-२८ मन्त्रों के बाद, और दूसरी बार यजमान प्रधान-प्रकरण (मा श्री सू १।४।१।१८-१९) में मन्त्र १।४।१।४ के बाद। मन्त्र १।४।३।२८ का एक भाग आज्यग्रहण के अध्वर्यु-प्रकरण (मा श्री सू १।२।५।१०) में दिया गया है, और मन्त्र १।४।३।२६, २४ को मन्त्र १।४।२।१२ में पूर्व ही विनियुक्त किया गया है (मा श्री. सू १।४।२।३-४)। इस अस्तव्यस्तता में एक सुनिश्चित क्रम को जान पाना कठिन है। फिर भी मन्त्र-क्रम के अनुसार ही वर्णन की जा रही है, यद्यपि निर्देश सूत्र के हैं, जो ब्राह्मण-भाग (१।४।८) से पुष्ट होते हैं।

२ यह इष्टि अन्य प्रकरणों के बीच में का. स (९।१७) और तै स (३।४।४-६) में वर्णित है। किन्तु वहाँ भी किसी हविर्विशेष का निर्देश नहीं है, सिर्फ "जय, राष्ट्रभृत् और अभ्यातान नामक होमों के ही मन्त्र व व्याख्यान हैं। मैत्रायणी संहिता में यह यजमान ब्राह्मण में है और मा श्री सू (१।५।६।१९-२६) में अग्न्याधान प्रकरण के अन्त में।

इस इष्टि में अग्नि-विष्णु के ११ कपालों वाले पुरोडाश, भग अग्नि के आठ कपालों के पुरोडाश, सरस्वती के चरु और सरस्वान् के १२ कपालों के पुरोडाश की ३ हवियाँ होती हैं। इन हवियों का क्रमशः निर्वपन करके, इन्हें पकाया जाता है, और इनसे यथाविधि अनुष्ठान किया जाता है।[1]

इस हवि-अनुष्ठान के वाद वारह् वार गृहीत राज्य से आकूत-आकूति, चित्त-चित्ति आदि से सम्बन्धित १२ 'जय' नामक आहुतियाँ दी जाती हैं, और १३वीं आहुति प्रजापति के लिये दी जाती है। ब्रह्मवर्चस् का अभिलाषी १४वीं आहुति अग्नि के लिये देता है। इसके वाद पुनः इडोपाह्वान, अनुयाज आदि की सामान्य विधि की जाती है, जो दर्शपूर्णमास याग में वर्णित है।

पूर्णिमा में अग्नि का आधान करने वाला उपवसथ-दिन में ही इस आरम्भणीयेष्टि का अनुष्ठान करके समय से पूर्णमास-याग का प्रारम्भ कर देता है। किन्तु अमावस या नक्षत्र में अग्न्याधान करने वाला आगामी पूर्णिमा के पूर्वार्द्ध में उपवसथ-दिन में आरम्भणीयेष्टि करता है, और उत्तरार्द्ध में पूर्णमासयाग का अनुष्ठान करता है।[2]

दर्शपूर्णमास याग

काल—

वस्तुतः ये दो याग हैं : एक दर्शयाग—जो अमावस और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन अनुष्ठित होता है, और दूसरा पूर्णमासयाग—जो पूर्णिमा और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन किया जाता है। इन द्विदिवसीय यागों की प्रधान-आहुतियों का अनुष्ठान-काल दोनों पर्वों का सन्धिकाल है। यदि यह सन्धिकाल दोपहर में आये, तो यह प्रधान-विधि प्रतिपदा की शाम को अनुष्ठित की जाती है।[3] दोनों याग परस्पर पूरक हैं, और इनकी विधि भी समान है। पहले पूर्णमासयाग किया जाता है।[4]

देवता-हवि—

प्रधान देवता अग्नि है। अवान्तर देवता सोम भी है, जो आज्यभाग का देवता है। अन्यत्र[5] इन्द्र-अग्नि को दर्शयाग का और अग्नि-सोम को पूर्णमास का

---

१ हवियों के निकालने, पकाने और यजन करने की पूरी विधि दर्शपूर्णमास में वर्णित है।

२ मा. श्रौ. सू. १।५।६।२४-२५.

३ य. त. प्र. (पृ. १८).

४ श. ११।१।१।७, य. त. प्र. पृ. २.

५ मा. श्रौ. सू. १।२।१।३२, श. १।६।३।४१, १।६।४।३, तै. सं. (१।१।४) और वा. सं. (१।१०) में सिर्फ अग्नीषोमीय-मन्त्र ही है।

देवता कहा गया है। हवियों में आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सान्नाय्य और आज्य हैं। सान्नाय्य को इन्द्र की हवि कहते हैं।[1]

यजन-विधि

बछड़ों का हटाना—

यजमान द्वारा पहले दिन अग्नि का ग्रहण करके रात्रि-जागरण पूर्वक अपना उपवसथ-दिन व्यतीत करने और अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा और अग्नीत् ऋत्विजों[2] का वरण कर लेने पर अध्वर्यु अमावस और पूर्णिमा को प्रात गार्हपत्य से अग्नि लेकर आहवनीय को प्रदीप्त करता है।[3] व्रती के शमी या पलाश वृक्ष की एक बहुपर्णा शाखा को तोड़कर उसे स्वच्छ और सीधा किया जाता है।[4] उस शाखा से बछड़ो को गायो से पृथक् और उसीसे गायों को गोचर के लिये[5] प्रेरित करता है। जाती हुई गायो को अनुमन्त्रित करके यजमान के घर वापिस आकर शाखा के पिछले भाग को छिपाकर यज्ञशाला में किसी ऊचे स्थान पर रख देता है।

बर्हि लाना—

अब अध्वर्यु अश्वपर्शु को हाथ में लेकर आहवनीय की उपासना करता है, और उसमें पर्शु को तपाकर उस तप्त पर्शु को लेकर बर्हि काटने जाता है। वहां सर्वप्रथम प्रस्तर के लिये दर्भों को चुनता है और उस दर्भस्तम्ब को छूकर उसमे से एक दर्भ निकाल कर फेंक दिया जाता है। आवश्यकतानुसार बर्हि काटी जाती है। एक रस्सी को बिछाकर उसपर बर्हि रखी जाती है, और रस्सी लपेटकर गाठ देकर उस बधी हुई बर्हि को छूते हैं। उस बर्हि को सिर पर उठाकर यज्ञवेदि के पास लाकर रखते हैं, और लाई बर्हि को अभिमन्त्रित करके लाने मे गिरी बर्हि को देवताओ को ही अर्पित करते हैं। बर्हि के साथ ही १८ इध्म काष्ठ और ३ परिधियां भी लाई जाती हैं।

दूध दुहना—

शाम को सर्वप्रथम दोहन पात्रो को धोते हैं, और क्रमशः शाखापवित्र तथा

---

१ मा श्रौ सू १।२।१।३२-३३, श १।६।४।६, य त. प्र. (पृ ३१) मैं स १।१।३।१०, का स १।३।१४, और तै स (१।१।३) के मन्त्रों मे भी दही को इन्द्र का भाग कहा गया है।

२ हविर्यज्ञो के यही चार ऋत्विज हैं। (तै. ३।३।६)

३ मा श्रौ. सू १।१।१।११-१२

४ मा श्रौ. सू (१।१।१।१०) के "अनादेशे अध्वर्युः कुर्यात्" के अनुसार इस याग और अन्य सब यज्ञो मे भी अनिर्दिष्ट कर्त्ता अध्वर्यु को ही मानना चाहिये। अन्य विशिष्ट कर्त्ता का उल्लेख यथास्थान कर दिया जायेगा।

५ आप श्रौ सू १।१।२।३

उखापात्र को उठाकर, उखा को दुहने के स्थान पर रखकर शाखापवित्र को उस पर रखा जाता है। दोहन से पूर्व बछड़े को गाय के पास लाकर गाय की टांगों में रस्सी बांधी जाती है। कोई भी अशूद्र व्यक्ति ३ गायों को दुहता है। इस दोहन में कुछ बूंदो का नीचे गिर जाना स्वाभाविक है, जिससे यजमान स्कन्नदोष का भागी हो जाता है। अतः अध्वर्यु नीचे गिरी बून्दों को अनुमन्त्रित कर इस स्कन्न-दोष का परिहार करता है। दुहे जाते दूध को भी अनुमन्त्रित कर दुहने के बाद थनों को धोने वाले जल को इस "उखा" नामक कुम्भी के दूध में मिलाकर इस जलमिश्रित दूध को गर्म करते है, और उसे दही से जमाकर किसी ऊँची जगह पर रखकर उसके मुख को यवागू के एक पिण्ड से ढ़क देते हैं। मिट्टी या अयस् के एक ढक्कन को जल से भिगोकर उस पिण्डयुक्त कुम्भी के मुख पर रखकर अच्छी तरह बंद कर देते हैं।[1]

जल लाना (अपः प्रणयन) और वेदि पर पात्र रखना—

अब अगले दिन अर्थात् प्रतिपक्ष की प्रातः गार्हपत्य के और आहवनीय के चारों ओर सूखी घास बिछाकर ब्रह्मा के लिये वेदि के दक्षिण में, यजमान के लिये पश्चिम में और उससे कुछ पीछे पत्नी के लिये बैठने का स्थान बनाता है।[2] अब वह हाथ धोकर जल लाता है, और उन्हें अभिमन्त्रित कर वेदि के उत्तर में रखता है। इस पवित्र प्रोक्षणी-जल से सब यज्ञपात्रों को प्रोक्षित कर पात्रों को दो-दो की संख्या में लाकर यथास्थान रखा जाता है।[3]

हविष्यान्न को निकालना—

अब अग्नि होत्र हवणी और शूर्प को आहवनीय में तपाकर, उन्हें लेकर हविर्धान-शकट की उत्तरी धुरी के पास जाकर धुरी को छूते हैं। उत्तरी ईषा को छूकर पहिये पर दायां पैर रखकर गाड़ी पर चढ़कर, हविष्यान्न के आच्छादन को हटाकर, हविष्य को मित्रवत् देखते हुये उसे अनुमन्त्रित करता है। अग्नि होत्र हवणी में अग्नि के लिये १-१ मुष्ठी करके पाँच बार हवि निकाली जाती है। देवता के लिये निकाली गई हवि को छूकर शेष हविष्य को अपना कहकर उससे अलग करता है। अब शकट से उतरकर जप करके अग्नि या सूर्य को देखते हुए हविष्यान्न को यज्ञ

---

१ मा. श्रौ. सू. १।१।३।३२.

२ ,, ,, १।२।१।१-३.

३ मा. श्रौ. सू. (१।२।१।४) के अनुसार कुल २२ पात्र हैं:-पवित्र, चमस, स्फय, कपाल, अग्निहोत्रहवणी, शूर्प, कृष्णाजिन, ऊखल-मूसल, दृषद्-उपल, शम्या, वेद, कुटरु, स्रुव, ध्रुवा, उपभृत्, जुहू, आन्वस्थाली, संवपनपात्री, प्राशित्रहरण और इडापात्री। मैत्रायणी-संहिता में अन्तिम दो पात्रों का कहीं उल्लेख नहीं है, न ही तत्सम्बन्धी क्रिया का वर्णन है। अतः संहितानुसार २० पात्र होने चाहिये।

वेदि के समीप लाकर रख देता है। यही प्रक्रिया "हवि-निर्वाप" (हवि का निकालना) कहलाती है।

हविष्यान्न को कूटना, पिछोडना और पीसना—

दो दर्भों को पवित्र करके उनसे और प्रोक्षणी जल द्वारा देवता नाम निर्देश[1]-पूर्वक हविष्यान्न को प्रोक्षित किया जाता है। अब कूटने-पीसने मे प्रयुक्त पात्रो को धोकर, उनमे से सर्व प्रथम कृष्णाजिन को लेकर, उसे झाडकर, उसके ग्रीवा भाग को पश्चिमाभिमुख और रोमो वाले भाग को ऊपर की ओर करके उत्कर के पीछे बिछाते हैं। इस पर ऊखल रखकर, उसमे हविष्यान्न डालकर, मूसल लेकर यजमान पत्नी या अन्य किसी को तीन बार आवाज देकर बुलाता है, और उससे हविष्यान्न को कुटवाता है। इस समय अग्नीत् एक "कुटरु' नामक पत्थर को सिल (दृषद्) के क्रमश अगले, पिछले और मध्यम भाग मे २-३ बार जाता है। धान का छिलका उतर जाने पर छाज लेकर हविष्यान्न को उत्कर मे पिछोडते हैं। छिलको के निकल जाने पर हविष्यान्न का फलीकरण करते हैं।

अब कृष्णाजिन को पुन झाडकर, पूर्ववत्, बिछाकर उस पर सिल को रख-कर, सिल पर बट्टे को रखकर शम्या को सिल के पिछले भाग मे नीचे की ओर लगाकर, सिल को एक ओर मे कुछ ऊँची कर लेते हैं। सिल पर उस फलीकृत हविष्यान्न को ३ बार डालकर पीसा जाता है। उस पिष्ट हवि को मित्रवत् देखते हुये पीसते समय नीचे गिरी हवि को दुग्धवत् स्कन्नदोष के परिहार के लिये अनु-मन्त्रित करते हैं।

कपालों को रखना—

अब उपवेष (चिमटा) लेकर उससे आहवनीय या गार्हपत्य मे[2] से राक्षस-

---

१ दर्शपूर्णमासयाग ही सब इष्टि-यागो का आधार भूत-प्रकृति-याग है। सब इष्टियो की सामान्य क्रियायें वही हैं, जो यहाँ वर्णित हैं। अत हवि निकालने आदि की इन्हीं क्रियाओ को करते हुए यहाँ सिर्फ देवता के नाम का अन्तर पडता है। यथा-अग्न्याधान की पवमानेष्टियो के देवता पवमान अग्नि आदि हैं, और अग्निष्टोम की अतिथ्येष्टि के देवता सोम हैं। अत इन इष्टियो के यजन-काल मे तत्सम्बन्धी देवता का नाम लेकर हविनिर्वाप और प्रोक्षण आदि कार्य किये जाते हैं।

२ श १।२।२।२ और श ब्रा. भा १।५४ के अनुसार पुरोडाश को गार्हपत्य या आहवनीय मे से किसी पर भी पकाया जा सकता है। किन्तु यज्ञ की मुख्य आहुतियाँ आहवनीय में अनुष्ठित होती हैं, और अभी वेदि-निर्माण तथा आज्य-ग्रहण का कार्य भी नहीं हुआ है। अत गार्हपत्य पर ही पुरोडाश को पकाना अधिक उचित प्रतीत होता है। हवि का दूध भी गार्हपत्य पर ही पकाया जाता है। (तै स. भा २।७३३)

नाशक तीन अंगार उठाकर बाहर रखे जाते हैं। उन अंगारों पर पहला मध्यम कपाल रखकर, आमाद् और क्रव्याद् अग्नि के प्रतीक दो अंगारों को फेंककर देवयजन अग्नि की स्थापना करते हैं, और शेष सात कपालों को मध्यम कपाल के चारों ओर यथाक्रम रखकर उन्हें संयुक्त करते है। आग को कपालों के पास सरका दिया जाता है।

पुरोडाश-हवि को पकाना—

संवपन पात्री में पिष्ट हवि को लेकर, उसमें पानी डालकर दोनों को अच्छी तरह मिलाते है। उस जल मिश्रित हवि को छूकर कपालों पर रखा जाता है, और उसे पूड़े की शक्ल में फैलाकर जल से इसके ऊपरी भाग को सम बनाकर ३ बार हवि का पर्यग्निकरण कर कपालों को राख से ढककर पुरोडाश को पकाते हैं। पुरोडाश के पक जाने पर वेद से राख सहित अंगारों को हटाकर वेदि में एक अमन्त्रक आहुति देते हैं और तैयार पुरोडाश पर अभिधारण किया जाता है।

वेदि-निर्माण—

अब वेदि के लिये स्थान को अमन्त्रक ही मापकर, वेदि के पूर्वार्ध में स्फ्य से उत्तर-पूर्व की ओर तीन रेखायें खींचकर[1] उनमें पिष्टलेप वाला जल आप्त्य देवताओं को उद्दिष्ट करके डाला जाता है। वेदि स्थल को वेद से अमन्त्रक ही साफ करके स्फ्य को उठाकर उसे घास से मांजता[2] है। परिमापित भूमि पर एक तिनका रखकर, उस पर स्फ्य से तिरछा पहला प्रहार किया जाता है, और उस खुदी मिट्टी को तिनके सहित उठाकर वेदि तथा यजमान को देखते हुए उत्कर में डाल दिया जाता है। इसी प्रकार दो और समन्त्रक तथा एक अमन्त्रक प्रहार करके उनसे खुदी मिट्टी को तिनके सहित उठाकर वेदि तथा यजमान को देखते हुये उत्कर में डाल दिया जाता है। इसी प्रकार दो और समन्त्रक तथा एक अमन्त्रक प्रहार करके उनके खुदी मिट्टी को भी पूर्ववत् उत्कर में फेंक देते हैं। अब स्फ्य से क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर से वेदि का परिग्रहण करके वेदि भूमि को खोदा जाता है। वेदि को बीच में से गहरी, उत्तर पूर्व की ओर झुकी हुई और सतह पर सम बनाकर, उस पर जल छिड़कर पूर्ववत् दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर से वेदि का उत्तर कालीन परिग्रहण किया जाता है। एक प्रणालिका बनाकर वेदि के पश्चिम-भाग को समीकृत करते हैं, और प्रोक्षणी जल, इध्म-बर्हि आदि को आहवनीय के उत्तर में यथा स्थान रख देते हैं।[3]

---

१ मा. श्रौ. सू. १।२।४।२.
२ ,, १।२।४।७.
३ ,, १।२।४।२८

पात्रों को मांजना और आज्य लेना—

आहवनीय पर पात्रों को तपाकर क्रमश स्रुव, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा नामक आज्य-पात्रों को माजा जाता है। अब यजमान-पत्नी को उसके बैठने के स्थान पर बिठाते हैं।[1] आज्यस्थाली के आज्य को ओदन पचनाग्नि पर कुछ समय रखकर, उसे गार्हपत्य पर रखते हैं, और तब पत्नी को आज्य का अमन्त्रक ही दर्शन करवाकर, उसे आहवनीय पर रखकर स्फ्यनिर्मित एक रेखा पर भी रखा जाता है। अब आज्य का उत्पवन होता है, और यजमान उस पवित्र आज्य को देखता है। इसके बाद आज्य स्थाली में से स्रुव द्वारा चार बार जुहू मे, आठ बार उपभृत मे और चार बार[2] ध्रुवा में आज्य को लिया जाता है, और आज्यस्थाली, स्रुव और वेद को गार्हपत्य के पास रख देते हैं।[3]

वेदि पर बर्हि बिछाना, परिधियों, आधारसमिधा तथा आज्यपात्रों को यथा स्थान रखना—

प्रोक्षणी को लेकर क्रमश इध्मकाष्ठो, वेदि और बर्हि को प्रोक्षित किया जाता है, और पृथ्वी पर गिरे जल को अनुमन्त्रित[4] करते हैं। अब बर्हि की गाठ खोलकर, पहले प्रस्तर को निकालकर ब्राह्मण या यजमान को देकर आहवनीय वेदि पर बर्हि बिछाता है, और फिर उस प्रस्तर को हाथ मे रखकर क्रमश वेदि के पश्चिम दक्षिण और उत्तर मे एक-एक परिधि की स्थापना की जाती है। वेदि मे दो आधार समिधाओ को रखकर, पूर्व मे सूर्य का ही परिधि रूप मे ध्यान करते हैं। दो विधृतियो (तिनको) को रखकर, उन पर प्रस्तर को और प्रस्तर पर जुहू को रखते हैं। उपभृत को विधृतियों के नीचे की ओर, ध्रुवा को जुहू से कुछ दूरी पर विधृतियो के ऊपर रखते हैं।[5] जुहू के दक्षिण में भरे हुए स्रुव को रखा जाता है, और सब पात्रों के आज्य को सम्मिलित रूप से अनुमन्त्रित करके उनके समीप ही सान्नाय्य और पुरोडाश हवि को रखते हैं।

प्रधान यज्ञ-विधि

आधाराहुति—

अब होता द्वारा १७ सामिधेनी मन्त्रो के बोलने पर प्रति मन्त्र के साथ एक-एक समिधा को अध्वर्यु अग्नि मे रखता जाता है। एक समिधा अनुयाजो के लिये

---

१ मा श्रौ सू १।२।५।१०
२ तै ३।३।५, श १।३।२'१०.
३ मा श्रौ सू. १।२।५।२०
४ „ १।२।६।३
५ „ १।२।६।१२-१६

बचा ली जाती है।[1] अध्वर्यु अपने हाथों को जुहू और उपभृत् के सामने करके दोनों की स्तुति करता है, और जुहू तथा उपभृत् को उठाकर दक्षिण की ओर जाकर एक मन्त्र जपता है। जुहू को दक्षिण परिधि-सन्धि से छुआते हुये अविच्छिन्न धारा के साथ वेदि के दक्षिणार्ध में "आधार" नामक आहुति दी जाती है, और दोनों स्रुचाओं को परस्पर न छुआते हुये अमन्त्रक ही वापिस लौट आता है। जुहू के आज्य को तीन बार ध्रुवा के आज्य से मिलाकर पात्रों को यथा स्थान रख दिया जाता है।

प्रवर-विधि[2]—

अध्वर्यु अपने दाहिने पैर को फैलाकर और यज्ञवेदि की बर्हि से एक तिनका उठाकर कहता है कि "ब्रह्मन् (अब) मैं प्रवर के लिये निवेदन करूंगा।" और वह आग्नीध्र को सम्बोधित कर प्रवर-वरण की घोषणा करने को कहता है। अध्वर्यु द्वारा प्रत्येक विधि के लिये इस प्रकार की घोषणा करने को कहना "आश्रावण" है। आग्नीध्र अपने हाथ में स्फ्य और अग्नि-सम्मार्जनी लेकर उत्कर के पीछे खड़ा होता है, और "ऐसा किया जाये" कहकर प्रत्याश्रवण देता है। इस प्रत्युत्तर के बाद अध्वर्यु यजमान के पूर्वज ऋषियों में से से एक, दो, तीन या पांच को प्रवरों में घोषित करता है, और अग्निमन्थन वाले काष्ठ खण्ड को अग्नि में फैंक देता है। यदि यजमान अब्राह्मण हो, तो उसके कुल-पुरोहित के पूर्वजों को प्रवरों में घोषित किया जाता है।

अनुष्ठान-सम्बन्धी सामान्य निर्देश—

अध्वर्यु जुहू को उपभृत के सामने नीचे रखता है, और फिर दोनों को ऊपर

---

१ मा. श्रौ. सू. १।३।१।२, तै. ३।३।७।२.

२ इस प्रवर-विधि से लेकर अनुयाज-विधि तक की समस्त प्रक्रिया मैत्रायणी संहिता में कहीं भी व्यवस्थित रूप से वर्णित नहीं है। किन्तु इन विधियों का नामोल्लेख (स्विष्टकृत्, इडाभक्षण आदि को छोड़कर) अन्यान्य प्रकरणों में अवश्य है, जिससे मैत्रायणीकार द्वारा इनकी स्वीकृति का बोध होता है। किन्तु तत्संबंधी विवरण और मन्त्रों का कोई उल्लेख न होने के कारण यह कहना कठिन है कि मानवश्रौत सूत्र में वर्णित प्रक्रिया मैत्रायणीयों को भी पूर्णतः मान्य होगी ही। किन्तु यह प्रकरण यज्ञ का प्रधान तत्व है, क्योंकि इसी में हवि की आहुतियों की समस्त विधि निर्दिष्ट है, और इसी के आधार पर अन्य सब यागों को हवियों का भी अनुष्ठान किया जाता है। अतः मैत्रायणी में उपलब्ध न होने पर भी यह प्रकरण पूर्णतः सूत्र (१।३।१।२४-३४, १।३।२,३) के अनुसार वर्णित किया जा रहा है।
(विस्तार के लिये देखिये अध्याय छह)

करता है। अपने दाहिने पैर से वह दक्षिण की ओर बढता है, और बायें से उत्तर की ओर। जब वह आहुतियो को परिधियो के सन्धि स्थलो के पास लाता है, तो उत्तर मे बैठकर "स्वाहाकार" से आहुति देता है, और दक्षिण मे सीधे खड़े होकर उत्तर पूर्व की ओर मुख करके "वषट्कार" से आहुति देता है। जब वह आग्नीध्र को सम्बोधित करता है, तो आहुति देने तक उसे हिलना-डुलना नही चाहिये। "वषट्कार" के बाद अथवा साथ ही दी जाने वाली आहुतियाँ समान ऊँचाई मे दी जानी चाहिये। आज्यभाग के मन्त्र स्वर मे, अनुयाजो के मध्यम और सयुवाक के ऊँचे स्वर मे बोले जाने चाहिये।

प्रयाज-यजन—

होता द्वारा घृत युक्त स्रुचाओ को उठाने का आदेश देने पर अध्वर्यु जुहू और उपभृत् को लेकर दक्षिण की ओर जाता है। यथा स्थान पहुँचकर आग्नीध्र को सम्बोधित कर प्रयाजो के लिये आश्रावण करने को कहता है और समित्, तनूनपात्, इडा, बर्हि और स्वाहा नामक[1], इन पाँच प्रयाजो की आहुतियाँ देता है। प्रत्येक प्रयाज के लिये होता को याज्या मन्त्र पढ़ने का प्रैष दिया जाता है। प्रथम प्रयाज के लिये नाम निर्देश पूर्वक अर्थात् "समिधो यज' का प्रैष है, शेष चारो के लिये सिर्फ "यज" कहते है। प्रयाज की प्रथम तीन आहुतियाँ देने के बाद उपभृत् के आज्य को जुहू मे डालते है, और शेष दो आहुतियाँ एक साथ दी जाती हैं।

वापिस लौटकर ध्रुवा के घी से दक्षिण पुरोडाश पर अभिघारण किया जाता है, फिर उपांशुयाग के लिये ध्रुवा मे, उत्तर पुरोडाश, प्रात कालीन और साय कालीन दूध पर और अन्तत उपभृत् पर अभिघारण किया जाता है।

आज्यभाग—

"आज्य भाग" नामक दो घृत की आहुतियो के देवता अग्नि और सोम है। प्रयाजानुष्ठान के बाद अध्वर्यु आज्यभाग की आहुति के लिये जुहू मे चार बार घी लेता है, यदि यजमान जमदग्नि का वशज हो, तो पाँच बार लेता है। यदि वह चाहे, तो उस जामदग्न्य से पूछकर पाँच बार ले। अग्नि के लिये आज्याभागाहुति अग्नि के उत्तरार्ध मे और सोम के लिये दक्षिणार्ध मे दी जाती है। आहुतियाँ तिरछी नही पड़नी चाहिये। ध्रुवा मे से घी ले लेने पर ध्रुवा को आज्यस्थाली के घृत से पुन भर लिया जाता है।

इस विधि मे सर्व प्रथम होता को अग्नि के आह्वान के लिये अनुवाक्या मन्त्र पढ़ने का प्रैष दिया जाता है, और होता इन मन्त्रो मे "आ' जोड़कर बोलता है। इन मन्त्रो के बोले जाने पर अध्वर्यु पूर्ववत् आग्नीध्र को आश्रवण देता है, और

---

१ श १।५।३।९-१३.

आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावण देने पर होता को अग्नि के लिये याज्या मन्त्र बोलने का प्रेष दिया जाता है। इसके बाद अग्नि की आहुति दी जाती है। बिल्कुल इसी तरह सोम के लिये किया जाता है।

हवि को लेना—

अध्वर्यु कुछ घी जुहू में उंडेलकर जलों को छूता है, और अपनी दो अंगुलियों और अंगूठे को मिलाकर इनसे दक्षिण पुरोडाश के मध्यभाग से अंगूठे के एक पर्व के परिमाण का एक टुकड़ा तोड़ता है, और इसी तरह सामने के हिस्से से दूसरा टुकड़ा लिया जाता है। यदि पांच टुकड़े लेने हों, तो पिछले हिस्से से तीन टुकड़े तोड़े जाते हैं। इन टुकड़ों पर घी डालकर अवशिष्ट पुरोडाश पर भी घी डाला जाता है।

हवि की आहुति—

पूर्ववत् होता को पहले अग्नि को बुलाने के लिये पढ़ने वाले अनुवाक्या-मन्त्रों को बोले जाने का प्रेष दिया जाता है, और अध्वर्यु आग्नीध्र को हवि-अनुष्ठान की विधि के लिये उद्घोषणा करने को कहता है, और आग्नींध्र के उत्तर देने पर होता से पुनः अग्नि के याज्या-मन्त्रों को बोलने के लिये कहा जाता है। होता द्वारा याज्या-मन्त्रों के पाठ के बाद आज्यभाग की उपर्युक्त दोनों आहुतियों के बीच के स्थल में—अर्थात् अग्नि के उत्तरार्ध और दक्षिणार्ध के बिलकुल मध्य में—क्रमशः उत्तर-पूर्व की ओर हवियों की आहुतियाँ दी जाती हैं। ध्रुवा में से घी ले लेने पर अब पूर्णमास में अग्नि और सोम के लिये और अमावस में विष्णु के लिये उपांशुयाज किया जाता है। इसमें देवताओं के नाम उपांशु स्वर-धीमी आवाज—से लिये जाते हैं।

इसी प्रकार उत्तर पुरोडाश का भी देवता के अनुसार यजन किया जाता है। जब सान्नायय-हवि की आहुति देनी हो, तो पहले जुहू में कुछ घी लिया जाता है, और फिर पुरोडाश में से तथा दोनों प्रकार के दूध में से एक साथ हवि का भाग लिया जाता है। होता को इन्द्र के अनुवाक्या-मन्त्रों के पाठ का प्रेष देने, अध्वर्यु-आग्नीध्र के आश्रावण-प्रत्याश्रवण करने और होता द्वारा इन्द्र ने याज्या मन्त्रों का पाठ करने पर सान्नाय्य की आहुति दी जाती है। सान्नाय्य, चरू और पशुपुरोडाश की आहुतियाँ जुहू के एक पार्श्व से और तरल द्रव्यों की आहुति उसके अग्रभाग के किनारे से दी जाती हैं।

हवि की इस अनुष्ठान-विधि के बाद पूर्णिमा और अमावस पर अलग-अलग मन्त्रों से स्रुव द्वारा एक आहुति दी जाती है।

स्विष्टकृत् विधि—

स्विष्टकृत् के लिये सब हवियों के उत्तरार्ध में से एक बार में ही पहले से दुगुने परिमाण में टुकड़े अथवा भाग निकाले जाते हैं। पर यदि पहले पांच टुकड़े

लिये जा चुके हो, तो स्विष्टकृत् के लिये दो बार भाग लिया जाता है। स्विष्टकृत् सम्बन्धी गृहीत सब हवि-भागो पर दो बार अभिघारण होता है, पर अवशिष्ट हवियो पर और अभिघारण नही किया जाता है। अब पूर्ववत् अग्नि के लिये अनुवाक्या-मन्त्र-पाठ का प्रेष दिया जाता है। इस मन्त्र पाठ के बाद अध्वर्यु-आग्नीध्र मे पूर्ववत् आश्रावण—प्रत्याश्रावण होता है और इसके बाद होता को स्विष्टकृत् अग्नि के लिये याज्या-मन्त्र पढने का प्रेष देते हैं। याज्या-मन्त्रपाठ के बाद पूर्व की हवियो के आहुति-स्थानो से हटकर अग्नि के उत्तर पूर्व मे स्विष्टकृत् अग्नि की हवियो की आहुति दी जाती है। तत्पश्चात् वापिस लौटकर स्रुचायें यथा स्थान रख दी जाती हैं।

इडाभक्षण—

उत्तर की परिधि-सन्धि के पीछे से बर्हि को हटाकर और बर्हिरहित उस स्थान पर जल छिडककर वहां ब्रह्मा का प्राशित्रहरण पात्र रखा जाता है। इस पात्र मे दक्षिण पुरोडाश के मध्यभाग मे अपने अगूठे और अनामिका अगुली द्वारा जौभर का टुकडा तोड कर रखा जाता है, और उस पर घी डालते हैं। इडापात्र मे घी का उपस्तरण करते हैं, और इडा के लिये प्रत्येक हवि मे से दो बार देवताओ के हवि भाग की अपेक्षा बडे भाग निकाले जाते हैं। दक्षिण पुरोडाश मे से भक्षण के लिये हिस्से तोडे जाते हैं। इडा के लिये दक्षिण पुरोडाश का दक्षिण भाग लिया जाता है, और पूर्वार्ध मे से यजमान के लिये एक छोटा और एक बडा भाग लेकर, इन्हे घी से चुपडकर वेद पर रख देते हैं। इडा के लिये दक्षिण पुरोडाश के मध्यभाग से दूसरा हिस्सा भी लिया जाता है। ध्रुवा मे से घी लेने के बाद अब क्रमशः अन्य हवियो मे से अश निकाले जाते हैं। इडा पर अभिघारण करके पश्चिम मे बैठकर अध्वर्यु इडा होता को देता है। होता और इडा के बीच मे से होकर अध्वर्यु दक्षिण की ओर जाता है। होता इडा को कसकर पकडता है, अध्वर्यु उसकी तर्जनी अगुली के दो पर्वो को पहले भीतर की ओर, फिर बाहरी तरफ से घी से चुपडता है, और दो बार होता के हाथ पर कुछ घी उडेलता है। होता पुरोडाश मे से एक अश लेता है, और अध्वर्यु पुन उसके हाथ पर घी डालता है। इस तरह दो बार और होता के हाथ पर हवि अश रखे जाते हैं, और दो बार और अध्वर्यु उसकी अगुली मे घी लगाकर हाथ पर घी डालता है।

अब होता "इडा" का आह्वान करता है। उसके आह्वान कर लेने पर अन्य सब ऋत्विज् और यजमान इडा को प्राप्त करते हैं। अध्वर्यु उस आहूत इडा मे से आग्नीध्र के लिये हर हवि का भाग निकलता है, और यजमान को यह कहने का प्रेष देता है कि उत्तर के ऋत्विज दक्षिण मे चले जायें, और दक्षिण के उत्तर मे चले जायें। अब सब लोग इडा का भक्षण करते हैं। होता सर्व प्रथम खाता है, और आग्नीध्र मन्त्र विशेष के साथ खाता है।

भक्षण के बाद होता शाखा पवित्र को खोलकर अग्निहोत्रहवणी में रखता है, और दोनों को वेदि के अन्दर रख देता है। इसके बाद सब ऋत्विज और यजमान अपना-अपना सम्मार्जन करते हैं।

अध्वर्यु पुरोडाश में से ब्रह्मा के लिये यजमान-भाग से बड़ा भाग तोड़कर, उसे घी से चुपड़कर वेद पर रखता है, और अवशिष्ट दक्षिण पुरोडाश के चार टुकड़े करके उन्हें वेदि की बर्हि पर रख देता है। इस पुरोडाश को पोंछकर इडापात्री में रखा जाता है और ब्रह्मा के भाग के लिये प्राशित्र हरण पात्र को आहवनीय के सामने से लाकर उसे ब्रह्मा को देता है। उपर्युक्त चार टुकड़ों में से दो टुकड़ों को वेद के द्वारा ब्रह्मा और यजमान के लिये लाकर उन्हें देता है। वेद को वापिस घुमाकर यथा स्थान रख दिया जाता है। दक्षिणाग्नि मे पकाये गये चावलों के बड़े भाग पर घी डालकर उन्हे दोनों प्रकार के दूध और इडापात्री की ओर करके स्रुचाओं के दण्डों के पिछले भाग मे हटा दिया जाता है।

अनुयाज-विधि—

इस समस्त प्रधान याग के अनुष्ठान के बाद अनुयाजों की आहुतियां दी जाती हैं। मुख्य याग के बाद में दी जाने के कारण ही इनका नाम "अनुयाज" है। इसमें सर्व प्रथम ब्रह्मा से अनुज्ञा लेकर अध्वर्यु आग्नीध्र को अनुयाजों के लिये ही पहले से बचाकर रखी गई १८ वी समिधा के आधान और परिधियों तथा अग्नि के सम्मार्जन का प्रेष देता है। आग्नीध्र सम्मार्जनी को स्फ्य से पकड़कर जिस क्रम से परिधियाँ रखी गई थीं, उसी क्रम से उनका और अग्नि का सम्मार्जन करता है, और सम्मार्जनी को प्रोक्षित कर अग्नि मे फेंक देता है।

अध्वर्यु उपभृत् के आज्य को जुहू में लेकर आग्नीध्र को अनुयाजों का आश्रावण देता है, और उसका प्रत्याश्रवण पाने पर होता को अनुयाजों के याज्या-मन्त्रों के पाठ के लिये प्रेष देता है। प्रथम अनुयाज के लिये "देवान् यज" का प्रेष है, और शेष दो के लिये सिर्फ "यज" का ही। याज्या मन्त्र पाठ के बाद क्रमशः बर्हि नराशंस और अग्नि[1] नामक अनुयाजों की आहुतियाँ देता है। ये आहुतियाँ समिक्षा के पश्चिम में दी जाती हैं। तत्पश्चात् वापिस आकर स्रुचाओं को यथा स्थान रख दिया जाता है।

स्रुचाओं का व्यूहन और यज्ञ-समाप्ति—

अब यजमान अपने दाहिने हाथ से प्रस्तर सहित जुहू को ऊपर करता है, बायें हाथ से उपभृत् को नीचे ले जाता है, और जुहू को आगे की ओर तथा उपभृत् को पीछे की ओर लाता है। स्रुचाओं को इस विविध प्रकार से हिलाना ही स्रुचाओं

---

१ श. १।८।२।१०-१४.

का व्यूहन है। इसके बाद इनको वेदि से बाहर निकालकर प्रोक्षित करता है, और पुनः उन्हें वेदि पर रखता है, किन्तु अब जुहू को प्रस्तर पर नहीं रखा जाता है।[1]

अब क्रमशः पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की परिधियों को जुहू के आज्य से चिकना किया जाता है। आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद होता को सूक्त वाक् के मन्त्र पाठ का प्रैष दिया जाता है।[2] सूक्त वाक्-पारायण के बाद प्रस्तर को हटाकर, उसके अग्रभाग को जुहू में, मध्यम को उपभृत् में और मूल को ध्रुवा में भिगोकर घृतयुक्त बनाया जाता है। उसके अग्रभाग को पुनः अमन्त्रक ही जुहू में भिगोकर हाथ में लिये हुये ही प्रदीप्त करते हैं, और अग्नि में फेंक देते हैं। एक तिनके को अग्नि में डालकर आहवनीय की उपासना की जाती है। पुनः आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद होता को शंयुवाक् के मन्त्र-पाठ का प्रैष दिया जाता है।[3] मन्त्रपाठ के बाद क्रमशः पश्चिम-दक्षिण और उत्तर की परिधियां उठाकर उन्हें अग्नि में प्रस्तर के नीचे सरकाकर उन पर स्रुचाओं के अवशिष्ट घी की "संस्रावभाग" नामक आहुति दी जाती है। इसके बाद स्रुचाओं को भी वेदि से विमुक्त कर दिया जाता है।

अन्त में अध्वर्यु बर्हि से मुट्ठी भर दर्भ लेकर वेदि में सीधा खड़ा होकर समिष्टयजुष् की आहुति देता है। स्वाहाकार से पूर्व ही दर्भ मुष्टि को अग्नि में डाल दिया जाता है। अब कपालों का विमोचन होता है, और प्रत्येक यज्ञ सामग्री को यज्ञस्थल से विमुक्त करके बर्हि को अग्नि में डाल देते हैं, और होता के आसन की बर्हि से वेदि को ढक दिया जाता है।

चातुर्मास्ययाग

यह याग चार पर्वों[4] में विभक्त है। एक-एक पर्व का सम्बन्ध चार चार मासों से है। अतः ये पर्व चार-चार मास के बाद ही क्रमिक रूप से अनुष्ठित किये जाते हैं। इसी से इस पर्व-समूह को "चातुर्मास्ययाग" कहते हैं। इस याग को १३ मास वाले वर्ष में अनुष्ठित किया जाना चाहिये।[5] चारों पर्वों का क्रमिक विवरण आगे दिया जा रहा है।

सर्व प्रथम यह उल्लेखनीय है कि इन चारों पर्वों की बर्हि, इध्म, जल आदि लाने, पात्र धोने व रखने, दूध दुहने, हवि निकालने व पकाने तथा उसकी आहुतियाँ देने की प्रायः समस्त विधि, उपवसथ और अन्वाधान आदि की प्रक्रिया दर्शपूर्णमासेष्टि

---

१ मा. श्रौ. सू. १।३।४।१६
२ ,, १।३।४।१२
३ मा. श्रौ. सू. १।३।४।२४-२५
४ पर्वों की संख्या के विषय में सविस्तार विवेचन समीक्षा-प्रकरण में किया गया है। देखिये अध्याय पृष्ठ।
५ मै. सं. १।१०।८, का. सं. ३६।२२.

के समान ही की जाती है। अतः यहाँ विशिष्ट विधि का ही क्रमिक उल्लेख किया गया है।

वैश्वदेव-पर्व

काल—

मानवश्रौतसूत्र के अनुसार यह वसन्त—फाल्गुनी या चैत्र पूर्णिमा से अनुष्ठित किया जा सकता है।[1] मैत्रायणी और काठक संहिताओं में वसन्त या वर्षा ऋतु को अनुष्ठेय काल के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[2] दर्शपूर्णमासेष्टि की तरह यह पर्वयाग दो दिन तक चलता है।

देवता-हवि—

इस पर्व के आठ देवता-अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती पूषा, मरुत्, विश्व देव और द्यावा पृथ्वी है। इनकी आठ हवियाँ भी अलग-अलग क्रमशः अष्ट कपाल पुरोडाश, चरु, द्वादशकपाल पुरोडाश, चरु. चरु, सप्त कपाल पुरोडाश, आमिक्षा, और एक कपाल पुरोडाश हैं। इनके अतिरिक्त "वाजियाग" नामक एक अत्यन्त संक्षिप्त अंगयाग में वाजिन हवि द्रव्य भी प्रयुक्त होता है। आज्य और पृषदाज्य की भी आहुति दी जाती है।

यजन-विधि

बर्हि और इध्म को तीन अलग-अलग भागों में बांधकर लाया जाता है, और अंकुरित कुशों से प्रस्तर बनाते है। सायं कालीन दूध को दुहकर कुछ को यथा विधि जमा देते है, और कुछ को प्रातः काल आमिक्षा बनाने के लिये बिना जमाये ही रख लेते हैं। अगले दिन जल लाने से पूर्व यजमान के पंचहोतृ-मन्त्र का मन में जप कर लेने पर तत्सम्बन्धी आहुति दी जाती है। पात्र यथा स्थान रख लेने के बाद क्रमशः अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश, सोम के चरु, सविता के द्वादश कपाल पुरोडाश, सरस्वती और पूषा के चरु, मरुतों के सप्तकपाल पुरोडाश और द्यावापृथिवी के एक कपाल पुरोडाश के लिये यथा विधि हविष्यान्न निकाला जाता है।

कपालों को यथावत् रखकर प्रातः कालीन दूध का दोहन होता है। इस दूध में चरु की हवियाँ बनाई जाती हैं। कुछ ताजे गर्म दूध को रात्रि के ठण्डे दूध में मिलाकर, दूध को फाड़कर "आमिक्षा" तैयार की जाती है। फटे दूध का गाढ़ा अंश आमिक्षा कहलाता है और पानीवाला अंश वाजिन कहलाता है। यही वाजिन वाजियाग में प्रयुक्त किया जाता है। सब हवियाँ यथाक्रम और यथाविधि तैयार की जाती है। तत्पश्चात् पूर्ववत् वेदिनिर्माण, स्रुक सम्मार्जन, आज्यग्रहण की क्रियायें की जाती है।

---

१ मा. श्रौ. सू. १।७।१।१,५

२ मै. सं. १।१०।७, का. सं. ३६।२

अब आज्य मे दही मिलाकर "पृषदाज्य" बनाया जाता है। एक पात्र मे दो बार आज्य का उपस्तरण किया जाता है, और उस पर एक बार दही का अभिघारण करके "पृषदाज्य" तैयार किया जाता है। यह प्रक्रिया वसन्त मे की जाती है, शरद् मे अनुष्ठित इस पर्व मे एक बार उपस्तरण और दो बार अभिघारण करते हैं।

इस समस्त हविद्रव्य को यथावत् वेदि के पास रख दिये जाने पर पूर्ववत् अग्निमन्थन द्वारा अग्नि प्रदीप्त की जाती है, और आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद बर्हि, द्वार, उपासानक्ता, जोष्ट्री, दैव्याहोतारा,[1] तिस्रो देवी, तनूनपात्, वनस्पति और त्वष्टा नामक ९ प्रयाजो का यजन करके दो आज्यभागो की पूर्ववत् आहुति दी जाती है। अब सब हवियो पर आज्य और पृषदाज्य से पर्याप्त अभिघारण करके तत्तत् देवता के लिये पूर्व विधि के अनुसार ही आठो हवियो द्वारा क्रमश यजन किया जाता है।[2] सविता के द्वादशकपाल पुरोडाश का यजन उपाशु होता है।[3] समस्त हवियंजन के बाद स्विष्टकृत् अग्नि की आहुति दी जाती है, और इडाभक्षण होता है। अन्त मे पृषदाज्य को जुहू मे लेकर उससे[4] उपर्युक्त नाम वाले ही (सिर्फ तनूनपात् की जगह नराशस का प्रयोग होता है) ९ अनुयाजो का भी विधिवत् यजन होता है। स्रुक्-व्यूहन और विमोचन तक सब विधि सामान्य है।

इस प्रधान यागानुष्ठान के बाद "वाजियाग" किया जाता है। "वाजिन" हविद्रव्य को वेदि के पास रखकर परिधियो को हटाकर ऊर्ध्वंशु होकर[5] यह याग करते हैं। जल को बर्हि पर छिडककर वाजिन को ग्रहण करते हैं, और आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद "वाजि" के लिये अनुवाक्या और याज्या मन्त्रो को बुलवाकर प्रधान आहुति देते है। इसके बाद क्रमश समस्त दिशाओ मे इस हवि की आहुतियो दी जाती हैं। अन्तिम आहुति पूर्व दिशा मे देते हैं। शेष हवि को समान भागो मे विभक्त कर इडोपाह्वानपूर्वक भक्षण किया जाता है।

अन्त मे शेष सब उपकरणो का यथाविधि विमोचनकर यह पर्वयाग समाप्त किया जाता है। इसकी दक्षिणा वर है।

---

१ दैव्या होतारा का दूसरा नाम "ऊर्जाहुती" भी है। (मै स १।१०।९)

२ श (२।५।१।१२-१५) के अनुसार मरुतो की हवि से पहले वैश्वदेवी आमिक्षा से यजन किया जाना चाहिये।

३ मा श्रौ सू (१।७।२।१) मे द्यावापृथिवी के एक कपाल पुरोडाश के भी उपाशु-यजन का निर्देश है।

४ मा श्रौ सू १।७।२।१०

५ घुटनो को ऊपर करके बैठे व्यक्ति को "ऊर्ध्वंशु" कहते हैं।

वरुणप्रधासपर्व

काल—

वैश्वदेव पर्व के अनुष्ठान से चार मास बाद पड़ने वाली पूर्णिमा को यह पर्वयाग किया जाता है, और दो दिन तक चलता है।

देवता-हवि—

अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, इन्द्राग्नी, मरुत्, वरुण और काय (प्रजापति)—ये नौ देवता हैं। इनकी हवियाँ क्रमशः अष्टकपाल पुरोडाश, चरू, अष्टकपाल पुरोडाश, चरू, द्वादशकपाल, पुरोडाश, अभिक्षा, आभिक्षा और एककपाल पुरोडाश की हैं।

यजन-विधि—

इस पर्वयाग की सर्वप्रमुख विशिष्टता यह है कि इसमें उत्तरवेदि बनाकर वेदि के दक्षिणी कोने में एक और छोटी वेदि बनाई जाती है, और वारुणी आभिक्षा-सम्बन्धी जो जो विधि अध्वर्यु मुख्य उत्तरवेदि में करता है, मारुती आभिक्षा के लिये वे सब विधियाँ प्रतिप्रस्थाता इस दक्षिणी वेदि में सम्पन्न करता है। इस वेदि के लिये अग्निमन्थन भी अलग होता है, और बर्हि, पात्र आदि भी पृथक् होते हैं। मारुती आभिक्षा के लिये दूध भी अलग निकाला जाता है[1]।

बर्हि, इध्म और प्रस्तर के सब विधान वैश्वदेवपर्व के समान हैं। अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश, सोम के चरू, सविता के अष्टकपाल पुरोडाश, सरस्वती और पूषा के चरू, इन्द्राग्नी के द्वादशकपाल पुरोडाश और प्रजापति के एक कपाल पुरोडाश के लिये हविष्यान्न लेकर यथाविधि हवियाँ बनाई जाती हैं, और फिर वरूण और मरूतों के लिये अलग-अलग आभिक्षा तैयार की जाती है।

हवि-सम्पादन के अनन्तर अग्निष्टोमयाग की तरह उत्तरवेदि का निर्माण करते हैं, उसके साथ ही दक्षिणी कोने में दूसरी छोटी वेदि भी बनाई जाती है। उत्तरवेदि में अग्निमन्थनपूर्वक अग्नि का विधिवत् आधान किया जाता है।[2] यथावत् स्रुक् सम्मार्जन और आज्य-ग्रहण करके उन्हें वेदि के पास यथास्थान रख दिया जाता है।

करम्भपात्र होम—

यही होम इस पर्वयाग की विशिष्ट विधि है। गार्हपत्य के उत्तर[3] में प्रतिप्रस्थाता करम्भ नामक अन्नविशेष से कुछ पात्र बनाता है। इन्हीं को करम्भपात्र

---

१ मा. श्रौ. सू. १।७।३।५-६.
२ ,, १।७।३।४१-४२.
३ ,, १।७।४।१.

कहते हैं। इन पात्रों की संख्या यजमान के परिवार की सदस्य-संख्या से एक अधिक होती है। एक छाज में सौ या हजार शमी के पत्ते बिछाकर ये करम्भपात्र उसमें रख दिये जाते हैं। अवशिष्ट करम्भ से एक मेष और एक मेषी बनाते हैं, और इन पर रूई चिपकाकर इन्हें रोमयुक्त भी बनाया जाता है। मरुत् देवता की आमिक्षा में मेष और वरुण देवता की आमिक्षा में मेषी रखी जाती है।[1] दोनों आमिक्षाओं में करीर और शमी के पत्ते डाले जाते हैं। इनकी आहुति के लिये भूर्ज नामक वृक्ष की स्रुचा बनाई जाती है।[2]

अब समस्त हवियों को उत्तरवेदि के पास और मारुती आमिक्षा को दक्षिणी वेदि के पास रखकर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों वेदियों में मन्थन द्वारा अग्नि प्रदीप्त करते हैं प्रतिप्रस्थाता गार्हपत्य के समीप जाकर[3] यजमान-पत्नी से उसके प्रेमियों की संख्या पूछता है। पत्नी द्वारा नाम बताने पर उसे वरुण को निवेदित कर मानों उसी का होम किया जाता है। अब एक मन्त्र का जप करके यजमान और उसकी पत्नी उन करम्भपात्रों वाले शूर्प को सिर पर रखकर दक्षिणी वेदि के सामने पश्चिमाभिमुख होकर खड़े हो जाते हैं। यजमान एक मन्त्र का जप करता है, और दोनों शूर्प द्वारा ही सब करम्भपात्रों की आहुति देकर वापिस लौट आते हैं। यही करम्भपात्रहोम है। इसके करीर-पत्रों से अग्नि का सम्मार्जन किया जाता है।

प्रधान हवि-अनुष्ठान—

अब पूर्ववत् प्रवर-वरण आदि से लेकर आज्यभाग और सब हवियों की तत्तत् देवता के यथाक्रम याज्यानुवाक्या मन्त्र-पाठ सहित उत्तरवेदि में आहुतियाँ दी जाती हैं। अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा और इन्द्राग्नी की हवियों से अनुष्ठान करके अध्वर्यु मारुती आमिक्षा में रखे मेष को वारुणी आमिक्षा में, और वारुणी मेषी को मारुती में रखकर[4] वारुणी आमिक्षा से यथाविधि आहुति देता है, और इसी समय प्रतिप्रस्थाता मारुती आमिक्षा की आहुति देता है। इन आहुतियों में मेष-मेषी की भी आहुति दी जाती है। अन्त में प्रजापति के एककपाल पुरोडाश हवि की यथाविधि आहुति देकर पूर्ववत् स्विष्टकृत्, इडोपाह्वान, स्रुक्-व्यूहन आदि विधियाँ की जाती हैं।

तदनन्तर पूर्व विधि से "वाजियाग" किया जाता है। अन्त में अग्निष्टोमयाग की तरह अवभृथ-स्नान करके समिधाधान के साथ यह पर्वयाग पूर्ण होता है।

---

१ मा श्रौ सू १।७।४।८, श २।५।२।१७

२ मै स १।१०।१२

३ मा श्रौ स १।७।४।११

४ श २।५।२।३६

साकमेघपर्व

काल—

यह वरुणप्रघासपर्व से चार मास बाद की पूर्णिमा में अनुष्ठित होता है। यह पर्वयाग ३ दिन तक चलता है। किन्तु इसके अंगभूत पितृयज्ञ का अनुष्ठान सम्भवतः आगामी अमावस में होता है।

देवता-हवि—

अनीकवान् अग्नि के लिये अष्टकपाल पुरोडाश, सांतपन मरुतों के लिये चरू, गृहमेघी मरुतों के लिये ओदनपाक, इन्द्र के लिये शिरोनिष्काप, क्रीडिनी मरुतों के लिये सप्तकपाल पुरोडाश; अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा तथा इन्द्राग्नी के लिये पूर्ववत् छहों हवियाँ, वृत्रघ्न इन्द्र के लिये चरू और विश्वकर्मा के लिये एक कपाल पुरोडाश ये कुल १३ देवता और १३ हवियां हैं।

यजन-विधि—

यह साकमेघ पर्वयाग तीन भागों में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन की तीन इष्टियां-अनीकवतेष्टि, सांतपनेष्टि और गृहमेघीयेष्टि तथा दूसरे दिन की इन्द्र-निष्काप और क्रीडिनेष्टि की विधि प्रथम भाग मे आती है, दूसरे दिन ही अनुष्ठित महाहविर्याग की ८ हवियां दूसरे भाग में हैं, और तीसरे भाग में पितृयज्ञ और त्र्यम्बक हविर्याग आते हैं।

पूर्णिमा की प्रातः अनीकवान् अग्नि के लिये अष्टकपाल पुरोडाश बनाकर प्रयाज-अनुयाजपूर्वक याज्यानुवाक्या सहित अनीकवेतेष्टि सम्पन्न की जाती है। इस इष्टि की बर्हि उठाई नहीं जाती है, और इसी पर मध्याह्न में सांतपन मरुतों के लिये चरू की हवि बनाकर विधिवत् सांतपनेष्टि का अनुष्ठान करते हैं। शाम को सब गायों के दूध में चावल पकाकर गृहमेघीय मरुतों के लिये ओदनपाक चरू की हवि बनाते हैं, और इसी हवि से गृहमेघीयेष्टि की जाती है। इस इष्टि के चरू के निष्काप—ऊपर जमी गाढ़ी मलाई—को अगले दिन की हवि के लिये रख लिया जाता है। यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस सायंकालीन इष्टि में सामिधेनी मन्त्रों और प्रयाण-अनुयाजों के यजन का स्पष्ट निषेध है। इसमें याज्यानुवाक्या सहित हवि के अतिरिक्त सिर्फ आज्यभागों और स्विष्टकृत अग्नि की आहुति दी जाती है, और इडोपाह्वान किया जाता है।

रात्रि भर अपने बछड़ों सहित गायें यज्ञमण्डप के पास बैठी रहती हैं। अगले दिन मण्डप के पास एक बैल को लाया जाता है। अग्निहोत्र से पूर्व[1] उस बैल से वषट्कार के रूप में गर्जनयुक्त शब्द करवाया जाता है। उसके शब्द करने पर दर्वी को चरू के शिरोनिष्काप से भरकर गार्हपत्याग्नि में इन्द्र के लिये आहुति दी जाती

---

१ मा. श्रौ. सू. १।७।५।२९.

है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान के बाद सूर्योदय हो जाने पर क्रीडी मरुतों के लिये सप्त-कपाल पुरोडाश की हवि बनाकर उसकी यथाविधि आहुति देते हैं।

तदनन्तर आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र अष्टकपाल पुरोडाश, सारस्वत और पौष्ण चरु, ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश, वार्त्रघ्न ऐन्द्र चरु और वैश्वकर्मण एक कपाल पुरोडाश की इन आठ हवियों से क्रमश विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है। इसी को "महाहविर्याग' कहते हैं। समस्त हवि अनुष्ठान के बाद एक "आघार" आहुति दी जाती है।

पितृयज्ञ[1]—

इस यज्ञ के लिये जो बर्हि लाई जाती है, उसे मूल के पास से काटा जाता है, और पितरों के लिये हविष्पात्र को दक्षिण की ओर से निकालने का विशेष विधान है। पितरो के तीन वर्ग हैं[2]—१. पितृमान् सोम, इनके लिये षट्कपाल पुरोडाश बनाया जाता है, २ बर्हिषद् पितर, इनके लिये जौ भूनकर "धाना" नामक हवि बनाई जाती है, ३. अग्निष्वात्त पितर, इनके लिये अभिवान्या[3] गाय के दूध मे पिसे जौ को पकाकर "मन्थ" नामक हवि बनाई जाती है। इस हवि को दक्षिण दिशा मे बैठकर इक्षुशलाका से मथा जाता है।

इस यज्ञ के लिये दक्षिणाग्नि के सामने कुछ दूरी पर पुरुष के परिमाण वाली[4] चौकोर वेदि बनाकर उसे चारो ओर से घेरकर आवृत्त कर लेते हैं। उत्तरी श्रोणी की ओर एक द्वार रखा जाता है। इस वेदि के सब ओर बर्हि बिछाकर प्रकृतिवत् आज्य आदि ग्रहण कर सब आज्यपात्रों को यथास्थान रख दिया जाता है। हवियाँ गार्हपत्याग्नि पर पकाई जाती है, और औदनपचनाग्नि से अग्नि लेकर इस वेदि मे अग्नि का अमन्त्रक आधान किया जाता है। इसमे होता या आर्षेय का वरण नहीं होता है। सिर्फ एक सामिधेनी मन्त्र बोला जाता है। बर्हि नामक प्रयाज को छोडकर शेष चार प्रयाजो का और दोनो आज्यभागाहुतियो का यजन यथाविधि करके यज्ञोपवीतों को दायें कन्धे से बाईं कुक्षी तक कर लिया जाता है, और दायीं ओर से उत्तर का अतिक्रमणकर दक्षिण दिशा में खडे होकर इस यज्ञ की विशिष्ट हवियो की आहुतियाँ दी जाती हैं। आश्रावण-प्रत्याश्रावण और याज्यानुवाक्यापूर्वक क्रमश पितृमान् सोम को पुरोडाश, बर्हिषद् पितर को धाना और अग्निष्वात्तो को मन्थ की आहुतियाँ दी जाती हैं। पितरो की हवियो का 'स्वधा

---

१ मै. स. मे इस यज्ञ की अवस्थिति के सम्बन्ध मे षष्ठ अध्याय देखिये।

२ तै. स मा (३।६।१५) मे इन तीनो का सविस्तर वर्णन है।

३ किसी हत्तक बछडे को स्तन्यपान करवाने वाली गाय को अभिवान्या कहते हैं।

४ मा श्रौ सू. १।७।६।११.

नमः" वषट्कार किया जाता है। हवियों को पाँच बार करके लिया जाता है। कव्यवाहन अग्नि के लिये भी तीन आहुतियां दी जाती हैं। अन्त में वहिरहित दो अनुयाजों का यजन करके कपालों का विमोचन कर दिया जाता है।[1] अब तीन पिण्डों को सब सिरों पर रखकर सब दिशाओं में अवस्थित पितरों को तृप्त किया जाता है।

तदनन्तर ऋत्विज और यजमान आच्छादित वेदि भूमि से वाहर आकर आहवनीय और गार्हपत्य की उपासना करके पुनः आवृत्त वेदिभाग में प्रविष्ट हो जाते हैं। जल से भरे कलशों को छूकर पितरों को प्रणाम किया जाता है, और दक्षिण दिशा की ओर संकेत करके उसे पितरों की दिशा और शेष दिशाओं को अपनी कहा जाता है। अब जलकलश को लेकर उससे वेदि के चारों ओर जल छिड़कते हुए बाईं ओर से घूमकर तीन बार अग्नि की विपरीत परिक्रमा की जाती है, और तीन बार विना जल छिड़के परिक्रमा करते हैं। अन्त में पितृ-मन का आह्वान करते हुए पुनः आच्छादित वेदिभाग से वाहर आकर गार्हपत्याग्नि की उपासना की जाती है।

यही पितृ-यज्ञ की विधि है।

त्र्यम्बक हविर्याग—

इस याग से रुद्र की प्रसन्नता सम्पादित की जाती है। गार्हपत्याग्नि पर एक कपाल वाले पुरोडाश बनाये जाते हैं। पुरोडाशों की संख्या करम्भपात्रों की तरह परिवार की सदस्य-संख्या से एक अधिक होती है। इन पुरोडाशों पर घी का अभिधारण किया जाता है। अब दक्षिणाग्नि[2] से एक अंगार लेकर पुरोडाशों को धूपायित करके इन्हें लेकर उत्तर की ओर जाते हैं। सर्वप्रथम एक पुरोडाश को चूहे द्वारा खोदी मिट्टी पर डालते हैं, और फिर एक चौराहे पर उस अंगार को रखकर उस अंगार पर समिधा रखते हैं। उस स्थान को साफ करके जल से सिंचित करते हैं।[3] एक मध्यमपर्ण पर प्रत्येक पुरोडाश में से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर उन पर घी डालते हैं, और उसी मध्यमपर्ण द्वारा उस हवि-अंश की आहुति दे देते हैं। सब लोग तथा पति की इच्छुक कन्या अग्नि-स्थल की तीन बार परिक्रमा करती है। अब अपने-अपने पुरोडाशों को ऊपर की ओर उछालकर पुनः पकड़ लेते हैं, और उन सब पुरोडाशों को यजमान तथा पतिकामा लड़की पर फेंक देते हैं। बाद में सब पुरोडाशों को एकत्रित करके एक टोकरी में रखकर रुद्र के भाग के रूप में एक वृक्ष पर लटका देते हैं।

---

१ मा. श्रौ. सू. १।७।६।४३.
२ ,, १।७।७।३.
३ ,, १।७।५.

अन्त मे परोगोष्ठ मे मार्जन किया जाता है, और वापिस यज्ञ-स्थल पर पहुँच-कर अदिति के लिये घी मे चरू बनाकर उससे प्रकृतियागवत् यथाविधि यजन करके यज्ञ समाप्त किया जाता है।

शुनासीरीय पर्व[1]

काल—

यह पर्वयाग साकमेघ से चार मास अथवा एक मास या चार दिन बाद अनुष्ठित किया जाता है।[2]

देवता—हवि—

अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती और पूषा-इन पाँच देवताओ की हवियाँ यथापूर्व है। इनके अतिरिक्त वायु, शुनासीर इन्द्र और सूर्य के लिये क्रमश यवागू, द्वादश कपाल और एक कपाल पुरोडाश की हवियाँ होती है।

यजन-विधि—

उपर्युक्त आठ हवियो से तत्तत् देवता का यजन वैश्वदेव पर्वयाग की विधि के अनुसार ही किया जाता है। इसकी दक्षिणा १२ बैलो वाला हल, ऊंट या बैल है।

अग्निष्टोमयाग

काल—

इसके अनुष्ठान के लिये किसी काल विशेष का वर्णन मैत्रायणी संहिता मे नही है। शतपथ ब्राह्मण[3] मे वर्णित है कि अमावस को अग्न्याधान करके आगामी पूर्णिमा को पूर्णमासयाग और उससे अगली अमावस को दर्शयाग करने के उपरान्त दीक्षा लेकर सोमयाग का प्रारभ किया जाता है। और अग्निष्टोम सोमयाग ही है। किन्तु मैत्रायणी-संहिता[4] के अनुसार सोमयाग के लिये अग्न्याधान करने वाले को उस अग्नि मे अग्निहोत्र या दर्शपूर्णमासयाग नहीं करने चाहिये। मानवश्रौतसूत्र और यज्ञतत्त्वप्रकाश मे अग्निष्टोम को वसन्त ऋतु में करने का वर्णन है।[5] सायण[6] के अनुसार इसके लिये किसी भी ऋतुविशेष या नक्षत्रविशेष का विधान नहीं है। हिल्लेब्राद् के अनुसार यह अमावस या पूर्णिमा पर मनाया जाने वाला वसन्त-पर्व है।[7]

---

१ मै सं मे इस पर्वयाग की अवस्थिति के लिये षष्ठ अध्याय देखिये।

२ मा. श्रौ सू १।७।८।१

३ श ११।१।१।७.

४ मै स ३।६।६

५ मा श्रौ सू. २।१।१।१, य त प्र, पृ ५५-५६

६ श ब्रा मा ११।६

७ वे. ध द. २।४०५.

यह याग दीक्षा-दिन सहित छह दिन तक चलता है।

देवता हवि—

इस सुविस्तृत अग्निष्टोमयज्ञ में एक प्रधान सोमयाग के अतिरिक्त अंगभूत ४ इष्टियां, ४ पशुयाग और एक उपसद्-विधि है। इन सबके देवता और हवि अलग-अलग हैं।

(१) प्रधान सोमयाग—इसमें तीन सवन होते हैं—

(क) प्रातः सवन—यह अग्नि-देवता का है। इसमें इन्द्र-वायु, मित्रावरूण, आश्विन, इन्द्र-अग्नि और विश्वदेवों के लिये सोमग्रह लेते हैं। इन देवताओं के अतिरिक्त उपांशु, अन्तर्याम, शुकामन्थी, आग्रायण, उक्थ्य, ध्रुव, और ऋतुओं के लिये भी सोमग्रह लिये जाते हैं।

इस सवन की हवि व्रीहि का पुरोडाश, जौ की धाना, करम्भ, और परिवाप तथा दूध की पयस्या है।

(ख) माध्यंदिन— सवन-यह इन्द्र-देवता का है। इसमें मरुत्वतीय इन्द्र और महेन्द्र देवता के, तथा पूर्ववत् शुकामन्थी, आग्रायण और उक्थ्य के सोमग्रह लिये जाते हैं।

हवि में पयस्या की हवि नहीं है शेष सब प्रातः सवन की तरह है।

(ग) तृतीय-सवन=यह विश्वदेव का है। इसमें आदित्य, सविता, विश्वदेवों के, और पात्नीवत, हारियोजन, अतिग्राह्य, षोडशी, दधि और अदाभ्य-अंशु के नये सोमग्रह होते हैं, और पूर्व के आग्रायणी तथा उक्थ्य के लिये भी पुनः लिये जाते हैं।

हवि माध्यंदिन-सवन की तरह ही हैं।

प्रातः और तृतीय सवन के कुछ सोम-गृहों में दूध, दही, धाना और पयस्या भी मिलाई जाती है।

(२) अंगयाम—

(क) इष्टियां चार हैं—

(अ) दीक्षणीयेष्टि के देवता अग्नि-विष्णु हैं और हवि एकादशकपाल पुरोडाश तथा दूध का चरु है।

(आ) प्रायणीयेष्टि के प्रधान देवता अदिति हैं, और अवान्तर देवताओं में पथ्या स्वस्ति, अग्नि, सोम और सविता हैं। हवि दूध का चरु और आज्य है।

(इ) आतिथ्येष्टि के देवता विष्णुरूप में सोम है। हवि नवकपाल पुरोडाश की है।

(ई) उदवसानीयेष्टि के देवता और हवि प्रायणीयेष्टि के समान है। पर इसका प्रधान देवता अग्नि है, जिसके लिये आठ और पाँच कपालों के पुरोडाश की विशिष्ट हवि भी है।

(ख) पशुयाग भी चार हैं—

(अ) अग्नीषोमीयपशुयाग के देवता अग्नि-सोम हैं, हवि अज है।

(आ) इस पशुयाग में अग्निष्टोम में आग्नेय अज, उक्थ्य में ऐन्द्राग्न अज, षोडशी में ऐन्द्र वृषा और अतिरात्र में सारस्वत मेषी होते हैं।

(इ) पशवेकादशिनी में अग्नि, सरस्वती, सोम, पूषा, बृहस्पति, विश्वदेव, इन्द्र, मरुत्, इन्द्राग्नी, सविता और वरुण—ये ११ देवता हैं। हवि रूप में इन सबके लिये एक-एक पशु है। सरस्वती के लिये मेषी, इन्द्र के लिये वृष्णि और वरुण के पेत्व हैं, शेष आठों के लिये अलग-अलग रंगों वाले ८ अज हैं।

(ई) काम्यपशुयाग के देवता मित्रावरुण, विश्वदेव और बृहस्पति हैं, जिनके लिये एक-एक वशा की हवि होनी है।

(ग) उपसद्-विधि अग्नि, सोम और विष्णु देवता है, तथा आज्य की हवि है।

इन प्रधान और अंगयागों के अतिरिक्त एक अन्य संक्षिप्त अनुष्ठान भी प्रधान सोमयाग के तृतीय-सवन में है इसका देवता सोम है, और हवि चरु और आज्य है। पर इसमें इष्टि की विस्तृत विधियां नहीं है।

अग्निष्टोमयाग विधि

यज्ञशाला का निर्माण—

इस सोमयाग के अनुष्ठान की इच्छा से यजमान द्वारा ऋत्विक्-वरण[1] हो जाने पर यथासमय पूर्वोक्त विधि से गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नियों

---

१ मा श्रौ सू (२।१।१।८) ने शाला निर्माण से पूर्व ही अध्वर्यु, ब्रह्मा होता और उद्गाता-इन चार प्रमुख ऋत्विजों और १७ होत्रकों के वरण का निर्देश है। किन्तु मैत्रायणी-संहिता (३।६।८) में नामोल्लेखपूर्वक होता, अध्वर्यु, अग्नीत्, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता और नेष्टा—इन सात ऋत्विजों के वरण का स्पष्ट वर्णन है, और बिना वरण किये भी अच्छावाक्, प्रतिप्रस्थाता, उद्गाता, उन्नेता, प्रतिहर्ता, प्रस्तोता और ब्रह्मा—इन ऋत्विजों (जिन्हें सम्भवतः सिर्फ सदस्य कहा जाता होगा, देखिये मै स ४।६।५, ४।८।३) का उल्लेख मिलता

(शेष अगले पृष्ठ पर)

का आधान किया जाता है। इनमें अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास आदि किसी अन्य यज्ञ का अनुष्ठान निषिद्ध है। इसी अग्न्याधान-स्थल को आसपास की भूमि सहित चारों ओर से आवृत कर "प्राचीनवंश" नामक यज्ञशाला का निर्माण किया जाता है। यह पूर्वाभिमुखी, सामने से ऊँची और पीछे से नीची होती है, और इसके चारों कोनों में सुराख रखते हुये प्रत्येक दिशा में एक-एक द्वार होता है।

दीक्षणीयेष्टि

यजमान और उसकी पत्नी यागानुष्ठान के संकल्पपूर्वक दिनभर का उपवास

(पिछले पृष्ठ का शेष)

है। इस दृष्टि से मैत्रायणीकार के अनुसार इस याग के लिये ७ ऋत्विजों का वरण और सात का स्वीकरण मात्र किया जाना चाहिये। (विशेष विवरण के लिये दूसरे अध्याय के पृष्ठ २४, २५, २६, २७ देखिये)

किन्तु यह उल्लेखनीय है कि मैत्रायणीकार के अनुसार इन ऋत्विजों के वरण-स्वीकरण का उपयुक्त समय निर्धारित करना सरल नहीं है। इसी याग की उपसद्-विधि के अनुष्ठान (मै. सं. ३।८।२) में होतृवरण का निषेध कर उसे बैठने मात्र का प्रेष दिया जाता है। इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस अग्निष्टोम की अंगभूत और प्रधान सभी इष्टियों आदि में पुनः-पुनः ऋत्विज-वरण का विधान होगा। इसीलिये विधि-विशेष में होतृ-वरण के निषेध का उल्लेख करना आवश्यक हुआ। और इस स्थिति में इस अग्निष्टोम के अग्न्याधान से पशुयाग तक की विधियों में ऋत्विजों की संख्या और नाम सामान्य अग्न्याधान और दर्शपूर्णमासयाग की तरह ही होंगे जो-अध्वर्यु, होता, अग्नीत् और ब्रह्मा है। किन्तु इस याग में कार्यबहुलता के कारण इन चार ऋत्विजों के अतिरिक्त प्रतिप्रस्थाता को वरण किये बिना भी प्रारम्भ से ही अध्वर्यु के सहकारी के रूप में नियुक्त कर दिया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। अथवा यह भी संभव है कि प्रतिप्रस्थाता को पशु-याग काल से ही नियुक्त किया जाता होगा। तै. (२।३।६) भी पशुयाग में पांच ऋत्विज् मानता ही है। और पशुयाग के बाद ही प्रधान सोमयाग के लिये पूर्वोक्त ७ ऋत्विजों का वरण और ७ सहकारी ऋत्विजों का स्वीकरण किया जाना इसलिये भी युक्तिसंगत लगता है कि उपर्युक्त पांच ऋत्विजों के अतिरिक्त शेष सब ऋत्विजों का कार्य इसी प्रधान सोमयाग में है, इससे पूर्व की विधियों, इष्टियों में नहीं। यद्यपि यह भी संभव है कि यह वरण-स्वीकरण सर्वप्रथम ही किया जाता हो, और यथासमय आवश्यक ऋत्विजों के वरण आदि की आवृत्तिमात्र ही की जाती होगी।

रखते हैं। अध्वर्यु इन्हें अगले दिन[1] दीक्षा देता है। सर्वप्रथम दम्पती दीक्षाकालीन विहित भोजन-मधु मिश्रित दही[2]-खाते हैं। तत्पश्चात् दीक्षणीयेष्टि के लिये अग्नि-विष्णु का एकादशकपाल पुरोडाश और घी मे बने चरु की हवि तैयार की जाती है।[3] यजमान द्वारा सप्तहोतृ-मन्त्र जपने के बाद तत्सम्बन्धी आहुति दी जाती है, और १२ सम्भारयजुषों से ४ आहुतियाँ देकर इस इष्टि का यजन प्रकृतियागवत् किया जाता है।

दीक्षा संस्कार—

अब यजमान के दीक्षा-सबधी संस्कार किये जाते हैं। पहले यज्ञशाला के बाहर पृष्ठ्यादेश के उत्तर[4] म अध्वर्यु यजमान के सिर पर जल छिड़ककर बालों पर दर्भ रखकर बाल काटता है। यजमान इस समय मन्त्र जपता है। सिर के सारे बाल, मूछे, नाखून आदि कटवाकर यजमान स्थिर जल मे स्नान करके वस्त्र पहनकर उसमे गाँठ लगाता है। दर्भ गुच्छ से मक्खन को फेंटकर उसे ऊपर से नीचे की ओर मुख, सिर और पैरों पर तीन बार मलकर "त्रिककुम्" पर्वत के बने सुरमे को सतूला-अग्रभाग मे युक्त-ईषीका, प्रसू अथवा शल्ली की शलाका से बिना वापिस घुमाए ३ बार दायीं आख मे और ३ बार बायीं में डालता है। पत्नी की ये सब क्रियायें अमन्त्रक ही की जाती हैं। अध्वर्यु २,३,७ अथवा २१ दर्भो द्वारा यजमान को सब अंगों से पवित्र बनाता है। इन कार्यों के बाद अध्वर्यु यजमान को पूर्व के द्वार से और प्रतिप्रस्थाता यजमान-पत्नी को पश्चिम-द्वार से यज्ञशाला मे प्रविष्ट करवाकर उन्हें यथास्थान बिठाते हैं।[5]

अब अध्वर्यु आहवनीय मे अधीतयजुषों की चार दीक्षाहुतियां स्रुव से, पांचवीं स्रुचा से और छठी "औद्ग्रभण" नामक पूर्णाहुति देता है, और आहवनीय के पीछे दो कृष्णाजिनों के मासवाले भागों को परस्पर मिलाकर रोम वाले भाग को ऊपर की ओर और ग्रीवा-भाग को पूर्वाभिमुख रखकर बिछाता है। यदि कृष्णाजिन एक ही हो, तो उसके दक्षिण पाद वाले हिस्से को मास वाले भाग से मिलाकर सी दिया जाता है। कृष्णाजिन की श्वेतकृष्णवर्णा रोमपंक्तियो को छूकर यजमान को उसपर चढ़ाकर उसे एक उत्तरीय से ढककर उसकी कटि पर मौंजी मेखला बाधी

---

१ मा श्री सू (२।१।१।१४) के अनुसार यह दिन अमावस या सोम सवन से पूर्व के किसी पक्ष का कोई भी दिन हो सकता है।

२ मा श्री सू २।१।१।१३

३ क्रियाओं का अनिदिष्ट कर्ता पूर्ववत् अध्वर्यु ही है।

४ मा. श्री सू २।१।१।२१

५ ,, २।१।१।४५

जाती है, और उसकी पत्नी की कटि में योक्त्र अमन्त्रक ही बांधा जाता है। एक कृष्णविषाणा को अनुमन्त्रित कर उससे वेदि के बाहर पूर्व की भूमि को खोदकर, विषाणा को यजमान के उत्तरीय के छोर पर बांधा जाता है।[1] आवश्यकता पड़ने पर यजमान इसी विषाणा से अपने सिर व अंगों को खुजाता है। यजमान को उसके मुख तक की ऊँचाई जितना एक दण्ड-डंडा-देकर अध्वर्यु एक मन्त्र जपता है, और यजमान से मुष्ठी बंधवाकर वाक्-नियमन करवाता है। यह दण्ड सोम-सवन की पूर्व-रात्रि को मैत्रावरुणऋत्विक् को दे दिया जाता है। यदि असमय असंस्कृत वाणी का प्रयोग हो जाये, तो पुनः दीक्षा लेकर विष्णु, अग्नि विष्णु, सरस्वती और बृहस्पति के मन्त्रों को बोलकर पुनः वाक्-संयमन का विधान है। अब अध्वर्यु इस दीक्षित यजमान का ३ बार नाम लेकर देवों और लोकों से उसका परिचय करवाता है। शाम को यजमान नक्षत्रोदय होने पर उन्हें देखकर वाणी बोलता है, और जल से हाथ धोकर दूध पीकर अपने नाभि प्रदेश को छूते हुये मन्त्र जपता है। सोते समय और पुनः प्रातःकाल जगने पर अग्नि से व्रत-पालन की प्रार्थना की जाती है। वस्तुतः दीक्षित यजमान इस रात्रि को अग्नि के पास रहकर जागरण करता है। यह उसका उपवसथ-दिन ही होता है। प्रातःकाल होने पर पूर्ववत् दुग्धपान करके यजमान याचकों को नानाविध दक्षिणा देता है। याचकों को आते और जाते समय अभिमन्त्रित किया जाता है। दीक्षित यजमान के जलावगाहन का निषेध है। पर यदि स्नान करे अथवा नदी पार करे, तो हाथ में मिट्टी का ढेला पत्थर, रथांग और अणियों को लेकर संतरण करना चाहिये। सूर्योदय होने पर वाणी को पुनः प्राप्त करके यजमान नामनिर्देशपूर्वक देवों को दक्षिणा-प्रेषण का मन्त्र बोलता है।

दीक्षित यजमान के लिये दिन में भोजन, दीक्षितोपयोगी वचनों के अतिरिक्त सब वाणियों के बोलने और सीधा-चित्त-सोने का निषेध है। कृष्णाजिन पर ही सोना-बैठना विहित है। अन्यों के लिये दीक्षित के अन्न को खाना और उसकी निन्दा करने का निषेध है।

यह अग्निष्टोमीय सोमयाग का दीक्षा कार्य है।

'प्रायणीयेष्टि'

दीक्षा से अगले दिन (उपर्युक्त दक्षिणादान का कार्य कर लेने पर) इस इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। यज्ञ की प्रधान विधि से पूर्व, सर्वप्रथम अनुष्ठित होने के कारण इसका नाम प्रायणीयेष्टि है। इसमें अदिति देवता के लिये दूध में चरु की हवि बनाई जाती है। आहवनीय में प्रयाजों का यजन करके अग्नीषोमीय आज्यभागों

---

१ मा. श्रौ सू. २।१।२।१२.

को आहुतिरहित ऋचामात्र से अनुष्ठित किया जाता है, और पूर्वार्ध मे पथ्या स्वस्ति, दक्षिणार्ध मे अग्नि, पश्चार्ध मे सोम और उत्तरार्ध मे सविता के लिये आज्य की आहुति दी जाती है और मध्य में अदिति के चरु की आहुति देते हैं। शेष सब अनुष्ठान प्रकृतियागवत् है। किन्तु इसमे अनुयाजो से पहले तक की विधियाँ ही की जाती हैं। अनुयाजो का यजन याग की अन्तिम इष्टि उदवसानीयेष्टि में किया जाता है। इससे यज्ञ की अविच्छिन्नता बनी रहती है यज्ञ-प्रवाह को अबाध रखने के लिये प्रायणीयेष्टि के निष्काप-चरुहवि की धुरचन और मेक्षणपात्र को भी इसी प्रकार उदयसानीयेष्टि के लिये रख लिया जाता जाता है। प्रायणीय के अनुवाक्या मन्त्रो को उदयनीय मे याज्या-मन्त्रो की जगह तथा उदयनीय के अनुवाक्या-मन्त्रो को प्रायणीय मे याज्या-मन्त्रो की जगह बोला जाता है।

सोम खरीदकर लाना—

इस इष्टि-अनुष्ठान के बाद एक स्वस्थ, अरुणवर्णा, श्वेतोपकाशा, शुच्यदक्षी और भूरे रोमो वाली गाय को वाणी के प्रतीक रूप मे सोमक्रयण के लिये यज्ञमण्डप में लाया जाता है। अध्वर्यु दर्भ मे बधे हिरण्य को चतुर्गृहीत आज्य में रखकर उस सोमक्रयणी गाय को देखते हुये आज्य की आहुति देकर, उसमे से हिरण्य निकालकर गाय की स्तुति करता है। सोम के मूल्य के रूप मे गाय को सब बन्धुजनो से मान्य करवाकर, गाय की प्रदक्षिणा कर, उसे पूर्व की ओर छह कदम चलाता है, और अमन्त्रक ही रखे गये गाय के सातवें पदचिह्न को छूकर उस पद मे हिरण्य रखकर आहुति देता है। आहुतियुक्त उस पद चिह्न के चारो ओर से अमन्त्रक ही रेखा खीच-कर उस पद की घृतयुक्त मिट्टी को उठाकर, थाली मे डालकर यजमान को देता है। यजमान उस पदधूलि को पुन अध्वर्यु को देता है और अध्वर्यु उसे गार्हपत्यायतन के पास डालकर सोमक्रयणी गाय और यजमान—पत्नी मे परस्पर दृष्टि—निक्षेप करवाता है।

तत्पश्चात् अध्वर्यु और यजमान गाय को लेकर उस स्थल पर जाते हैं, जहाँ बैल के रोहित चर्म पर सोम रखकर स्थान को चारो ओर से आवृत्त करके सोम-विक्रेता बैठा होता है। उस विक्रेता को ही सोम को चुनकर साफ करने का आदेश दिया जाता है। यजमान और अध्वर्यु द्वारा सोमविचयन का निषेध है। सोम के साफ कर लेने के बाद अध्वर्यु और यजमान इस आवृत्त स्थल मे प्रविष्ट होते हैं। अध्वर्यु हिरण्युक्त हाथ से सोम को छूकर पाँच बार मन्त्रपूर्वक और पाँच बार अमन्त्रक ही अजलि से नापकर और प्रत्येक बार क्रमश एक अगुली को हटाकर अजलि बनाते हुये—सोम को लेता है। बाद मे बहुत—सा सोम अजलि से मापे बिना भी लिया जाता है। इस सब परिमापित सोम को एक वस्त्र मे बाँधकर ढीली-सी गाठ दी जाती है। अब वाक् रूपी गाय के एक-एक अग को सोम के मूल्य के रूप म वर्णित करते हुये सोमविक्रेता से सौदा किया जाता है। विक्रेता द्वारा सोम को उससे भी अधिक

मूल्यवान् कहने पर अध्वर्यु गाय की महत्ता का वर्णन करता है।[1] इससे विक्रेता सन्तुष्ट हो जाता है। विक्रेता को हिरण्य, अजा, वस्त्र, दो बैल, ऋषभ, बछड़े सहित सांड और दो गायों को देकर सोम को खरीद लिया जाता है, और सोमरक्षको को इन वस्तुओं की सुरक्षा का आदेश देते हैं।

अध्वर्यु क्रीत सोम को लेकर मन्त्र जपता हुआ सोम को यजमान की दायीं जंघा पर रखने के बाद उसे उठाकर खड़ा होता है, और गाड़ी की ओर जाकर उसमें बिछे कृष्णाजिन पर सोम को रखकर, सोमयुक्त शकट की उपासना करके, गाड़ी को वस्त्र से ढकता है। गाड़ी की उत्तरी धुरी और ईषा को छूकर, गाड़ी के अग्रभाग को ऊपर उठाते हुये उसमें दो बैलों को अमन्त्रक जोता जाता है।[2] प्रदक्षिणापूर्वक गाड़ी को अनुमन्त्रितकर उसे प्राचीनवंश के सामने लाया जाता है। क्रीत सोम को यज्ञशाला में ले जाये जाते समय यजमान शान्ति के लिये जप करता चलता है। प्राचीनवंश के सामने उत्तराभिमुखी गाड़ी को ठहराकर उसके अग्रभाग को ऊपर करके दायीं ओर के अंश को निकाला जाता है, और बंधी रस्सी को खोलकर ऊपर के वस्त्र को हटाकर सोमराजा को नमस्कार किया जाता है। यजमान के प्रतीकस्वरूप एक हृष्ट-पुष्ट बकरे को सोम के सामने लाकर सोम को सौंप दिया जाता है। इससे मानों यजमान अपने को बेचकर सोम को प्राप्त कर लेता है, और इस तरह उऋण हो जाता है। अब दीक्षित के घर में भोजन किया जा सकता है। यह बकरा अब "अग्नीषोमीय" अग्नि और सोम का ही—कहलाता है। इस पशु का भक्षण यजमान के लिये निषिद्ध है।

आतिथ्येष्टि

यह इष्टि अतिथि सोम के स्वागत में की जाती है। अतः इसे 'आतिथ्येष्टि' कहते हैं।

'प्राचीनवंश' के सामने स्थित सोमवाहक शकट का जब एक बैल खोल दिया जाये, तब यजमान—पत्नी से इस इष्टि की हवि निकलवाई जाती है। हविर्निर्वाप के बाद गाड़ी का दूसरा बैल खोला जाता है,[3] और आहवनीय के दक्षिण में एक चौकी रखकर, गाड़ी की बायीं ईषा की ओर से कृष्णाजिन समेत सोम को उतारकर, चौकी पर रखकर उसे कपड़े से ढक देते हैं।

---

१ इस महत्ता में गाय की दस वस्तुयें—कच्चा दूध, पकाया दूध-मलाई, दही, छाछ, जामन, मक्खन, घी, फटे दूध का पनीर-सा कठिन द्रव्य और उससे निकला पानी—गिनाई जाती है। यह शतपथ (३।३।४।२) में वर्णित है। इन्हीं दस चीजों के बदले विक्रेता को हिरण्य आदि दस चीजें दी जाती है।

२ मा. श्रौ. सू. २।१।४।२७.

३ मा. श्रौ. सू. २।१।५६.

अब अग्निमन्थन किया जाता है। अध्वर्यु अग्निमन्थन शकल पर दो दर्भों को रखकर उनपर पहले अधरारणि को रखता है, और फिर उत्तरारणि को घी से चिकना करके अधरारणि के ऊपर रखता है। दोनों अरणियों को ३ बार रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती है। इस प्रसूत अग्नि को आहवनीय मे डाल देते हैं। बाद मे शकल को भी अग्नि मे फेंककर स्रुव से एक आहुति दी जाती है।

यहाँ सोम को विष्णु ही माना है।[१] अत इस इष्टि मे विष्णु के लिये नौ कपालों वाले पुरोडाश की हवि तैयार की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि इस इष्टि की परिधियाँ काष्मर्य लकडी की होती है, और प्रस्तर अश्ववार का। हवि को आहवनीय के समीप रखते समय यजमान द्वारा सम्भार यजुषों से अभिमर्शित किया जाता है। हविनिर्वपन से लेकर अन्य समस्त प्रक्रियायें प्रकृतियाग के समान ही हैं। यह इष्टि इडान्त तक ही अनुष्ठित की जाती है। अनुयाजों का यजन इनमे नही किया जाता है, क्योंकि यह आतिथ्येष्टि आगामी उपसद्—विधि की प्रयाजरूप है और स्वत उपसद् विधि इस इष्टि की अनुयाजरूप है।

तानूनप्त्र आज्य-ग्रहण

अग्नि, सोम, इन्द्र और वरुण—इन चार देवताओं के शरीरों के सम्मिश्रण से निर्मित तनूनप्ता देवता के लिए आज्य का विशेष ग्रहण किया जाता है। इसीसे इस आज्य का नाम तानूनप्त्र आज्य है। इस चतुर्गृहीत आज्य को सब ऋत्विज और यजमान पारस्परिक सहयोग के लिए वचन बद्ध होते हुए एक साथ स्पर्श करते हैं।

अवान्तर-दीक्षा

यजमान को अवान्तर दीक्षा देने के लिये एक समिधा का आधान आहवनीय मे किया जाता है। यजमान से मन्त्र—जप करवाकर उसकी मेखला भी पुन कसवाया जाता है, और पुन मुट्ठी बन्द करवाई जाती है। यजमान अमन्त्रक ही दुग्धपान करता है, और गर्म पानी से अपना सम्मार्जन करता है।[१]

यह अग्निष्टोम के प्रथम दिन का कार्य है। सोम खरीदने बाद इस रात्रि को यजमान जागरण करता है।[२]

उपसद्-विधि

देवों ने इस विधि के द्वारा द्युलोक मे हविर्धान, अन्तरिक्ष मे आग्नीध्र और पृथ्वी पर सदस् रूपी तीन नगरों का निर्माण कर अपने आवास प्राप्त किये थे। अत यह विधि तीन दिन तक अनुष्ठित की जाती है। यह आतिथ्येष्टि की अनुयाज

---

१ श ३।३।४।२१.
२ मै स ३।७।१०
३ मै सं ३।८।३.

रूप है। अतः इसकी सब व्यवस्था आतिथ्येष्टि वाली ही बनी रहती है। इसमें न होता का वरण होता है, न आर्षेय का, और न ही प्रयाजों का यजन किया जाता है। होता को बैठने का प्रेष देकर यज्ञ-विधि को शुरू कर दिया जाता है। इसमें जुहू में आठ बार और उपभृत् में चार बार आज्य लिया जाता है।

सर्वप्रथम ब्रह्मा[1] सोम की गठरी को खोलता है। सब ऋत्विज सोम का स्पर्श करते हुए स्तुति द्वारा सोम का आप्यायन करते हैं, और आतिथ्येष्टि के प्रस्तर[2] पर अपना दायाँ हाथ और उसके नीचे अपना बायाँ हाथ रखकर सब अपलापसदृस देवों को नमस्कार करते है। अब अध्वर्यु जुहू और उपभृत् को घी से भरकर दक्षिण की ओर जाता है,[3] और आश्रावण-प्रत्याश्रावण तथा अनुवाक्या—याज्या मन्त्रों के बाद क्रमशः आहवनीय के पूर्वार्ध में अग्नि, मध्य में सोम और पश्चार्ध में विष्णु की आहुतियाँ दी जाती है। पूर्वोक्त प्रकार से पुनः सोम-आप्यायन और देव-नमन करके सोम को बांध देने पर[4] स्रुव से उपसद् की सर्व प्रमुख आज्याहुति दी जाती है। अन्त में तीन अनुयाजों का यजन किया जाता है। और यजमान दुग्ध-पान करता है।

तीन दिन तक यही विधि दोनों समय की जाती है। अन्तर यह होता है कि प्रातःकाल के अनुवाक्या मन्त्र सायंकाल के याज्या हो जाते हैं, और सायंकालीन अनुवाक्या सुबह के याज्यामन्त्रों के रूप प्रयुक्त होते हैं। और यजमान पहले दिन गाय के चारों अथवा तीन थनों का, दूसरे दिन दो का और तीसरे दिन एक थन का ही दूध पीता है।[5]

सौमिक उत्तर वेदि—निर्माण—

उपसद्-विधि के प्रथम दिन प्रातःकालीन अनुष्ठान के बाद वेदि, हविर्धान-मण्डप, उपरव और सदस् का निर्माण किया जाता है।

आहवनीयाग्नि के सामने ३ कदम की दूरी पर अथवा नापे बिना ही कुछ दूरी पर इस सोमयाग की विशिष्ट उत्तरवेदि का निर्माण किया जाता है। यह वेदि ३६ पग लम्बी (पूर्व से पश्चिम की ओर), सामने से २४ और पीछे से ३० पग जितनी चौड़ी होती है।

सर्वप्रथम उत्कर के सामने एक पग की दूरी पर भूमि को खोदकर और उस पर जल छिड़ककर शम्या से चात्वाल को क्रमशः दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और

---

१ मा. श्रौ. सू. २।२।१।१२.
२ तै. सं. भा. १।२६५.
३ मा. श्रौ. सू. २।२।१।३४.
४ ,, २।२।१।३७-३८.
५ ,, २।२।१।४६.

पूर्व की ओर से नापते हैं। फिर उस पर स्फ्य से प्रहार करके चात्वाल को चौकोर और जानुदघ्न तक गहरा खोदते हैं। चात्वाल की इस खुदी मिट्टी को उत्तरवेदि के लिये पूर्वोक्त परिणाम में नापी गई भूमि पर डालते हैं और उस मिट्टी को फैलाकर उत्तरवेदि का निर्माण करते हैं।[1] उत्तरवेदि के मध्य में प्रादेश परिणाम वाली चौकोर नाभि बनाकर उसे जल से सिंचित किया जाता है। इस जल सिंचित नाभि प्रदेश पर बालू बिछाकर पुन पानी डालकर उसे उत्तर-पूर्व की ओर बहाया जाता है। अब प्रोक्षणी जल से उत्तरवेदि की क्रमश पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की दिशाओ को प्रोक्षित किया जाता है। नाभि में हिरण्य रखकर उसके क्रमश दक्षिण अंश, उत्तरी श्रोणी, दक्षिण श्रोणी, उत्तरी *अंश और मध्यभाग में पञ्चगृहीत आज्य से* पाँच बार व्याघारण किया जाता है। नाभि के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में देवदारु की परिधियाँ रखकर उसमें गुग्गुल आदि सुगन्धित सम्भारो को डालकर अभिमर्शित किया जाता है। और पूर्वाभिमुखी बर्हि को सम्पूर्ण वेदि पर बिछाकर परिधि सन्धियो मे अग्नि देवता—सम्बन्धी ३ प्रायश्चित्ति-आहुतियाँ दी जाती हैं, ताकि यदि हवि या आहुति परिधि से बाहर ही गिर जायें, तो स्कन्न-दोष न माना जाये।

हविर्धानमण्डपनिर्माण—

उत्तरवेदि निर्माण के बाद दो हविर्धान शकटो के लिए प्राचीनवंश के उत्तर और दक्षिण मे एक-एक मण्डप बनाया जाता है। इन दो यज्ञीय शकटों की पहले की सब सन्धियो को खोलकर, शकटो को धोकर, पृष्ट्यादेश के दोनो ओर उत्तर-दक्षिण मे इस तरह खडा करते हैं कि उनके चक्र वेदि के बाहर और उपस्तम्भन-काण्ड वेदि के भीतर रहते हैं।[2] सोमक्रयणी गाय की सप्तहीन आज्ययुक्त पद्‌धूलि को यजमानपत्नी दोनों गाडियो की दाहिनी अक्ष-धुरियो पर ३-३ बार मलती है, और अध्वर्यु आहवनीय[3] मे एक आहुति देता है। दोनो हविर्धानों को—दक्षिणी को

---

१ उत्तरवेदि की तथा अन्य मण्डपों के बीच की भूमि की ऊँचाई-नीचाई यजमान की कामना के अनुसार रखी जाती है। इसका विस्तृत वर्णन मै स के ३।८।४ मे है।

२ मा श्रौ. सू २।२।२।१३

३ मा श्रौ सू (२।२।२।१४) मे शालामुखीया में आहुति देने का निर्देश है। मैत्रायणी संहिता में यह नाम कहीं नही आता है। य त प्र (पृ ६६) के अनुसार उत्तरवेदि के निर्माण के बाद यह वेदि ही आहवनीयाग्नि कहलाने लगती है, इसी मे यज्ञ कार्य अनुष्ठित *किये जाते हैं। पहले की आहवनीय* का नाम "शालामुखीय" और गार्हपत्य का नाम "प्राजहित" हो जाता है। किन्तु यज्ञ सरस्वती (पृ १०७) मे श्री मधुसूदनजी ओझा ने आहवनीय को गार्हपत्य की ही सज्ञा दी है। सूत्रकार का वर्णन य त प्र के अनुकूल प्रतीत होता है पर मैत्रायिणी संहिता सम्भवत यज्ञ सरस्वती वाले मत को मानती है।

अध्वर्यु और उत्तरी को प्रतिप्रस्थाता[1]— यज्ञमण्डप के पश्चिम की ओर कुछ दूरी तक ले जाते हैं। चलते समय दोनों गाड़ियों की दक्षिणी मार्गरेखा पर हिरण्य रखकर आहुति दी जाती है। अक्षों के हिलने या खड़खड़ाहट-सी तीव्र आवाज करने पर अध्वर्यु उसकी शांति के लिये जप करके शकट की उत्तरी ईषा को छूता है। यथा-स्थान पहुँचने पर शकटों की ईषा को पश्चिम से पूर्व की ओर करते हुये हविर्धानों को प्राचीन वंश में स्थापित किया जाता है और दोनों-पहले दक्षिणी फिर उत्तरी को उनके खूंटे से गांठ लगाकर बांधा जाता है। अब उन शकटों के ऊपर चटाईनुमा छप्परों को ताना जाता है। छप्पर के सामने वाले चार खम्भे कन्धे जितने ऊँचे और पीछे वाले कुछ छोटे होते हैं। इन खम्भों को गाड़कर उनपर दक्षिण से उत्तर की ओर बांस लगाकर, उनमें छप्परों के सिरों को मिलाकर रस्सी लपेटी जाती है, और फिर पूर्वार्ध के बांस रखकर, छप्पर पर दर्भों को रखकर सारे छप्पर को ऊपर के बांसों से सी कर गांठ लगा दी जाती है।[2] इस प्रकार दोनों हविर्धानमण्डप तैयार किये जाते हैं। उन तैयार मण्डपों को अध्वर्यु अभिमन्त्रित करता है, और यजमान मण्डप से पूर्व की ओर तीन कदम चलते हुये विष्णु-मन्त्र का जप करता है।

उपरव और सदस् का निर्माण—

दक्षिण हविर्धान मण्डप में शकट की उपस्तम्भन-काष्ठ के पीछे दो बालिश्त की चौकोर जगह बनाई जाती है। "अभ्रि" नामक औजार को लेकर उसे अभि-मन्त्रित करते हैं, और उससे दक्षिण अंस से चारों कोनों पर दो-दो अंगुल के अन्तर पर प्रादेश-परिमाण को गोलाईवाले और बाहु परिमाण गहरे चार उपरवों को खोदा जाता है। इन चारों की मिट्टी निकालकर नीचेसे चारों गड्ढों को मिला दिया जाता है। इससे हविर्धानरूप सिर में उपरव रूप चार प्राणों की स्थापना की जाती है, जो मूलतः परस्पर संश्लिष्ट होते हैं। निर्मित उपरवों को सम्मर्शित किया जाता है।

हविर्धान मण्डपों के भी पीछे वेदि के पश्चिमी सिरे से तीन कदम की अथवा बिना नपी दूरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर नौ अरत्नि परिमाण के लम्बे और २७ अरत्नि चौड़े एक सदस् की जगह बनाई जाती है। इस भूमि के मध्यभाग में पृष्ठ्या-देश से कदमभर की दूरी पर औदुम्बरी शाखा को गाड़ने के लिये एक गड्ढा खोदते

---

१ मा. ३।५।३।१३-१४, २१-२२। उत्तरी शकट का जो-जो कार्य अध्वर्यु करता है, दक्षिणी का वही कार्य प्रतिप्रस्थाता द्वारा होता है।

२ मण्डपों के निर्माणके मन्त्र तो क्रमिक रूप में मैत्रायणी-संहिता (१।२।९, ३।८।७) में उपलब्ध है, और व्याख्यात भी। किन्तु छप्पर निर्माण की यह प्रक्रिया मानव-श्रौतसूत्र के वर्णन पर ही आधारित है।

है। अध्वर्यु यजमान की ऊँचाई से कुछ ऊँची एक औदुम्बरी शाखा लेता है और उस शाखा को पीछे से उद्गाता या यजमान से पकड़वाकर उसके मूल, मध्य और अग्र भाग को क्रमश ३ बार प्रोक्षित करता है। कुल जल और जौ के दाने गड्ढे मे डालकर, उसमे बर्हि बिछाकर, शाखा को उठाकर उसके टहनीवाले भाग को सीधा ऊपर की ओर रखते हुये गड्ढे मे रोप दिया जाता है, और चारो ओर से मिट्टी डालकर गड्ढे को भर देते है। यजमान अपने दीक्षितदण्ड से चारो ओर की मिट्टी को दबाकर भूमि को समतल बनाता है। अध्वर्यु उस स्थल पर पुन जल डालकर शाखा की ऊपर की दो टहनियो के बीच में हिरण्य रखकर आहुति देता है। अब हविर्धानमण्डप के छप्पर के समान ही इस सदस् पर भी छप्पर छाया जाता है। औदुम्बरी शाखा के क्रमश मध्यम, पूर्व और पश्चिम की ओर ३-३ छप्पर रखकर नौ छप्परो वाला सदस्-मण्डप बनाया जाता है। सदस् को चारो ओर से परिश्रित भी किया जाता है, और इसमे द्वार रखे जाते हैं। पहले मध्यम और पश्चिम छप्पर के सन्धिस्थल को छूते हुये उन्हें सीकर गाठ लगाते है, फिर अन्य गन्थियो को सीकर द्वारो को बनाकर सदस् का निर्माण पूर्ण किया जाता है।

इस निर्मित सदस् को अभिमन्त्रित करके प्रोक्षणी जलो से उपरवो को पुन प्रोक्षित किया जाता है। प्रत्येक उपरव मे जल डालकर और बर्हि बिछाकर उन पर उदुम्बर के बने बाहु भर लम्बे दो अधिषवण-फलक-सोम पीसने के फट्टे-सामने मे सटाकर और पीछे से दो अगुल की दूरी बनाते हुये उपरवो पर रखे जाते हैं। इन फलको के चारो सिरो को भी मिट्टी से दबा दिया जाता है। जिस चर्म पर सोम-विक्रेता ने सोम रखा था, उसी चर्म से सोम छानने के लिये एक चर्म बनाया जाता है, और इसे फलको पर बिछाकर चारो कोनो से बाध दिया जाता है।

आग्नीध्रीय-मण्डप का निर्माण—

वेदि (प्राचीनवश) के उत्तरी भाग के मध्य और हविर्धानमण्डप और सदस्-मण्डप के उत्तर मे आग्नीध्रीय मण्डप का निर्माण अमन्त्रक ही किया जाता है।[१] इस मण्डप की भूमि आधी वेदि के अन्दर की होती है और आधी वेदि के बाहर की ली जाती है।

धिष्ण्याधान—

अब आग्नीध्र-मण्डप के दक्षिण मे चात्वाल की मिट्टी डालकर पानी छिड़क-कर और बालू बिछाकर आग्नीध्र ऋत्विक् की "धिष्ण्या" नामक अग्नि का स्थान बनाते हैं। इसी प्रकार मिट्टी पानी और बालू से सदस् के भीतर होता, मैत्रावरुण,

---

१ भा. श्रौ सू २।२।३।१२ का अ अ, पृ ७५.

२ मै. स ३।८।६, श ३।६।१।२६-२९

ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्ठा और अच्छावाक् नामक छह ऋत्विजों की धिष्ण्याग्नियों के लिये भी छह स्थान बनाये जाते हैं।[1] इनके अतिरिक्त मार्जालीयप्रदेश का स्थान भी नियत किया जाता है।[2] इस निर्माण-प्रक्रिया के पूरी हो चुकने पर अध्वर्यु और यजमान जल-प्रोक्षण करते हुये क्रमशः उपर्युक्त सातों धिष्ण्याग्नियों और मार्जालीय-प्रदेश की दो-दो नामों से उपासना करते हैं।[3]

इन धिष्ण्यों के बीच में से अध्वर्यु का गमन निषिद्ध है। उसे चात्वाल और आग्नीध्र के मध्य में से जाना चाहिये, और यदि धिष्ण्यों के पश्चिम में जाये, तो इन्द्र देवता के मन्त्र का पाठ करें।

---

१ मैत्रायणी-संहिता (३।८।१०) में इन धिष्ण्याग्नियों का विस्तृत व्याख्यान होते हुये भी आग्नीध्र के अतिरिक्त किसी ऋत्विज का नाम या संख्यायें भी नहीं हैं। पर ये ऋत्विज मुख्य भूमिका निभाते हैं, और श (३।६।२।६,१२) में होत्रकों, अच्छावाक् का निर्देश होने से और का. सं. (२६।१) में होता है, नेष्टा और पोता का स्पष्ट नामोल्लेख होने से ये नाम ग्राह्य प्रतीत होते हैं। किन्तु मैत्रायणीकार को ये ही नाम ग्राह्य होंगे, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। मा. श्री. सू. (२।२।४।४) इन सदस् की अन्तर्वर्ती धिष्ण्याग्नियों के स्थान और पारस्परिक दूरी का भी स्पष्ट निर्देश देता है कि होता का स्थान पृष्ट्यादेश से बाहूभर दूर द्वार के पीछे दाहिनी ओर होता है, और औदम्बरी शाखा को होता ओर मैत्रावरुण के स्थान के बीचों बीच रखते हुये बायीं ओर अन्य पांचों ऋत्विजों के स्थान बाहू-बाहू भर की समान्तर की दूरी पर बनाये जाते हैं।

२ मा. श्री. सू. (२।२।४।५) में यह स्थल वेदि के दक्षिण-पूर्वी कोने मे बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त मा. श्री. सू. (२।२।४।६-७) चात्वाल के दक्षिण में आस्ताव-स्तोत्रगान का प्रदेश और उत्तर में शामित्र के निर्माण का भी उल्लेख करता है। किन्तु श. (३।६।२।२१) और तै. सं. (६।३।१) भी सिर्फ मार्जालीय का ही उल्लेख करती है। मै. सं. (१।२।१२) के मन्त्र मे आये द्विनामों के युगल भी सिर्फ आठ ही हैं, अतः यहाँ मन्त्र के अनुसार भी अधिक स्थल स्वीकार्य प्रतीत नहीं होते हैं। किन्तु इन दोनों स्थलों की आवश्यकता तो प्रतीत होती ही है।

३ मा. श्री. सू. (२।२।४।८) में इस स्थल पर चात्वाल, शामित्र, सदस्, औदुम्बरी शाखा, ब्रह्मलोक, आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि की उपासना का निर्देश है। किन्तु मै. सं. (३।८।१०), तै. सं. (६।३।१), का. सं. (२६।१) और श. (३।६।२।१,२४) के व्याख्यानों से स्पष्ट है कि ये दो-दो नाम सोमरक्षक इन धिष्ण्याग्नियों के ही हैं। अतः इस मन्त्र से इन्हीं धिष्ण्यों की स्तुति ही अभीष्ट प्रतीत होती है।

व्रतविसर्जनहोम—

प्रायणीय से आतिथ्येष्टि और आतिथ्येष्टि से उपसद्-विधि तक क्रमशः सम्मिलित होता हुआ यज्ञ अब और आगे बढ़ाया जाता है। अतः पूर्ववत् आज्यों का पुनर्ग्रहण किया जाता है। सब ऋत्विज् और सोम को लिये हुये यजमान पूर्वाभिमुख होकर प्राचीनवंश के पश्चिमी सिरे से पूर्व की-आहवनीय की ओर बढ़ते हैं। यजमान पत्नी को भी पूर्वाभिमुख करके आगे ले जाया जाता है। सर्वप्रथम व्रत-विसर्जन-सम्बन्धी २ आहुतियाँ गार्हपत्य में देकर अग्नि को आगे, उसके पीछे सोम-वाहक को और सबसे पीछे अग्नीषोमीय पशु को[1] ले जाते हुये सदस् के उत्तर से जाकर आग्नीध्र-मण्डप में पहुँचकर अग्नि को आग्नीध्रीय धिष्ण्य में रखकर एक आहुति दी जाती है। पशु को इसी मण्डप में बाधकर[2] अध्वर्यु आहवनीय में आहुति देने जाता है, और ब्रह्मा[3] सोम को लेकर हविर्धान-मण्डप के पीछे जाकर खड़ा हो जाता है। आहुति देने के बाद आकर अध्वर्यु ब्रह्मा से सोम लेकर पश्चिम की ओर से और यजमान पूर्व की ओर से हविर्धान मण्डप में प्रविष्ट होते हैं। अध्वर्यु दक्षिण हविर्धान शकट के पास जाकर उसके पूर्वार्ध में कृष्णाजिन बिछाकर उसपर सोम को रखता है, और फिर यजमान-सहित मन्त्र का जप करता है। कुछ देर ठहरकर सोम को नमस्कार कर मण्डप से वापिस बाहर निकलकर अग्नि या आदित्य को देखता है। तत्पश्चात् आहवनीय में समिधाधान कर व्रतपति अग्नि की उपासना करके यजमान से व्रतों का विसर्जन करवाते हैं। अर्थात् अब यजमान मेखला ढीली कर सकता है, वाणी और संवरण आदि नियम भी ढीले हो जाते हैं।

अपराह्ण में उपसद् का सायंकालीन अनुष्ठान करते हैं। यहाँ तक उपसद्-विधि के प्रथम और सोमयाग के दूसरे दिन के कृत्य हैं।

यूप-सम्पादन—

उपसद्-विधि के दूसरे दिन प्रातःकालीन उपसद्-अनुष्ठान के बाद अग्निष्टोम के अंगभूत अग्नीषोमीय पशुयाग के लिये यूप बनाने और यथास्थान स्थापित करने का कार्य किया है[4]। यूप वह काष्ठ-स्तम्भ है, जिससे पशु को बाधा जाता है।

---

१ मा श्रौ सू (२।२।४।२६) में वर्णित है कि इस पशु के साथ चौकी, ग्रावाण, सोमपात्र और द्रोणकलश भी साथ ले जाये जाते हैं और ये सभी वस्तुयें आग्नीध्र मण्डप में ही रख दी जाती है। तै स (६।३।२) और श (३।६।३।१३) में भी ग्रावाण, द्रोणकलश और वायव्य (सोम) पात्रों को आग्नीध्र में रखने का उल्लेख है। का. श्र. (२६।२) में भी ग्रावाणों और वायव्यपात्रों के रखने का वर्णन है।

२ मा. श्रौ. सू २।२।४।२६.

३ ,, २।२।४।३०.

४ मा श्रौ. सू. २।२।१।४१.

इसके लिये सर्वप्रथम अध्वर्यु यूप के योग्य ऐसे खदिर, विल्व या पलाश वृक्ष का चयन करता है, जिसका तना सीधा हो, टहनियां और पत्ते खूब हों और छाल ऊपर को उठी हुई हो। उस चुने वृक्ष के समीप ही अग्निमन्थन करके एक आहुति दी जाती है। वृक्ष की छाल पर घी चुपड़कर उसके पास एक दर्भ रखकर परशु से वृक्ष के पर्व पर प्रहार करते हैं। इस प्रकार से सर्वप्रथम कटे टुकड़े को उठाकर उसे एक ऐसे स्थाणु के रूप में बनाया जाता है, जिसकी ऊँचाई गाड़ी के अक्ष की ऊँचाई से कम रहे। यह स्थाणु ही यूप-शकल कहलाता है, जिसे यूपावट में सर्वप्रथम रखते हैं[1]। अब यूप के लिये पूरे कटे वृक्ष के मूल तने को पूर्व की ओर गिराते समय अनुमन्त्रित करते हैं। कटी जड़ में आहुति दी जाती है, और फिर अपने को छूकर अपने और यजमान के संवर्धन की कामना की जाती है। उस कटे तने का आठ कोणों वाला-अष्टाश्रियूप बनाया जाता है, जिसकी लम्बाई ५ अरत्नि से लेकर ३३ अरत्नि तक की विषम संख्याओं वाली[2] अथवा ऊर्ध्ववाहु पुरुष की ऊंचाई जितनी होती है। इसके साथ ही जिस वृक्ष की लकड़ी से यूप बनाते हैं उसीसे एक स्वरु और चषाल भी बनाया जाता है।

अब आहवनीय के सामने अभ्रि द्वारा एक यूपावट-यूप गाड़ने का गड्ढा-खोदा जाता है, जो आधा वेदि के अन्दर होता है, और आधा वेदि के बाहर होता है। यूप को चात्वाल और आग्नीध्र-मण्डप के बीच के तीर्थ-मार्ग से लाकर गड्ढे के पास पूर्वाभिमुख लिटाकर[3] क्रमशः उसके मूल, मध्य और अग्रभाग को जौ मिले हुये जल से प्रोक्षित किया जाता है, और यूपावट में भी जल और जौ डालकर बर्हि बिछाई जाती है। गड्ढे में सर्वप्रथम यूपशकल को रखकर उस पर आहुति देते हैं। यजमान द्वारा यूप और चषाल में पूरी तरह घी चुपड़वाया जाता है। चषाल को यूप के ऊपरी सिरे में बांधकर यूप को सीधा खड़ा करके गड्ढे में स्थापित कर देते हैं। यूप के आठ कोणो में से आहवनीय की ठीक सीध में रहनेवाले "अग्निष्ठा" नामक एक कोण को यथोचित दिशा में करके यूप के चारों ओर मिट्टी डालकर गड्ढे को भरते हैं। यजमान अपने दीक्षितदण्ड से चारों ओर से मिट्टी को अच्छी तरह दबाता है। उस दबी भूमि पर जल छिड़का जाता है। एक त्रिवृत् रशना लेकर उससे और स्वरु से यूप के ऊपरी भाग को तीन बार छुआया जाता है, और उस रशना को यूप के मध्य भाग में नाभि की ऊँचाई पर दायीं ओर से लपेटकर क्रमशः ऊपर करते हुये तीन लपेटे दिये जाते हैं। वर्षाकामी रशना के लपेटों को क्रमशः ऊपर की ओर ले

---

१ श. ब्रा. मा. ३।२।२८.

२ इसमें ६,८,१० और १२ संख्यायें अपवाद हैं, जो सम होती हुई भी विहित हैं, और १९ विषम होती हुई भी अनुल्लिखित है। (मै. ३।९।२)

३ मा. श्रौ. सू. १।८।२।५.

जाता है, और अवर्षाकामी नीचे की ओर। रशना के पहले सिरे पर अग्निष्ठा के उत्तर मे स्वरू को बाधा जाता है। रात्रि के समय इस यूप के सामने अग्नीषोमीय अज को लाकर पश्चिम की ओर मुख करके खडा कर देते हैं[1]।

शाम को दूसरे दिन की सायकालीन उपसद्-विधि अनुष्ठित की जाती है। इतना सोमयागीय दीक्षा-दिन सहित चौथे दिन का, मूल यज्ञानुष्ठान के तीसरे और उपसद्-विधि के दूसरे दिन तक का कार्य है।

अग्नीषोमीय पशुयाग

उपसद्-विधि के तीसरे अर्थात् अन्तिम दिन प्रातःकालीन उपसद्-अनुष्ठान के बाद इस पशुयाग का कार्य किया जाता है[2]।

सर्वप्रथम आप्रीमन्त्रों का पाठ होता है[3]। तत्पश्चात् अध्वर्यु दो दर्भों और एक हरितवर्णा प्लक्ष शाखा लेता है। उस बकरे को स्नान करवाकर इन दर्भों और शाखा से उसे छूते हुये उपाकृत किया जाता है। उपाकरण के बाद अग्नि-मन्थन होता है। एक पाश लेकर उसे पशु के सिर मे डालते हैं। यूप के उत्तर की ओर रशना से उस पाश को जोड़ देते हैं। पशु पर जल छिडककर, उसके यजन के लिये बन्धुओं से अनुमति ली जाती है। पशु को पानी पिलाते हैं और उसके वक्ष आदि सब अगो को प्रोक्षित किया जाता है। आहवनीय मे आज्य का आधारण किया जाता है, और आज्य से पशु के क्रमश प्राणदेश, ककुद् और पिछले भाग को चिकना करते हैं। स्वरू और स्वधिति को जुहू के आज्य मे भिगोकर स्वरू से सीगो के मध्यवर्तिभाग को घी से चुपडा जाता है। एक अगार लेकर पशु और चात्वाल का पर्यग्निकरण किया जाता है।

प्रयाज-यजन तथा पशु संज्ञपन—

इस प्रारंभिक विधि के बाद पशुयाग का प्रारभ होता है। इसमें सर्वप्रथम ११ प्रयाजों का यजन किया जाता है। इसके बाद एक मोचन आहुति दी जाती है, और पशु को यूप-रशना मे खोल लिया जाता है। दो वपाश्रपणियो द्वारा यजमान पीछे से पशु को छूता है और पशु को उत्तराभिमुख करके इसी तरह वपाश्रपणियों द्वारा उसे छूते हुये अध्वर्यु और श्रपणियो को पीछे से पकडे हुये यजमान तथा सबसे

---

१ मै. स. ३।७।८ मे रात्रि को खडा करने का उल्लेख है और मा श्रौ. सू. (१।८।२।३०) मे इस क्रम और पश्चिमाभिमुख होने का।

२ मा श्रौ. सू २।२।१।४५

३ मै. स ३।९।६

आगे अग्नि लिये हुये आग्नीद् चात्वाल[1] तक जाते हैं। वहां पहुँचकर उपाकरण वाला एक दर्भ फेंक दिया जाता है। शमिता[2] पशु के सिर को पश्चिम और पैरों को उत्तर को ओर करके उसे लिटाता है, और उसका संज्ञपन किया जाता है। पशु के संज्ञपन-काल में यजमान और अध्वर्यु मन्त्र-जप करते हैं। पशु के मर जाने पर पशु के गले की रस्सी खोलकर बर्हि या किसी लकड़ी पर अमन्त्रक ही रख दी जाती है और यदि अभिचार करना हो, तो मन्त्रपूर्वक रखी जाती है[3]।

पशुवपाहोम—

अध्वर्यु यजमान-पत्नी से आदित्योपासना करवाता है, और यजमान उसे आगे लाता है। पत्नी चात्वाल में आकर जल को अभिमन्त्रित करती है। अध्वर्यु मृत पशु के मुख, प्राण, चक्षु और कण्ठ को धोता है, और पत्नी उन पर जल छिड़कती है। पशु के पैर, नाभि, उपस्थ और पायु का स्पर्शमात्र किया जाता है। भूमि पर गिरी बून्दों को अनुमन्त्रित करते हैं। उपाकरण वाले दूसरे दर्भ को मृत पशु की नाभि के सामने रखकर उस पर स्वधिति से तिरछा प्रहार किया जाता है। प्रहार से कटी त्वचा को खोलकर उससे रक्त में दर्भाग्र को डुबाकर एक ओर फेंक देते हैं, और उसे एड़ी से कुचल देते हैं। वपा को बाहर निकालकर उसके सबसे पतले भाग को काटा जाता है। वपा को जल से प्रोक्षित कर स्वधिति से उसे समेट लेते हैं। एक वपाश्रपणी पर वपा को लपेटकर सूर्य की स्तुति की जाती है। दूसरी वपाश्रपणी को वपा और पशु के पास लाकर वपा को उसमें ले लेते हैं। वपा को अग्नि पर तपाते हैं,[4] और इस वपा-हवि को लेकर उसी तरह और उसी क्रम से सब

---

१ मा. श्रौ. सू. (१।८।३।२८-२९) में शामित्र तक जाने का उल्लेख है। मैत्रायणी में यह नाम नहीं है। बहुत सम्भव है कि शामित्र पर किया जानेवाला कार्य मैत्रायण सम्प्रदाय में चात्वाल में ही कर लिया जाता हो। क्योंकि संहिता (मै. सं. ३।९।७) में पशु और चात्वाल के ही पर्यग्निकरण का वर्णन है।

२ मा. श्रौ. सू. १।८।३।३०.

३ ,, १।८।३।३७.

४ मा. श्रौ. सू. १।८।४।२० और श. (३।८।२।१८) में यहां शामित्र में रखी गई अर्थात् पशुश्रपणाग्नि पर वपा को तपाने का निर्देश है। किन्तु मै. सं. (३।१०।१) और तै. स. (६।३।९) में कोई विशेष नाम नहीं है। सम्भवतः उनका आशय आग्नीद् द्वारा लाकर रखी गई अग्नि पर तपाने का ही है। मै. सं. में तपाने या पकाने का उल्लेख एक बार ही है, और वह भी आहवनीय पर लौट आने के बाद। अतः मैत्रायणीकार की दृष्टि में सम्भवतः आहवनीय पर तपाना-पकाना ही अभीष्ट है।

वापिस आहवनीय के पास आते हैं, जैसे पशु को ले जाते समय थे। आग्नीत् अगार को आहवनीय मे फेंक देता है। वपा को आहवनीय पर पकाया जाता है। पकाते समय एक दर्भ को उठाकर फेंका जाता है। पकने पर वपा को सामने विछी बर्हि पर रख देते हैं। दोनों वपाश्रपणियों को बीच मे से निकालकर उस पकी हुई वपा पर पहले पृषदाज्य का और फिर आज्य का अभिघारण करते हैं। पूर्ववत् आश्रवण-प्रत्याश्रावण और अनुवाक्या-याज्या मन्त्रों के प्रैष और वाचन के बाद पहले एक आज्य की आहुति दी जाती है, उसके बाद वपाहोम अमन्त्रक किया जाता है।[1] बाद मे पुन एक आहुति देते हैं। अन्त मे दोनों वपा-श्रपणियों को परस्पर विपरीत दिशा मे फेंक दिया जाता है। अब पशु के शेष अगों को पकने के लिये रख देते हैं, हृदय को "शूल" नामक पात्रविशेष मे पकाते हैं।

पशु पुरोडाशहोम—

अब पशु-पुरोडाश के लिये व्रीहि की हवि निकाली जाती है और इन्द्र तथा इन्द्राग्नी के लिये एकादशकपाल अथवा द्वादशकपाल की पुरोडाश हवि तैयार की जाती है। इष्टियागवत् उस हवि से यजन किया जाता है।

वसाहोम—

अब तक पशु के अन्य अग पककर तैयार हो जाते हैं। स्रुव मे पृषदाज्य लेकर तीन बार इस पशु के पकने के बारे मे पूछा जाता है। स्वीकृतिसूचक उत्तर मिलने पर उस पके हवि-पशु पर पृषदाज्य का अभिघारण किया जाता है। हृदय पर भी अभिघारण करते हैं। इस पशुहवि को मनोता देवता के लिये कहकर तत्सबधी अनुवाक्या-मन्त्र बुलवाये जाते हैं। अब पशु के प्रत्येक अग-हृदय, जिह्वा, श्येन, यकृत, दो"", दोनों पार्श्व, दोनों मतस्न, दोनों श्रोणी-पर प्लक्ष शाखा रखकर अग से दो-दो बार कुछ भाग काटा जाता है। गुदा को तीन भागो मे काटते हैं। दक्षिण मस्तक के पूर्वार्द्ध, गुदा के मध्यभाग और सव्य श्रोणी के पिछले भाग को अग्नि के लिये काटा जाता है।

अगों के पकने और काटने से निकले शरीर के रस-वसा-को वसाहोमहवणी मे ले लिया जाता है, और इसमे यूष को मिलाकर हवणी को एक पार्श्वास्थि से ढक देते हैं। जुहू मे हिरण्यशकल को रखकर आधी ऋचा से वसाहोम की पहली आहुति दी जाती है, और आधी से दूसरी आहुति देते हैं। अब सोमरूप वनस्पति के लिये पृषदाज्य की आहुति दी जाती है।[2] शेष वसा से सब दिशाओं सबधी आहुतियाँ देते हैं। सबसे अन्त में प्राची दिशा की आहुति दी जाती है। अन्त मे अग्नि के लिये

---

१ मा श्रौ सू (१।८।४।३६) मे इसके लिये एक शाखान्तरीय मन्त्र है।

२ तै स ३।१०।४

विशेष रूप से काटे गये अंश की आहुति देकर अवशिष्ट अंगों को छूकर जप किया जाता है। इडा के लिये होता को बड़ी आंत दी जाती है।

अनुयाज तथा उपयद् (गुदा) होम—

अब अनुयाज-सम्बन्धी समिधा को रखकर ११ अनुयाजों का यजन किया जाता है। तत्पश्चात् गुदा के भागों से उपसद् होम की ११ आहुतियाँ वषट्कार पूर्वक दी जाती हैं। इसके बाद हृदयप्रदेश को छूकर जप करते हैं, और सब होम पात्रों को दर्भों पर धोते हैं।

अन्त में जुहू में स्वरू को रखकर आहुति देते हैं। शूलसहित अवभृथ के लिये जाते हैं। वहाँ गीली भूमि में शूल को दबा दिया जाता है। सब ऋत्विज परोगोष्ठ में अपना सम्मार्जन करते हैं, और यजमान यूप की उपासना करता है।

अपराह्ण में अन्तिम सायंकालीन उपसद् किया जाता है।

यहाँ तक उपसद्-विधि के तीन दिन तथा यागविधि के चार और दीक्षादिन सहित पांच दिन पूरे हो जाते हैं। अब सोम-सवन और प्रधान सोमयाग का एक दिन शेष है।

सोम-सवन की इस पूर्व रात्रि को यजमान रात्रि भर जागरण करता है।[1]

"सोम-सवन तथा सोमयाग"

अब अग्निष्टोम के अन्तिम—पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिन का कार्य प्रारंभ होता है। इसमें सोम का रस निचोड़कर दिन के तीनों कालों में उसकी पृथक्-पृथक् देवता-सम्बंधी आहुति दी जाती हैं। इस काल-विभाग के अनुसार ही इस सोमयाग-विधि को प्रातः सवन, माध्यंदिन-सवन और तृतीय-सवन के नामों से अभिहित करते हैं। ये सवन और सोमाहुतियां जितने दिन तक चलायी जाती हैं, उन्हीं दिनों की संख्या के आधार पर सोमयागों का वर्गीकरण किया गया है। यथा-एक दिन में ही सब सम्पन्न हो जाने पर एकाह, दो से १२ दिन तक चलाने पर अहीन और उससे अधिक दिन तक करने पर सत्र का नाम दिया जाता है। यहाँ एकाह का ही वर्णन है। इसी दिन सोम को पीसकर रस निकालते हैं, अतः इसे "सुत्या-दिन" भी कहते हैं। सोमलता को कूट-पीसकर रस निकालना ही "सोम अभिषवण"-सोम का सवन करना है।

"वसतीवरी" नामक जलों का ग्रहण स्थापन—[2]

सोम-सवन दिन से पूर्व की संध्या को सूर्यास्त से पहले प्रवहमान जलों में उनके प्रवाह से प्रतिकूल दिशा में कलश डुबाकर जल भरा जाता है। यदि जल भरने

---

१ मै. सं. ३।६।३

२ वस्तुतः यह जल-ग्रहण सुत्या-दिन से पूर्व की संध्या को किया जाता है। अतः मूलतः यह चौथे (दीक्षा-दिन सहित पांचवें) दिन का कार्य है। किन्तु उद्देश्य की घनिष्टता की दृष्टि से इसे यहाँ वर्णित किया जा रहा है।

से पूर्व सूर्यास्त हो जाये तो हाथ में हिरण्य लेकर किसी ऐसे व्यक्ति के घड़े से भरना चाहिये, जो पहले सोमयाग कर चुका हो, और जब जल भरा जाये, तब तक एक जगती लकड़ी को घड़े के ऊपर रखे रहना चाहिये यह जलपूर्ण कलश रातभर यज्ञ-मण्डप में रखा रहता है, और देवों ने रात्रि भर इन जलों में वास कर यज्ञ के आगामी अनुष्ठेय कर्म को जाना था, इसलिये इन जलों का नाम 'वसतीवरी' देवताओं के वास के कारण श्रेष्ठ है। इनका ग्रहण कर्त्ता भी यज्ञ के अनुष्ठेय कर्म को जान लेता है।

अध्वर्यु इन वसतीवरी जलों को सर्वप्रथम गार्हपत्य के पश्चिम में रखता है, और फिर उत्तरवेदि की क्रमश दक्षिणी और उत्तरी श्रेणी पर रखकर[1] अन्त में आग्नीध्र-मण्डप में ले जाकर रख देता है। रात्रि भर ये यहीं पड़े रहते हैं, और यजमान इन्हीं के पास बैठकर रात्रि-जागरण करता है। इन्हीं जलों से सोम का आप्यायन किया जाता है।

"प्रातः सवन"

सवन की पूर्व तैयारी—

अब अगले सुत्या-दिन सब सोम पात्रों को दक्षिण हविर्धानमण्डप में बिछी मिट्टी पर रखकर[2] दक्षिणहविर्धान शकट पर रखे हुये सोम को शकट पर से वस्त्र द्वारा खींचकर अधिषवण फलकों पर रखा जाता है। यजमान सप्तहोतृमन्त्र द्वारा इस अवस्थित सोम को छूता है, और अध्वर्यु होता को प्रातरनुवाक प्रात सवन के देवताओं को बुलाने के मन्त्रों के पाठ का प्रैष देता है।

प्रातरनुवाक के मन्त्र-पाठ के समय प्रतिस्थाता प्राग्वंश में यवों से धाना, करम्भ और परिवाप की हवियाँ तैयार करता है, व्रीहि से पुरोडाश और एक दूध से आमिक्षा बनाता है। इन पाँच हवियों को ही प्रात. सवन के पाँच पुरोडाश कहते हैं।[3]

---

१ श. ३।६।२।१३-१५

२ मै. स (४।६।६) में ध्रुवग्रहपात्र के अतिरिक्त सब पात्रों के दक्षिणहविर्धान में मिट्टी बिछाकर रखने का उल्लेख है और ३।१०।५ में सोम पात्रों की सख्या १२ है। इससे अधिक पात्र-सादन का मैत्रायणी सहिता में कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु मा श्रौ सू (२।३।१।१४-२१) में अनेकानेक पात्रों के रखने का स्थानक्रम से विशद वर्णन है।

३ मा श्रौ. सू. (२।३।२।२-३) में ये सब हवियाँ विविध उपाधिधारी इन्द्र के लिये ही हैं। का स (२६।१) में भी इससे कुछ मिलता-जुलता वर्णन है। किन्तु मै स (३।१०।५) में सवनानुसार सिर्फ हवियों की सख्या और द्रव्यों का ही उल्लेख है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि प्रत्येक सवन में हवि ली जाती है, और खाई जाती है। पर ये हवियाँ कब तैयार हों, कैसे कहाँ इनका यजन-भक्षण हो, इसका कोई वर्णन नहीं है। किन्तु जब हवि है, तो अन्य प्रक्रियायें भी होंगी हो। अत इस विषय में सूत्र की सक्षिप्त प्रक्रिया लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रातरनुवाक-मन्त्रों की समाप्ति पर अध्वर्यु प्रचरणी नामक स्रुचा से एक आहुति आहवनीय में देता है।

अब अध्वर्यु होता को जलों के आह्वान-मन्त्रों का प्रैष देता है, और मैत्रावरुण के चमसाध्वर्यु को मैत्रावरुणचमस को वसतीवरी जलों से भरकर तथा नेष्टा को यजमान पत्नी को लेकर चात्वाल की ओर जाने का प्रैष दिया जाता है[1]। दोनों कार्य सम्बन्धित कर्त्ताओं द्वारा किये जाते हैं। होता के प्रातरनुवाकमन्त्र जिन जलों तक सुने जा सकें, उन जलों को—और यदि जल दूर हों, तो चात्वाल के पास कुछ जल-संचय कर लेना चाहिये,[2] और इस समय उन्हीं संचित जलों को—अध्वर्यु ग्रहण करता है। सम्भवतः इन्हीं का नाम 'निग्राभ्या' है। इन जलों में एक तिनका डालकर प्रचरणी से आहुति दी जाती है, और दर्भों से उस आहुति युक्त जल को हिलाता है। वे ही दर्भ प्रचरणी में रखकर उस दर्भयुक्त प्रचरणी को जलों मे डुबाकर भरता है, और चात्वाल में ही प्रचरणी जल और मैत्रावरुणचमस के जल को परस्पर मिला देता है। इसके बाद अध्वर्यु चात्वाल से वापिस आता है। इसी समय नेष्टा यजमान-पत्नी को सामने लाता है। अध्वर्यु 'पन्नेजनी' नामक जल को अभिमन्त्रित कर पत्नी को देता है। पत्नी पश्चिम द्वार से सदस् में प्रविष्ट होकर इन जलों को नेष्ट्रीय धिष्ण्य के पीछे रखती है। अग्नीत् नेष्टा की—गोद में बैठता है, और उद्गाता द्वारा द्वादश स्तोत्र गाने के बाद पत्नी इन जलों में से कुछ जल अपनी दाहिनी जंघा पर बहाती है। नेष्टा पत्नी और उद्गाता को परस्पर दृष्टि—निक्षेप करवाता है।[3]

---

१ मै. सं. (४।५।२) में यद्यपि इस प्रैष का उल्लेख नहीं है। किन्तु ये दोनों ही क्रियायें मैत्रायणीकार को अभीष्ट है, यह ४।५।२, ४ से स्पष्ट है। मा. श्रौ. सू. (२।३।२।६) में प्रतिप्रस्थाता को होतृ चमस में वसतीवरी जल भरने का प्रैष दिया जाता है। तै. सं. (६।४।३) में भी होतृ चमस में वसतीवरी लेने का वर्णन है, पर श. (३।६।३।१६) में यह प्रैष अग्नीत् के लिये है। किन्तु मै. सं. में होतृचमस का उल्लेख ही नहीं है, अपितु वहाँ (४।५।२ में) मैत्रावरुणचमस के जलको 'निग्राभ्या' नामक अन्य जलों से मिलाने का जो स्पष्ट वर्णन है, उससे मैत्रायणीयों की पद्धति का अन्तर स्पष्ट होता है। इसके अतिरिक्त तै. सं. (६।४।३) श. (३।६।१।१६) और मा. श्रौ सू. (२।३।२।६) भी मैत्रावरुणचमस को ले चलने का प्रैष उसीके चमसाध्वर्यु को देते हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर उपर्युक्त प्रक्रिया दी जा रही है।

२ मा. श्रौ. सू. २।३।२।१५.

३ अग्नीत् द्वारा नेष्टा की गोद में बैठने से लेकर दृष्टि-निक्षेप तक की प्रक्रिया को मा. श्रौ. सू. (२।५।२।१६-२२) तृतीय-सवन के पात्नीवत ग्रह के प्रकरण में

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अध्वर्यु के चात्वाल से वापिस लौटने पर होता उससे जल-प्राप्ति के बारे मे पूछता है। अध्वर्यु उसे स्वीकारात्मक उत्तर देकर आहवनीय मे प्रचरणी से "ऋतु-करणी" नामक एक आहुति देता है, और यजमान से "निग्राभ्या" जलो की स्तुति करवाई जाती है।

अब उपांशु-सवन लेकर वाणी का नियमन करते हैं, और सोम की गठरी की गाठ खोलकर हिरण्ययुक्त हाथ से सोम का अभिमर्शन करते हैं। उपांशु-सवन को फलकों पर रखते हैं, और सोम को देवतानामनिर्देशपूर्वक उठा-उठाकर कृष्णाजिन पर डालते हैं। खरीदते समय जिस प्रक्रिया से सोम को नापते हैं, बिल्कुल उसी तरह इस समय भी सारे सोम को कृष्णाजिन पर रखा जाता है। वसतीवरी जलों को होतृचमस से लेकर सोम पर छिड़ककर उसे तर करते हुये अभिमर्शित करते हैं। सोम लता मे से छह् अंशु-डोडियां-तोडकर अलग रख लेते हैं।

उपांशुग्रह के लिये सोम-सवन

अब कुछ सोम को अमन्त्रक ही उठाकर अधिषवण फलकों पर रखकर उस पर "निग्राभ्या" जलो को छिडकते हैं। उपांशुसवन को ऊपर उठाकर अधिषवण-फलकों को अभिमन्त्रित करते हैं। उपांशु-सवन से सोम को तीन बार कूट-पीस कर निचोडा जाता है। पहली बार आठ बार, दूसरी बार ११ और तीसरी बार १२ बार सोम पर प्रहार करके रस निकालते हैं। प्रत्येक बार प्रतिस्थाता दो-दो अंशुओं को सोमरस मे डालकर उसे पवित्र बनाता है। इस प्राणरूप उपांशुग्रह के सोम रस को "उपयाम" नामक काष्ठनिर्मित पात्र विशेष द्वारा उपांशुस्थाली में डालते हैं।

अब मन्त्रजपपूर्वक इस सोमरसयुक्त उपांशुपात्र को लेकर होता के दक्षिण की ओर से जाकर आहवनीय के पास पहुँचते हैं और आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद दक्षिण-परिधि-संधि पर सीधे खडे होकर इस उपांशुग्रह की आहुति दी जाती है।

(पिछले पृष्ठ का शेष)
निर्दिष्ट करता है। वहाँ द्वादश स्तोत्रगान के बाद ही यह सत्र वर्णित है, और स्वत मैं, स (४।५।४) मे भी द्वादश स्तोत्रगान—के बाद ही इसे विहित माना है, पर द्वादश स्तोत्र तृतीय सवन मे ही विहित है, ऐसा उल्लेख नही मिला है। इसके अतिरिक्त संहिता के मन्त्र-क्रम (मै. म १।३।१।५) ही नहीं, ब्राह्मण-व्याख्यान (मैं. स. ४।५।४) की दृष्टि से भी ये क्रियायें इसी प्रात सवन मे आनी हैं, पात्नीवतग्रह-प्रकरण (मैं स १।३।२९,४।७।४) मे इनकी चर्चा भी नही है। किन्तु तैं स (६।५-८) और श. (४।४।०।१७) मे सूत्र के अनुसार ही वर्णन है। का. स. (२८।८) मे गोद में बैठने का निषेध है। पर यह निषेध भी पात्नीवत ग्रह-प्रकरण मे है, यहाँ नहीं।

यदि अभिचार द्वारा शत्रु नाश करना हो, तो तिरछे खड़े होकर आहुति दी जाती है। आहुति देते समय इस पात्र के मुखाग्र और परिधि पर कुछ सोमरस का गिरना स्वाभाविक है। वर्षा का अभिलाषी पात्र पर ऊपर की ओर हाथ ले जाते हुए और मध्यम परिधि के पीछे से ऊपर की ओर हाथ लाते हुये रसको पोंछ दें, पर वर्षा का अनिच्छुक पात्र पर नीचे और परिधि के भीतर की ओर से नीचे हाथ को लाते हुये रस को साफ करे। होम के बाद वापिस आकर उपांशुपात्र को यथास्थान रख देते हैं[1] और प्रतिप्रस्थाता रस में पड़े अंशुओं को निकालकर फेंक देता है। यदि अभिचार करना हो, तो पात्र को ढककर रखते हैं। अभिचार-सम्बन्धी पात्र को ढकने और रखने का मन्त्र भिन्न है।

१. महाभिषवण—

अब समस्त सोम के सवन के लिये उसको अभिषवण-फलकों पर अमन्त्रक ही रखा जाता है, और फलक के दक्षिण में प्रतिस्थाता, पीछे यजमान, उत्तर में अध्वर्यु और सामने उन्नेता बैठता है[2]। होतृचमससे चुपचाप वसतीवरी जलों को डाल-डालकर सब ऋत्विज ग्रावाणों से कूट-पीसकर सोम का रस निकालते हैं। प्रथम प्रहार अध्वर्यु करता है। अभिषुत हुये सोम को होतृ-चमस में भिगोया जाता है, और निचोड़कर फिर कूटा जाता है। इसी प्रकार चार बार उस अभिषुत सोम को जल से तर करके कूटा और निचोड़ा जाता है, तथा तीन बार इस रसको लिया जाता है। सोमरस के इस निःशेष सवन को "निग्राभ"-पूरी तरह से ले लेना कहते हैं। इस सोमरस को सवनीय-कलशों में भर लेते हैं, और कुछ रस द्रोण-कलश में भी रखा जाता है।

२. अन्तर्यामग्रह—

अब अपानरूप अन्तर्याम के लिये सोमरस का भाग अन्तर्यामपात्र में उपयाम से ग्रहण किया जाता है। इस अन्तर्यामग्रह को लेकर होता के उत्तर की ओर से जाकर आहवनीय की उत्तरीपरिधि-संधि पर जाते हैं, और पूर्ववत् आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद सीधे खड़े होकर इस ग्रह की आहुति देते हैं। उपांशग्रह की तरह ही इसकी सफाई कर वापिस आकर यथास्थान रख देते हैं।

इन दो ग्रहों की आहुति के बाद उपांशुसवन को इन दोनों ग्रहपात्रों के बीच में रख देते हैं।

३. ऐन्द्रवायव ग्रह—

वाणीरूप इस ग्रह में पहले वायु-सम्बन्धी आधा भाग लिया जाता है, और बाद में शेष अर्धभाग लेकर पात्र को यथास्थान रख देते हैं।

---

१ कृपया देखिये इसी अध्याय के पृष्ठ १३५ पर "सवन" की पूर्व तैयारी" के संदर्भ, और टिप्पणी में।

२ मा. श्रौ. सू. २।३।४।१.

४. मैत्रावरुणग्रह—

इस दक्षक्रतुरूप मैत्रावरुणग्रह को लेकर इसमे औटाया हुआ ठडा दूध मिलाते हैं और ग्रहपात्र को यथास्थान रख देते हैं।

बहिष्पवमानस्तोत्र-गान तथा धिष्ण्यों मे अग्नि-विहरण—

अब अध्वर्यु द्वारा पृषदाज्य की एक आहुति देने पर सब लोग गान-स्थली[1] की ओर जाते हैं। स्थल पर पहुँचकर सब बैठ जाते हैं। यजमान दश होतृ-मन्त्र का जप करता है, और उसके बाद अन्य ऋत्विजों द्वारा बहिष्पवमान का गान होता है अध्वर्यु का इस गान मे भाग लेना निषिद्ध है। गान-समाप्ति पर अध्वर्यु अग्नीत् को अग्नि के विहरण और बर्हि बिछाने का प्रैष देता है। अग्नीत् आग्नीध्रीय धिष्ण्याग्नि से अग्नि लेकर सदम् की छह होत्रीय धिष्ण्यों मे अग्नि स्थापित करता है, और पृष्ठ्यादेश से उत्तरवेदि तक बर्हि बिछाता है। इस अग्नि-विहरण और स्थापन का क्रम धिष्ण्य-निर्माण के अनुसार ही होता है।

५ आश्विनग्रह—

बहिष्पवमान के गाने के बाद द्रोणकलक में से श्रोत्ररूप आश्विनग्रह को लेकर पात्र को यथास्थान रख देते हैं।

अब तक गृहीत ग्रहों को विष्णु देवता की ऋचा बोलकर सम्मर्शित किया जाता है।

पशुयाग—

अब अग्नीषोमीय पशुयाग के समान ही अग्नि देवता के लिये एक अज से यजन किया जाता है। पर यह यजन-विधि वपाहोम तक ही अनुष्ठित की जाती है[2]।

प्रात सवनिक पुरोडाश यजन[3]—

सब ऋत्विज् और यजमान सदस् मे प्रविष्ट होते हैं। यजमान होता की धिष्ण्याग्नि के दक्षिणपूर्व और अध्वर्यु उत्तर मे बैठता है। प्रतिस्थाता एक पात्री मे घी चुपड़ता है, और घीयुक्त पात्री मे पूर्वार्धं मे धाना, दक्षिणार्धं मे करम्भ, पश्चार्धं

---

१ देखिये इसी अध्याय के पृष्ठ १४७ की टि २। मैं स (४।८।१०) मे बहिष्पवमान के लिये कहीं जाने का उल्लेख अवश्य है। किन्तु गान-स्थली के पृथक् निर्माण का कोई सकेत नहीं है। बहुत सम्भव है कि प्रारम्भ मे यह गान सदस् मे ही होते हों। क्योंकि इसके बाद ही सदस् की अन्तर्वर्ती धिष्ण्यों में अग्नि लाई जाती है।

२ मैं स ३।९।५, श. ४।२।५।१२-१३

३ इसके लिये पृष्ठ १३५ की टिप्पणी पठनीय है।

में परिवाप, मध्य में पुरोडाश और उत्तरार्ध मे आमिक्षा-इन पाँचों प्रातःकालीन हवियों को सजाता है। अध्वर्यु जुहू-उपभृत् में हवियों को लेकर मैत्रावरुण को इन्द्र के अनुवाक्या-मन्त्रों के लिये प्रैष देता है। आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद यही प्रैष होता को देते हैं। इसी प्रकार अग्नि के अनुवाक्या-मन्त्रों का प्रैष भी देते हैं। इसके बाद इन धिष्ण्याग्नियों में हवि-यजन से लेकर कपालमोचन तक की समस्त विधि इष्टियागवत् ही की जाती है। यह उल्लेखनीय हैं कि धिष्ण्याग्नियों में दी गई आहुतियां पश्चिमाभिमुख होकर दी जाती है,[1] और इन हवियों का भक्षण और सम्मार्जन आग्नीध्र-मण्डप में किया जाता है। अन्त में आग्नीध्र-मण्डप में ही आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद आग्नीध्रीय धिष्ण्य की दक्षिण-परिधि-संधि पर अध्वर्यु और उत्तरी-संधि पर प्रतिप्रस्थाता खड़े होकर मध्य में अग्नि के लिये आज्य और पुरोडाश की तथा दोनों ओर सोम की आहुतियां देते हैं।

द्विदेवत्यग्रह होम—

इस पुरोडाश-अनुष्ठान के बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता पूर्वगृहीत द्विदेवत्य-ग्रहों-ऐन्द्रवायव, मैत्रावरूण और आश्विनग्रहो-की "प्रतिनिग्राह्य" नामक आहुतियां देते हैं।

सर्वप्रथम ऐन्द्रवायवग्रह को आदित्यपात्र से लिया जाता है। ऐन्द्रवायव के पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्रों के बाद होता के वषट्कार करने पर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों इन्द्र-वायु के ग्रह की एक सोमाहुति देते है। प्रतिप्रस्थाता शेष सब ग्रह अध्वर्युपात्र में डाल देता है, और अध्वर्यु इसमें से कुछ अंश प्रतिप्रस्थाता के पात्र में डालकर शेष सबको ले जाकर भक्ष्य के लिये होता को दे देता है। अपने पात्र के अंश को प्रतिप्रस्थाता आदित्यथाली में उंडेल देता है। इसी प्रक्रिया से क्रमशः मैत्रावरूण और आश्विन ग्रहों की भी १-१ आहुति दी जाती है, और भक्ष्य-भाग होता को तथा प्रतिप्रस्थाता का अवशिष्टांश आदित्यस्थाली में डाल देते है। तीनों ग्रह-होमों के बाद आदित्य-स्थाली को अन्य सोमरस से भर लिया जाता है और अभिमर्शन के बाद प्रतिप्रस्थाता आदित्यथाली को आदित्यपात्र से ढक देता है।

द्विदेवत्यग्रह भक्षण—

इन द्विदेवत्य सोमग्रहों का भक्षण सदस्[2] में किया जाता है।[3] इसकी सर्व-प्रथम विशेषता यह है कि इडोपाह्वान भक्षण के बाद होता है। आश्विनग्रह को

---

१ मै. सं. ३।८।१०.

२ मा. श्रौ. सू. २।३।८।२, तै. सं. ३।२।१० (स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशित पृ० १४३)

३ मा. श्रौ. सू. २।४।१।२१, श. ३।५।३।५, मै. सं (३।८।८) में भी शतपथ की तरह सदस् को उदर ही कहा गया है।

सब ओर से हिलाकर खाने का भी विशेष विधान है। शेष विधि इष्टियाग के समान है।

भक्षण के बाद इडा का आह्वान करते हैं। इन पात्रो को खाली रखने का भी निषेध है। ऐन्द्रवायवपात्र मे पुरोडाश, मैत्रावरुणपात्र मे पयस्या और आश्विन-पात्र मे धाना का कुछ अश रखकर इन पात्रो को दक्षिण हविर्धान की उत्तरीवर्तनो के पीछे रखा जाता है।[1]

६ शुक्रामन्थिग्रह—

एक नेत्ररूप शुक्रग्रह को लेकर उसे यथास्थान रखते हैं, और दूसरे नेत्ररूप मन्थीग्रह को लेकर उसमे सक्तु मिलाने के बाद यथास्थान रखते हैं।

अब अध्वर्यु शुक्रपात्र को और प्रतिप्रस्थाता मन्थीपात्र को पोंछकर दोनों को एक-एक प्रोक्षित काष्ठ शकल से ढकने के बाद पात्रों को उठा लेते हैं। अध्वर्यु दक्षिण की ओर से और प्रतिप्रस्थाता उत्तर की ओर से अपने-अपने अगूठों के बल चलकर अपने पात्रों सहित उत्तरवेदि के पूर्व की ओर आकर पश्चिमाभिमुख होकर खड़े हो जाते हैं। शुक्रग्रह को पीछे से पकडे-पकडे यजमान भी साथ जाता है। दोनों ऋत्विज कुछ देर अपनी कुहनियाँ मिलाते है, एक-एक इध्मकाष्ठ अग्नि में डालते हैं, और अपने-अपने पात्र का ढक्कन वेदि से बाहर फेंक देते हैं। अपावृत्त पात्रों सहित दोनों पूर्ववत् वापिस पश्चिम की ओर आ जाते हैं।

इन दोनों ग्रहो की आहुति इन्द्र देवता के लिये दी जाती है। अत. आश्रावण-प्रत्याश्रवण के बाद इन्द्र के लिये अनुवाक्या और याज्या मन्त्रों का प्रैष दिया जाता है। यथाविधि मन्त्र—पाठ के बाद वषट्कार और अनुवषट्कार पर पश्चिमाभिमुख होकर अध्वर्यु शुक्र और प्रतिप्रस्थाता मन्थी ग्रह की दो-दो आहुति देते हैं, साथ ही चमसाध्वर्युगण भी दोनो वषट्कारो पर यथेष्ट सोम की आहुति देते हैं।[2] और फिर पात्रों को यथास्थान रख दिया जाता है।

७ आग्रायणग्रह—

आत्मारूपी आग्रायण ग्रह को दो धाराओ मे आग्रायणी स्थाली मे लिया जाता है। लेते समय उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता तीन बार उच्चस्वर मे हिंकार करते है। तत्पश्चात् स्थाली को यथास्थान रख देते हैं। इस ग्रह की आहुति दारु-

---

१ मा. श्रौ सू २।४।१।४१, तै म ६।४६

२ मा. श्रौ सू २।४।१।२१ २२। मै स (४।६।३) मे चमसाध्वर्युओ की आहुति का उल्लेख नही है। किन्तु ४।६।५ मे कहा गया है कि शुक्र और उक्थ्य-ग्रह मे बहुत सोमकी आहुति देते हैं। इसी आधार पर सूत्र का यह वर्णन लेना आवश्यक लगता है।

पात्र से देते हैं। ग्रह का अंश स्थाली में नहीं छोड़ा जाता है, पर होमपात्र में कुछ रहने दिया जाता है।

८. उक्थ्यग्रह—

वीर्यरूप उक्थ्यग्रह को उक्थ्यस्थाली में लेकर यथास्थान रख देते हैं। इस उक्थ्यस्थाली के गृहीत ग्रह में से तृतीयांश मित्रावरुण देवता के लिये उक्थ्यपात्र में लेते हैं, और स्थाली को अभिमर्शित करते हैं। उन्नेता इस तृतीयांश से मैत्रावरुण ऋत्विज् के मुख्य चमसों को भरता है। स्तुतशस्त्र का पाठ कर लेने पर[1] अध्वर्यु और चमसाध्वर्युगण आश्रावण-प्रत्याश्रावण तथा दो वषट्कारों के बाद दो आहुतियाँ देते हैं।[2] मैत्रावरुण के अवशिष्ट ग्रह को भी उक्थ्यपात्र में से मैत्रावरुण चमसों में डाल लेते हैं। इसके भक्षण के उपरान्त चमसों को यथास्थान रखते हैं।[3]

इसी प्रकार उक्थ्य-स्थाली का अर्धभाग इन्द्र के लिये पात्र में लिया जाता है, और उससे ब्राह्मणाच्छंसी के चमसों को भरकर पूर्ववत् आहुति और भक्षण-क्रिया की जाती है। अन्त में उक्थ्यस्थाली के सोम को इन्द्राग्नी के लिये लेते हैं, और उससे अच्छावाक् के चमसों को भरकर शेष सब विधि पूर्ववत् की जाती है।

इस ग्रह के कुछ अंश को अध्वर्यु को यशस्वी बनाने के लिये आहवनीय और हविर्धान के बीच की भूमि पर, यजमान की यश-प्राप्ति के लिये हविर्धान और सदस् के बीच में, तथा सदस्यों की यश-प्राप्ति की इच्छा से सदस् के अन्दर उंडेलने का भी विधान है।

९. ध्रुवग्रह—

आयुरूप ध्रुवग्रह को लेकर अभिमन्त्रित करते हैं, और इसे हिरण्य के ऊपर रखा जाता है। यह उल्लेखनीय है कि केवल यही ग्रहपात्र उत्तरी हविर्धान में जमीन पर बिना मिट्टी बिछाये रखा जाता है।[4] प्रातः सवन में गृहीत यह तृतीय सवन तक ऐसे ही रखा रहता है। राजपुत्र इसकी रक्षा करता है। (तृतीय सवन में पात्नीवत-ग्रह के बाद)[5] परिधानीया-उपसंहार करने वाली-ऋचा और द्वादशस्तोत्र के पाठ के बाद इस ग्रह को होतृचमस में लेते हैं और आश्रावण-प्रत्याश्रवण तथा होता द्वारा याज्या मन्त्रों के पाठ के बाद वषट्कार और अनुवषट्कार के साथ इस ग्रह की होतृ-

---

१ मा. श्रौ. सू. २।४।३।५.

२ देखिये पृष्ठ १४१ की टिप्पणी २.

३ मा. श्रौ. सू. २।४।३।१०-११.

४ देखिये पृष्ठ १३५ की टिप्पणी २.

५ मा. श्रौ. सू. २।५।२।२४। किन्तु मै. सं. ।४।६।६ में पात्नीवतग्रह के बाद उसके होमका उल्लेख नहीं है।

चमस से दो आहुतियाँ दी जाती हैं। तत्पश्चात् इसका समन्वक भक्षण कर पात्र को यथास्थान रख देते हैं।

यदि अभिचार करना हो तो शत्रु का नाम लेकर ध्रुवग्रह को हिलाकर उसके स्थान से हटा दिया जाता है।

१०. ऋतुग्रह—

संवत्सर के प्रतीक इस ग्रह के दो पात्र होते हैं, जिनके सिरों पर आमने-सामने दो मुख बने होते हैं। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता एक-एक पात्र में एक-एक ऋतु के लिये सोम का भाग लेते हैं। ये ग्रह १४ बार—७ अध्वर्यु द्वारा और ७ प्रतिप्रस्थाता द्वारा—लिये जाते हैं। प्रथम और अन्तिम ग्रह दोनों ऋत्विज् साथ-साथ लेते हैं, और शेष बीच के ५ ग्रह एक-एक करके पहले अध्वर्यु और फिर प्रतिप्रस्थाता द्वारा लिये जाते हैं। ग्रहण के बाद इन ऋतुपात्रों को रखे बिना ही इस ग्रह की आहुति दी जाती है। इस ग्रह-होम में वषट्कार नहीं होता है, और न दूसरी आहुति होती है।

११. ऐन्द्राग्नग्रह—

अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता अपने-अपने ऋतु-पात्रों में ही इस स्वर्गलोक रूप ऐन्द्राग्नग्रह को लेकर यथास्थान रखते हैं। इस ग्रह की पूर्ववत् दो वषट्कारों में आहुति दी जाती है और ग्रह-भक्षण होता है।[1]

१२ वैश्वदेव ग्रह—

अध्वर्यु आदित्यरूप शुक्रपात्र में पुरुषरूप इस वैश्वदेव ग्रह को लेकर यथास्थान रखता है, और यथापूर्व होम तथा भक्षण किया जाता है।

माध्यंदिन-सवन

यह सवन-विधि दिन के मध्यभाग अर्थात् दोपहर को की जाती है। इसी से इसका नाम माध्यंदिन-सवन है। इस सवन में केवल इन्द्र के सोमग्रह का विशेष विधान है। अतः इसे "निष्केवल्य-सवन" भी कहते हैं।[2]

शुक्र-मन्थी, आग्रायण और उक्थ्य ग्रहों का पुनर्ग्रहण—

इस सवन के प्रारम्भ में प्रातः सवन में गृहीत इन तीनों ग्रहों को पुनः लिया जाता है। यहाँ आग्रायणग्रह को तीन धाराओं में लेते हैं, और हिंकार-ध्वनि प्रातः सवन की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्वर में करते। उक्थ्यस्थाली में उक्थ्यग्रह लेते हैं,[3]

---

१ मा. श्रौ सू २।४।२।२८-३१

२ निष्कृष्य केवल इन्द्रो देवता यस्य तन्निष्केवल्यम्। (श ४।३।४।६)

३ मा. श्रौ सू (२।४।४।११-१२) और श (४।३।३।३) में मरुत्वतीयग्रह के बाद उक्थ्य का ग्रहण होना चाहिये। मा. श्रौ सू (२।४।६।१८।२०) में उक्थ्यग्रह के होम का निर्देश माहेन्द्रग्रह के बाद किया गया है।

और उसमें से पूर्वोक्त वर्णित सब देवताओं के स्थान पर सिर्फ इन्द्र के लिये भाग लेकर सब ऋत्विजों के चमस भरे जाते हैं। तीनों ग्रहों की अन्य समस्त विधियाँ यथापूर्व ही की जाती हैं।[1]

१. मरुत्वतीय ग्रह—

यह ग्रह मरुत्सखा इन्द्र के लिये है। वज्ररूप इस मरुत्वतीय ग्रह को ऋतु-पात्रों में पाँच बार लेकर यथास्थान रखते हैं। पहली बार अध्वर्यु और प्रति-प्रस्थाता साथ-साथ लेते हैं, शेष बार सिर्फ अध्वर्यु ही लेता है।

सवनीय पुरोडाश-यजन[2]

हविर्धान के उत्तर से सदस् में प्रविष्ट होकर ऋत्विज और यजमान पूर्ववत् बैठते हैं। यजमान पंच-होतृमन्त्र का जप करता है और उसके बाद अध्वर्यु को छोड़ कर अन्य सब ऋत्विज माध्यंदिन पवमान स्तोत्र का गान करते हैं। स्तोत्रपाठ के बाद अध्वर्यु अग्नीत् को पूर्ववत् अग्नि-विहरण और बर्हि-आस्तरण का तथा प्रति-प्रस्थाता को पुरोडाशों की तैयारी कर प्रैष का प्रैष देता है। अग्नीत् यथावत् कार्य करता है, और प्रतिप्रस्थाता व्रीहि का पुरोडाश तथा यव का धाना, करम्भ और परिवाप—ये चार हवियाँ तैयार करता है। सवन का देवता इन्द्र है। अतः इसी के लिये पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र बुलाये जाते हैं। यजन की शेष सब विधि प्रातः कालीन हवि-यजन के समान है।

मरुत्वतीय ग्रह होम—

मरुत्वान् इन्द्र के लिये पुरोनुवाक्या और याज्या बुलवाकर इस पंचगृहीत मरुत्वतीय ग्रह की आहुति दी जाती है, और ग्रह-भक्षण होता है।[3]

२. माहेन्द्र ग्रह—

वृत्र को मार कर महेन्द्र 'महान इन्द्र' बने इन्द्र के लिये ही यह ग्रह लेते हैं। शुक्रपात्र से इस माहेन्द्र ग्रह को लेकर यथापूर्व होम-भक्षण कर पात्र को यथास्थान रख देते हैं।

तृतीय-सवन

यह सवन दोपहर के बाद किया जाता है। दिन का तीसरा सवन होने से यह तृतीय-सवन है। यही अन्तिम है।

१. आदित्य ग्रह—

पूर्वोक्त द्विदेवत्यग्रहों के अवशिष्टांश से युक्त आदित्यस्थाली में से प्रजा-पशुरूप इस आदित्यग्रह को लेकर आदित्यपात्र को भर लेते हैं। इसमें गर्म दूध को

---

१ देखिये इसी अध्याय के पृष्ठ १४१ व १४२.

२ देखिये इसी अध्याय के पृष्ठ १४० और उसकी टि० १.

३ मा. श्रौ. सू. २।४।६।१-६.

जमाकर बनाई गई दही डालकर उपांशुसवन से इन दोनों को मिलाया जाता है। ग्रह-पात्र को हाथ और दर्भों से[1] ढककर आहवनीय की ओर जाते हैं। यजमान इस आवृत्त ग्रहपात्र को पीछे से पकड़े-पकड़े साथ चलता है। आदित्यों के लिए पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र बुलवाने के बाद अध्वर्यु अग्नि से हटाकर अन्यत्र दृष्टि करके इसकी आहुति देता है। इस ग्रहहोम में एक वषट्कार और एक ही आहुति होती है।

आग्रायण-उक्थ्य का पुनर्ग्रहण—

इस सवन में उच्चतम स्वर से हिंकार करते हुए चार धाराओं से आग्रायण ग्रह को लिया जाता है। उक्थ्यस्थाली में सोम लेकर उसमें से इन्द्रावरुण के लिए कुछ ग्रह निकालकर उससे मैत्रावरुण ऋत्विज् के चमस भरे जाते हैं, इन्द्राबृहस्पति के लिए लेकर ब्राह्मणाच्छंसी के और इन्द्राविष्णु के लिए लेकर अच्छावाक के चमसों को भरा जाता है शेष समस्त विधि पूर्ववत् है।[2]

सवनीय यजन[3]—

सब सदस् के अन्दर प्रविष्ट होते हैं। यजमान सप्तहोतृ-मन्त्र का जप करता है, और अध्वर्यु रहित अन्य सब ऋत्विज् आर्भवपवमान का गान करते हैं। तदनन्तर अध्वर्यु आग्नीत् और प्रतिप्रस्थाता को क्रमश पूर्ववत् अग्नि-विहरण, बर्हि-बिछाने और पुराडोश बनाने का प्रैष देता है। अग्नि विहरण की मुख्य विशिष्टता यह है कि *इस सवन में अनीद्र अगारों या लकड़ी की जगह जलते हुए*[4] *दर्भों-शलाकाओं से अग्नि* का आधान करता है। इस सवन के हवि-पुरोडाश माध्यदिन-सवन की तरह चार ही होते हैं। शेष सब विधि पूर्ववत् है। इस हवि यजन से पूर्व प्रात सवन में अनुष्ठित पशुयाग की अवशिष्ट विधि पशु के अंगों का यजन आदि भी की जाती है।[5]

२. सावित्रग्रह—

अब अन्तर्याम पात्र द्वारा आग्रायण ग्रह में से ही मनरूप सविता के लिए यह ग्रह लिया जाता है, और पात्र को नीचे रखे बिना आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद एक वषट्कार की आहुति दी जाती है।

३. वैश्वदेवग्रह—

सावित्रग्रह के शेषांश में ही प्रजारूप इस वैश्वदेव ग्रह को लेकर यथास्थान रख देते हैं।

---

१ मा श्रौ सू २।५।१।६

२ देखिये पृ० १४१-१४५ मा श्रौ सू (२।५।१।१७) के अनुसार अग्निष्टोम के तृतीय सवन में उक्थ्यग्रह नहीं लेना चाहिए।

३ देखिये पृ० १८० और उसकी टिप्पणी

४ तै. स. ६।३।१.

५ मै. स. ३।८।५-६.

सौम्य चरु—

सोमदेवता के लिए चरु की विशिष्ट हवि बनाई जाती है। सबसे पहले आज्य का ग्रहण करते हैं, और उसे लेकर दक्षिण-परिधि-संधि के पास खड़े होकर आश्रावण-प्रत्याश्रावण के बाद घृत के याज्या मन्त्र बुलवाये जाते हैं। होता द्वारा मन्त्र पाठ के बाद आहवनीय अग्नि के दक्षिणार्ध में आज्य से व्याघारण करते हुए आहुति देते हैं। इसके बाद पूर्ववत् सोम के लिये याज्या मन्त्रों का पाठ करवाया जाता है, और दक्षिण की ओर खड़े होकर सौम्य चरू की आहुति दी जाती है। अवशिष्ट चरू-हवि पर घी डालकर उसे और पवित्र बनाते हैं, और उस पूत चरू में यजमान अपनी प्रतिछाया देखता है। यदि न देखनी हो, तो मन के पुनरागमन से सम्बन्धित एक मन्त्र बोलने का विधान है।

४. पात्नीवत ग्रह—

इस सौम्य-चरू के अनुष्ठान के बाद उपांशुपात्र से पात्नीवतग्रह को लिया जाता है, और इसे होम से पूर्व जमीन पर रखने का निषेध है। ग्रहण के बाद इसमें घी मिलाया जाता है, और पूर्व विधि के अनुसार याज्या-मन्त्र बुलवाकर इस ग्रह की एक आहुति दी जाती है। उल्लेखनीय यह है कि इस आहुति के लिए याज्या-मन्त्र-पाठ के वषट्कार अग्नीत् करता है, होता नहीं।[1]

५. हारियोजन ग्रह—

इस ग्रह को द्रोणकलश में से आग्रायणपात्र में लेकर इसमें धाना मिलाये जाते हैं। और जब परिधियों को हटा लिया जाता है, तब बैठकर उन्नेता इस ग्रह की आहुति देता है।[2] इस ग्रह का भक्षण करते समय "धाना" को चूसकर उत्तरवेदि में डाल देते हैं।

६. अतिग्राह्य ग्रह—

इसमें अग्नि, इन्द्र और सूर्य देवताओं के लिए सोम का अतिरिक्त भाग लिया जाता है। सर्वप्रथम अग्नि के लिये अतिग्राह्य ग्रह लेकर उसकी आहुति देते हैं, और फिर ग्रह का भक्षण कर लिया जाता है। तत्पश्चात् इन्द्र के ग्रह का ग्रहण, होम और भक्षण कर सूर्य के ग्रह की भी यही विधि अपनाई जाती है।

७. षोडशी ग्रह—

षोडशी नामक स्तोत्र और शस्त्र का पाठ हो चुकने पर यह ग्रह लिया जाता है, और यथास्थान रख दिया जाता है। षोडश स्तोत्र के अतिरिक्त इसमें पंचदश, और एकविंश स्तोत्र भी गाये जाते हैं।

---

१ अन्यत्र वर्णित इसके बाद की विधि के लिए पृ० १३६ की अन्तिम टिप्पणी पठनीय है। पात्नीवत् ग्रह के बाद मा श्रौ. स (२।५।२।२४) में वर्णित प्रातः सवन में गृहीत ध्रुवग्रह होम के लिए पृ० १४२ देखिये।

२ मा. श्रौ. सू. (२।५।४।६) दो वषट्कार का उल्लेख करता है।

८ दधिग्रह—

पवित्रयुक्त, उदुम्बर के पात्र मे इस प्राजापत्य दधिग्रह को लिया जाता है, और बिना नीचे रखे इसे लेकर होता के दक्षिण की ओर से जाकर दक्षिण-परिधि-सधि के पास खडे होकर इसकी आहुति दी जाती है। एक मन्त्र से अग्नि की उपासना करके वापिस लौटकर पात्र को यथास्थान रख देते हैं।

९ अदाभ्य और अंशु ग्रह—

एक चौकोर पात्र मे यह *अदाभ्यग्रह* लेते हैं। तीन बार दो-दो अंशुओं को अलग करके, छहो से एक साथ इस ग्रह को चार बार हिलाया जाता है। ग्रह को अभिमर्शित करते हैं। होता के उत्तर की ओर से जाकर दक्षिण-परिधि सधि पर ग्रह पात्र को रखकर आहुति दी जाती है। वापिस लौटकर पात्र को यथास्थान रख कर दो-दो करके अंशुओ को निकालकर फेंक दिया जाता है। इस ग्रह के ग्रहण काल में सास टूटना नही चाहिए। यदि टूट जाये, तो ग्रह को हिरण्य से ढक देना चाहिए।

पश्वेकादशिनी—

यह अग्नीषोमीय पशुयाग का ही विकृतियाग है। अत इसकी यूप-सम्पादन और याग-सम्बन्धी समस्त प्रक्रिया तदनुसारी ही है। इसकी विशिष्टता यूपों, देवताओं और पशुओं की बहुलता का होना है। इसमे अग्नि, सरस्वती, सोम, पूषा, बृहस्पति, विश्वेदेव, इन्द्र, मरुत, ऐन्द्राग्न, सविता और वरुण—ये ११ देवता होते हैं, और इनके लिए क्रमश कृष्णसिर वाला अज, मेषी, भूरे रग का, काले रग का, पीठ पर सफेद धब्बो वाला, पिशग रग का अज, वृष्णि, कल्माष अज, सहित अज, अधोराम (निचले भाग में काले सफेद धब्बो वाला) अज और पेत्व—ये ११ ही पशु लिये जाते हैं। इनके लिए ११ यूपो का निर्माण किया जाता है। ग्यारह की इस संख्या के कारण ही इस याग का नाम "पश्वेकादशिनी" पडा है। ५ यूप मुख्य यूप के उत्तर मे होते हैं, और ५ दक्षिण मे। इन यूपो की ऊँचाई यजमान की कामना के अनुसार रखी जाती है।[1] सामान्यत ये दक्षिण की ओर क्रमश ऊँचे-ऊँचे बनाये जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि उनके यूपावट रथाक्ष से तिरछे नापे जाते हैं, और इनका परिलेखन स्फ्य से किया जाता है, अभ्रि से नही।

क्रमश एक-एक पशु से यजन किया जाता है। सबसे पहले अग्नि के कृष्णासिर अज को लेते हैं। यदि अभिचार करना हो, तो शत्रु का नाम लेकर पशु को उपाकृत किया जाता है। अन्य सब कुछ पूर्ववर्णित-विधि से होता है।[2]

यहाँ तक सोमयाग की मुख्य विधि सम्पन्न होती है। अब यज्ञ की उपसहारक कुछ क्रियायें की जाती हैं।

---

१ मै. स. ४।७।९

२ देखिये पृ० १३१-१३४.

दक्षिणा होम—

हिरण्य को दर्भ से बांधकर आज्य में रखा जाता है। इस हिरण्ययुक्त आज्य से दो आहुतियाँ गार्हपत्य में दी जाती हैं, और फिर हिरण्य को आज्य से बाहर निकाल लेते हैं। अब हाथ में हिरण्य और आज्य लेकर वेदि की दक्षिणी श्रोणी के पास जाते हैं, और वहाँ रखी हुई दक्षिणा की वस्तुओं को ऋत्विजों के अनुसार विभक्त करके रखते हैं।[1] आग्नीध्र के दक्षिणा-भाग को अनुमन्त्रित कर आग्नीध्र मण्डप में जाकर आग्नीधीय-धिष्ण्य में दो आहुतियाँ दी जाती है। दक्षिणा की वस्तुओं को चात्वाल और आग्नीध्र मण्डप के बीच मे सरका दिया जाता है। सर्वप्रथम अग्नीत को और फिर क्रमश: ब्रह्मा, होता आदि प्रधान ऋत्विजों को, सहकारी ऋत्विजो को और सबसे अन्त में प्रतिहर्त्ता को उनकी दक्षिणा दी जाती है। दक्षिणा में हिरण्य, अज, गाय, वस्त्र, गाड़ी, रथ और अश्व दिये जाते हैं। दक्षिणा-दान के बाद सब सदस् में प्रविष्ट होते हैं, यजमान से एक मन्त्र बुलवाकर प्रदत्त दक्षिणा को अनुमन्त्रित किया जाता है।

समिष्ट यजुहोम—

अब आवहनीय के पास सीधे खड़े होकर नौ मन्त्रों से 'समिष्टयजुष्' नामक नौ आहुतियाँ देकर यज्ञ की सम्यक् प्राप्ति की पुष्टि की जाती है। ये आहुतियाँ अविच्छिन्न धारा मे दी जाती है, और सब आहुतियों के लिए समान परिमाण मे घी लिया जाता है।

अवभृथ—

इस समस्त यज्ञानुष्ठान के बाद चात्वाल से उस स्थान की ओर जाते है, जहाँ यजमान-दम्पती द्वारा यज्ञ समाप्ति सूचक "अवभथ" नामक स्नान किया जाता है। अपने साथ सोमलता का रसरहित सब निचुड़ा हुआ अंश ले जाते है। यह स्नान स्थिर जिलों में होता है, प्रवहमान जलों में नहीं। अवभथस्थल पर पहुँचकर जल-दर्शन कर मन्त्र जपते हैं। जल में एक तिनका डालकर आहुति दी जाती है, और बर्हि नामक प्रयाज को छोड़कर शेष चारों प्रयाजों और दोनों आज्यभागों की आहुतियाँ दी जाती हैं। ऋजीष—निःसार सोम-को सुचा द्वारा जल में डालकर जल को हिलाते हैं। हिलाने से ऊपर आये हुये ऋजीष के अंश को खाते हैं। यजमान अपनी मेखला को खोलकर जल में डालता है, और वरुण-पाश को नमस्कार करता है। यजमान-दम्पती अवभृथ-स्थान करते हैं, और सब परोगोष्ठ में मार्जन करते हैं।

अब यजमान उन्नेता से ले चलने को कहता है। उन्नेता यजमान को आगे करके ले चलता है। सब लोग पीछे मुड़कर देखे बिना वापिस आते हैं, और आहवनीय में दो समिधायें रखकर अग्नि की उपासना करते हैं।

---

१ दक्षिणा के विभाजन का प्रकार श. (४।३।४।२२-२३) और मा. श्री सू. (२।४।५।७-९) में वर्णित है।

काम्य पशुयाग[1]—

जो अपने समस्त यज्ञ को सरस बनाना चाहे, वह विश्वदेव, बृहस्पति और मित्रावरुण के लिए तीन वशाओं का आलभन करता है। वैश्वदेवी वशा को मध्य में रखा जाता है। इसकी समस्त विधि पूर्व वर्णित पशुयाग के समान ही है।

उदवसानीयेष्टि—

अब यज्ञ के अवसान-समाप्ति-की सूचक अन्तिम इष्टि की जाती है। इसी से इसका नाम उदवसानीयेष्टि है।

इस इष्टि मे प्रायणीयेष्टि के रखे हुये निष्काष और मेक्षण द्वारा ही अदिति देवता की चरु-हवि बनाई जाती है। किन्तु इस इष्टि का मुख्य देवता अग्नि है। अत इसमे अग्नि के लिए आठ और पाँच कपालों वाले दो पुरोडाशों की हवि भी बनाई जाती है। इसमें प्रयाजों का यजन नही होता है, अनुयाजों का यजन किया जाता है, और प्रायणीय के अनुवाक्या मन्त्रो को यहाँ याज्या-मन्त्रों के स्थान पर बोलते हैं। शेष समस्त विधि प्रायणीयेष्टि के समान ही अनुष्ठित की जाती है।

इस उदवसानीयेष्टि के साथ ही अग्निष्टोम याग समाप्त हो जाता है।

अग्निष्टोम के अवान्तर भेद—उक्थ्य, अतिरात्र और षोडशी—

मैत्रायणी सहिता मे अग्निष्टोम के अतिरिक्त उक्थ्य, अतिरात्र और षोडशी यागों के नाम भी मिलते हैं। यज्ञतत्त्वप्रकाश[2] के अनुसार इन चारों यागों के नाम की भिन्नता का आधार सिर्फ इतना ही है कि तन्नामक स्तोत्र और शस्त्र से ही याग का समापन किया जाता है। शेष समस्त विधि सबमें एक-सी है। मैत्रायणी-सहिता[3] मे भी स्पष्ट किया गया है कि षोडशी नामक कोई याग नहीं है, सिर्फ षोडशी स्तोत्र और शस्त्र से सम्पन्न होने के कारण इस नाम का प्रयोग होता है। किन्तु सहिता में चार स्थलो पर इन अवान्तरयागो की विशिष्टता का भी स्पष्ट उल्लेख करके इनके अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

१ सदस-निर्माण का वर्णन करते हुए मैत्रायणीकार[4] कहता है कि अग्निष्टोम मे नौ छप्परों वाला सदस बनाया जाता है, पर उक्थ्य मे सदस पर १५ और अतिरात्र मे १७ छप्पर रखे जाते हैं।

२ प्रात: सवन के पशुयाग मे इस वैभिन्न्य को देवता और हवि के द्वारा व्यक्त किया गया है[5]—

---

१ मैं स ४।८।६ मा श्री सू. (२।५।२।५-१०) मे यह याग सिर्फ मैत्रावरुणी अनुबन्ध्या वशा के नाम से है, और उदवसानीयेष्टि के बाद वर्णित है।

२ य त प्र, पृ ५७.

३ मैं स ४।७।६.

४ मैं स ३।८।९

५ मैं स. ३।९।५, मा. श्री सू. २।३।६।१५

अग्निष्टोम में अग्निदेवता का अज होता है, पर उक्थ्य में ऐन्द्राग्न का अज, षोडशी में इन्द्र का बैल और अतिरात्र में सरस्वती की मेषी होती है।

३. सोमसवन से पूर्व की क्रिया भी यज्ञ के अनुसार अलग-अलग वर्णित की गई है।[1]—

अग्निष्टोम में जिस मन्त्र से "क्रतुकरणी" नामक आहुती दी जाती है, उक्थ्य में उसी मन्त्र से परिधियों को चिकना करने का और अतिरात्र में हविर्धानमण्डप में प्रविष्ट होने का विधान है।[2]

४. षोडशी-ग्रह की भिन्नता को व्यक्त करते हुए मैत्रायणीकार[3] कहता है कि राजन्य का षोडशीग्रह अग्निष्टोम में लिया जाना चाहिए और ब्राह्मण का अतिरात्र में।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों अवान्तरयागों और अग्निष्टोम में विशेष अन्तर नहीं है। इन चार बातों को छोड़कर सब कुछ समान ही है।

सोमयागों के अन्य भेद—

इन उपर्युक्त प्रमुख सोमयागों के अतिरिक्त याग के अनुष्ठान-काल पर आधारित सोमयागों के एकाह, अहीन और सत्र के तीन वर्गों का वर्णन पहले किया जा चुका है।[4] मैत्रायणी संहिता में सिर्फ अहीन सोमयागों की दो विशिष्टताओं को उल्लिखित किया गया है। उपसद्-विधि के सम्बन्ध में कहा गया है कि अग्निष्टोम (एकाह) मे ३ उपसद्-दिन होते हैं, और अहीन यागों में १२ उपसद्-दिन अनुष्ठित किये जाते हैं।[5] दूसरी विशिष्टता सिर्फ षोडशीग्रह के विषय में है कि द्विरात्र में बाद के दिन, त्रिरात्र में मध्य के दिन, चतूरात्र में चौथे दिन और इससे अधिक दिनों के अहीनयागों में प्रति चौथे दिन इस षोडशीग्रह का ग्रहण किया जाना चाहिए।[6]

इनके अतिरिक्त द्वादशाह नामक सोमयाग का भी संहिता में सिर्फ एक स्थल पर उल्लेख है, जहाँ वर्णित है कि इससे पूर्व सम्भारयजुषों की आहुतियाँ देनी चाहिए।[7]

इन संकेतों के अतिरिक्त इनका अन्य कोई वर्णन नहीं है।

---

१ मै. सं ४।५।२.

२ मा. श्रौ. सू. (२।३।२।२७-२८) में अतिरात्र के साथ-साथ वाजपेय और अप्तोर्याम में भी इसी विधि का निर्देश है, और षोडशी में मण्डप की रराटी या द्रोण-कलश को छूने का उल्लेख है।

३ मै सं. ४।७।६.

४ देखिये दूसरे अध्याय पृ० २०-२१. और इसी अध्याय पांच में पृ० १३४ सोमसवन

५ मै. सं. ३।८।२.

६ ,, ४।७।६.

७ ,, १।६।८.

वाजपेययाग

काल—

इस यज्ञ के अनुष्ठान-काल का उल्लेख मैत्रायणी संहिता और शतपथ व तैत्तिरीय ब्राह्मणों में भी नहीं मिलता है।[1] किन्तु मानवश्रौतसूत्र के अनुसार यह शरद ऋतु में अनुष्ठित किया जाता है।[2] अन्य साक्ष्य से भी इसकी पुष्टि होती है।[3]

यह यज्ञ अग्निष्टोमयज्ञ की ही अवधि तक चलता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय को ही यह यज्ञ अनुष्ठित करने का अधिकार है।[4]

देवता-हवि—

अग्निष्टोम के सब देवताओं और हवियों के अतिरिक्त इस याग में प्रजापति, बृहस्पति और मरुत् भी देवता हैं, जिनकी हवि क्रमश सोम-सुरा ग्रह, नैवार चरु और वशा-पशु हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इस यज्ञ के अतिग्राह्य ग्रहों का देवता सिर्फ इन्द्र है, किन्तु अग्निष्टोम में अग्नि और सूर्य के भी अतिग्राह्यग्रह हैं। अन्नहोम के लिए आज्यमिश्रित सब अन्नों की हवि भी इस यज्ञ की विशिष्ट हवि है। अन्य सब विधियाँ यजमान के रथ-अभियान और अभिषेक आदि से सम्बन्द्ध हैं।

यजन-विधि

स्वाराज्य का अभिलाषी ब्राह्मण या राजन्य इस यज्ञ को करने का संकल्प कर यथाविधि उपवसथ- दिवस बिताता है। तदनन्तर, सोमयागीय दीक्षा तथा अन्यान्य सब विधियाँ यथाक्रम सोमसवन के पूर्व दिन तक अनुष्ठित की जाती हैं।[5] इन विधियों में दो बातों का विशेष विधान है—पहली बात यह है कि इस यज्ञ में यूप का चषाल गोधूम का बनाते हैं और दूसरी बात यह है कि इस यज्ञ के प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में सविता देवता के लिए आहुति अवश्य दी जाती है।

इन विशिष्टताओं के साथ अग्नीषोमीय पशुयाग तक की प्रक्रिया सम्पन्न करने के बाद सोमसवन वाले दिन वाजपेय की मुख्य-विधि अनुष्ठित की जाती है। इह मुख्य-विधि की भी अधिकांश प्रक्रियाएँ माध्यदिन-सवन में ही अनुष्ठित होती है। इसका विवरण आगे किया है।

---

१ मै. स. १।११।५-१०, श. ५।१।१-५, ५।२।१-२, तै. १।३।२-६.

२ मा. श्रौ सू ७।१।१।१.

३ बौ. ध. द १।४।१६.

४ मै. स १।११।५, तै १।३।१। किन्तु श (५।१।१।११-१२) के अनुसार वाजपेय ब्राह्मण का है, और राजसूय राजा का।

५ श. ५।१।१।१६.

प्रातः सवन

इस सवन की समस्त-विधि प्रकृतियागवत् है।[१] एक मुख्य अन्तर यही है कि सोमपात्रों को रखने के साथ-साथ १७ सोमग्रह के और १७ सुराग्रह[२] के पात्र भी रखे जाते हैं, और इन पात्रों को रखने के लिए अलग-अलग स्थान बनाये जाते हैं। सोम-पात्र दक्षिणी हविर्धान के सामने और सुरा-पात्र शकट के अक्ष के पीछे[३] रखते हैं। सुरापात्रों के स्थान को सिर्फ खोदकर छोड़ देते हैं, खुदी मिट्टी को हटाकर स्थान को सम नहीं बनाते हैं।[४] इस सवन में रथन्तर साम का गान किया जाता है।

माध्यंदिन-सवन

इस सवन की भी माहेन्द्रग्रह को लेने से पूर्व तक समस्त विधि प्रकृतियाग के समान ही सम्पन्न की जाती है।[५] यह उल्लेखनीय है कि इस सवन के माध्यंदिन पवन-मान में "वाजवती" ऋचाओं का गान किया जाता है, और हवियों के साथ निवार के चरु की भी विशेष हवि बनाई जाती है। सवनीय पुरोडाशों का यजन करने के बाद इस चरु की आहुतियां बृहस्पति को उद्दिष्ट करके दी जाती है, और फिर इस हवि को चात्वाल में रख देते हैं।

रथारोहण—

अब एक रथ को यज्ञमण्डप में लाया जाता है। तीन अश्वों को[६] नहलाकर रथ में जोड़ते हैं। अश्वों के मस्तक पर हाथ फेरकर उन्हें थपथपाया जाता है। इसी तरह सोलह अन्य रथों को अमन्त्रक ही तैयार किया जाता है। इसके बाद दक्षिणा-होम की विधि[७] यथापूर्व की जाती है। दक्षिणा में वस्तुओं की संख्या १७-१७ की ही होती है। अब १७ दुन्दुभियों को लाकर उन्हें अमन्त्रक ही बजाया जाता है। इसी दुन्दुभिघोष में ब्रह्मा प्रमुख रथ के चक्र को तीन बार दायीं ओर घुमाता है। वाजियों के साम का गान करवाया जाता है, और अन्नाद्य को प्राप्त कराने वाले १७ "उज्जिती" मन्त्रों को यजमान द्वारा बुलवाते हैं। १७ आहुतियां दी जाती हैं। यज-मान मुख्य रथ पर चढ़ता है, और अन्य व्यक्ति अन्य रथों पर अमन्त्रक ही चढ़ते हैं।

रथ-दौड़—

अब इन रथों की दौड़ प्रारम्भ होती है। दौड़ के समय मन्त्र-पाठ और

---

१ इस विवरण के सम्बन्ध में छठे अध्याय की वाजपेयाग की समीक्षा

२ सुरा बनाने की विधि सौत्रामणीयाग में वर्णित है।

३ मा. श्रौ. सू. ७।१।१।५, श. ५।१।२।५.

४ मा. श्रौ. सू. ७।१।१।५.

५ मा. श्रौ. सू. ७।१।२।१-१२, श. ५।१।४।२-३.

६ तीन की संख्या श. ५।१।४।८-१० में उल्लिखित है।

७ यह दक्षिणा-विधि अग्निष्टोमयाग (पृ० १४८) में सविस्तार वर्णित।

दुन्दुभि-वादन चलता रहता है। निर्धारित दूरी तक जाकर रथ लौटा लिए जाते हैं। रथों के वापिस लौट आने पर एक आहुति दी जाती है। सब रथ से उतर जाते हैं। बजती दुन्दुभियों को अभिमन्त्रित करके उनका वादन समाप्त कर दिया जाता है। अब चात्वाल में रखे नैवार चरु को मुख्य रथ के अश्वो को सुंघाते हैं, और अश्वों की पीठ, मुख आदि को मलकर उनका पसीना पोंछा जाता है। इस समय हिरण्य और मधु से आपूरित एक पात्र ब्रह्मा को दिया जाता है।

यूपारोहण—

अब माहेन्द्रग्रह के स्तोत्र का पाठ करने पर[1] यजमान यूप पर चढने के लिये अपनी पत्नी को आमन्त्रित करता है। पत्नी स्वीकृति देती है। यजमान दर्भमय वस्त्र को लपेटकर सीढी द्वारा ऊपर चढता है, इस समय अध्वर्यु "आप्ति" नामक[2] १३ आहुतियाँ देता है। प्रजा के कुछ प्रतिनिधि[3] १७ पोटलियों अथवा अश्वत्थ आदि के बडे पत्तों में बाँधी गई खारी मिट्टी को यजमान के चारों ओर फैला देते हैं। इसमे धरती की उर्वरा-शक्ति द्वारा यजमान को चारों ओर से समृद्ध करने का भाव है। यजमान इस समय अपने को पत्नी सहित स्वर्ग को प्राप्त हुआ—सा अनुभव करने वाला मन्त्र पढता है। इसके बाद नीचे रखे हिरण्य और बस्ताजिन पर पैर रखकर यूप से नीचे उतर जाता है।

अन्नहोम—

अब सब प्रकार के ग्राम्य और आरण्य अनाजों को घी मे मिलाकर उदुम्बर की स्रुव से सात मन्त्रो द्वारा "वाजप्रसव्य" नामक आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके द्वारा यजमान को अन्नयुक्त बनाया जाता है।

अभिषेक -

अन्नहोम के बाद चौकी पर अवस्थित यजमान का घृतधारा से अभिषेक किया जाता है। घृत की इतनी ही धारा मस्तक पर डाली जाती है, जो चिबुक तक ही पहुँच सके।

ग्रहहोम—

अब शस्त्रपाठपूर्वक माहेन्द्रग्रह का ग्रहण करने के बाद[4] वाजपेय के प्रमुख सोम-ग्रहों की यजन-विधि सम्पन्न की जाती है। सर्वप्रथम पाँच अतिग्राह्य ग्रह लिये

---

१ मा श्रौ सू ७।१।३।१.

२ श ५।२।१।१

३ मा. श्रौ सू ७।१।३।७ और तै स. भा. २।८२६ के अनुसार चारों ऋत्विज मिट्टी प्रक्षेपण का कार्य करते हैं।

४ मा श्रौ. सू ७।१।३।२३

जाते हैं।[1] इन पांचों का देवता इन्द्र ही है। माहेन्द्रग्रह के होम के बाद इनका यथाविधि होम और भक्षण किया जाता है।

तदनन्तर प्रजापति के १७ सोम ग्रह और १७ सुराग्रह लिये जाते हैं। सोम ग्रह अध्वर्यु और सुराग्रह प्रतिप्रस्थाता लेता है।[2] आहुति के लिए सोमग्रहों को पूर्व के द्वार से पूर्वाभिमुख होकर ले जाते हैं, और सुराग्रहों को पश्चिम द्वार से पश्चिमाभिमुख होकर। इनका यथाविधि से होम करके सोमग्रहों का भक्षण किया जाता है, और सुराग्रह हिलाकर—स्पर्शमात्र करके छोड़ दिये जाते हैं।[3]

पशुयाग[4]—

वाजपेययाग में पाँच पशुओं के आलभन का विधान है। वस्तुतः इस पशुयाग में आग्नेय अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र की विशिष्ट पशु-हवियों[5] का एक साथ यजन कर इन समस्त सोमयागों के फल को प्राप्त किया जाता है। वशा की पशु-हवि वाजपेय की अतिरिक्त पशुहवि है। अतः इस याग में अग्नि के अज, इन्द्राग्नी के अज, इन्द्र के वृषा, सरस्वती की मेषी और एक वशा[6] का यथाक्रम प्रकृतियाग अर्थात् अग्नीषोमीय पशुयाग के समान आलभन-अनुष्ठान आदि किया जाता है सारस्वत मेषी को सबसे पहले या सबके अन्त में भी रखा जा सकता है, और इसमें सप्तदश स्तोत्र का पाठ होता है।

---

१ मा. श्रौ. सू. (७।१।१।४१-४४) इन ग्रहों तथा प्राजापत्य सोम-सुरा ग्रहों को प्रातः सवन में आग्रायणग्रह के बाद ग्रहण करने का निर्देश करता है। श.(५।१।२।४-१२) भी प्रातः सवन में ही इनकी समस्त विधि का उल्लेख करता है, यद्यपि मा.श्रौ सू. (७।१।२।२४-३१) प्रातः सवन में गृहीत इन ग्रहों के उपस्थान, होम, भक्षण आदि का निर्देश माध्यंदिन-सवन के इसी क्रम में देता है।

२ मा. श्रौ सू. ७।१।१।४३.

३ मा. श्रौ. सू. ७।१।२।३२.

४ मा. श्रौ. सू. (७।१।२।१-३) और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह समस्त पशुयाग माध्यंदिन-सवन के प्रारम्भ में ही विहित है, तथा इसमें १७ प्राजापत्य तपरों के आलभन का भी निर्देश है। पर मै. सं. (१।११ ९) में ऐसा कोई संकेत नहीं है। इस याग के क्रम के लिए अध्याय छह का वाजपेययाग समीक्षा दे०।

५ दे. पृ० १६६ पर अवान्तर भेद का विभाग २.

६ मै. सं. (१।११।९) मे इसके देवता का उल्लेख नहीं है। मा.श्रौ.सू. (७।१।२।२) और (श. (५।१।३।३) के अनुसार इस वशा के देवता मरुत् हैं। श (५।१।३।४) में इस वशा का वपाहोम माहेन्द्रग्रह के शस्त्रपाठ-काल में करने का निर्देश है।

तृतीय-सवन

इसकी समस्त विधि प्रकृतियाग की तरह ही की जाती है। सिर्फ आर्भवपवमान मे चित्रवती ऋचाओं के गान का विशेष विधान है।

इस सवन समाप्ति के साथ ही वाजपेय यज्ञ सम्पन्न हो जाता है।

राजसूययाग

काल—

ब्राह्मण-ग्रन्थ राजसूय के लिए किसी विशेष काल का निर्देश नहीं देते हैं। सोमयाग होने के कारण इसके प्रकृतियाग अग्निष्टोम का काल ही इसके लिए भी विहित माना जा सकता है। मानव श्रौतसूत्र[1] के अनुसार आश्विन की अमावस को इसकी दीक्षा प्रारम्भ हो जाती है, १५ दिन तक कुछ विधियो को सम्पन्न करके आश्विन पूर्णिमा से अगली आश्विन पूर्णिमा तक चातुर्मास्यो का अनुष्ठान चलता है तदनन्तर लगभग ४० दिन तक लगातार राजसूय की विशिष्ट विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं, और अन्त में पूर्णिमा[2] को केशवपनीय-विधि के बाद ज्योतिष्टोम आदि ३ सोमयाग और सौत्रामणी का यजन करने के बाद राजसूय पूर्ण होता है।[3]

किन्तु एक अन्य विवरण के अनुसार[4] यह याग फाल्गुन शुक्ला की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर अगले वर्ष की फाल्गुन पूर्णिमा तक चातुर्मास्य-अनुष्ठान तक पहुँचता है, और उसके बाद एक मास तक यज्ञ की विशिष्ट विधियो को सम्पन्न करके वैशाख *पूर्णिमा[5] को केशवपनीय कृत्य के साथ समाप्त होता है।* बोधायन श्रौतसूत्र के अनुसार[6] चैत्र पूर्णिमा को भी प्रारम्भ कर सकते हैं। श्री मधुसूदन जी शास्त्री ओझा के विवारण के अनुसार[7] इस याग का प्रारम्भ फाल्गुनी शुक्ला दशमी को अनुमति-इष्टि के यजन से होता है।

यद्यपि इन उपर्युक्त समयों का कोई निर्देश मैत्रायणी संहिता[8] में नही है। पर प्रक्रिया-साम्य के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह यज्ञ वसन्त या वर्षा ऋतु मे किसी अमावस या पूर्णिमा को प्रारम्भ होकर लगभग सवा दो साल तक चलता है।

---

१ मा. श्रौ सू ९।१।१।३,२०
२ ,, ९।१।५।४५ (सूत्र मे मास का उल्लेख नही है)
३ ,, ९।१।५।४५-४९
४ प. त प्र., पृ १०९, वै य द. २।४२२
५ ,, पृ ११४, ,, २।४२४ मे सिर्फ ज्येष्ठ मास का उल्लेख है।)
६ तै सं भा ३।८५७
७ य स पृ २४०.
८ मै. स. ४।३,४.

इस यज्ञ के अनुष्ठान का अधिकार सिर्फ राजा अथवा भावी राजा को है, यह इसके प्रयोजन से स्पष्ट है[1] और राजा सामान्यतः क्षत्रिय वर्ग का होता रहा है। अतः वर्णों में यह यज्ञ प्रधानतः क्षत्रिय के लिये विहित हो जाता है।

देवता हवि—

यह यज्ञ इतना विशद और जटिल है कि इसके सैकड़ों देवता और हवियां हैं। सायणाचार्य के अनुसार[2] इसमें अनुष्ठेय इष्टियों, पशुयागों, सोमयागों और दर्वीहोमों की कुल संख्या सौ है। यज्ञतत्वप्रकाश[3] में इस यज्ञ में २ पशुयाग, ७ दर्वीहोम, ६ सोमयाग और १२६ इष्टियाँ मानी गई हैं। मैत्रायणी संहिता में ये सब संख्यायें उपलब्ध नहीं हैं परन्तु निम्न विवरण से यह भी स्पष्ट है कि इस यज्ञ के अंगयागों की संख्याएँ सामान्य नहीं हैं।

(क) सोमयाग—

यद्यपि शतपथ के पूर्वोक्त सन्दर्भ में सायण के अनुसार राजसूय के अंगयागों में ६ सोमयाग माने गये हैं, और मैत्रायणी मे इतने नाम उपलब्ध भी हैं :—ज्योतिष्टोम, त्रिष्टोम, अभिषेचनीय, उक्थ, दशपेय और केशवपनीय।

किन्तु मैत्रायणी संहिता[4] के विवरण को तैत्तिरीय संहिता के सायणभाष्य के स्पष्टीकरण[5] और मानवश्रौतसूत्र[6] के निर्देशों से मिलाने पर यह स्पष्ट होता है कि इन छह नामों के आधार पर राजसूय के अंगभूत छह सोमयाग मानते हुये भी अनुष्ठान की दृष्टि से मूलतः चार सोमयाग माने जाने चाहिये, क्योंकि त्रिष्टोम और उक्थ का कोई पृथक अनुष्ठान नहीं किया जाता है। ज्योतिष्टोम में तीन विशिष्ट स्तोमों के अधिक प्रयोग के कारण इसे "त्रिष्टोम" का नाम भी मिल गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[7] में त्रिष्टोम का नामोल्लेख ही नही है और अभिषेचनीय-दिवस पर समस्त विधि के अग्निष्टोमवत् सम्पन्न कर लेने पर उसी दिन उक्थ के विशेष स्तोत्र, पृष्ठ रूप सामों का गायन कर लिया जाता है। इसीलिये अभिषेचनीय उक्थ का विकृतियाग कहा गया है। ज्योतिष्टोम—जिसे परवर्ती साहित्य में 'पवित्र' नामक सोमयाग की संज्ञा दी गई है—राजसूय के अन्य सवों को प्राप्त करने की पात्रता भर

---

१ दे. अध्याय चार में पृ० ६६।

२ श. ब्रा. भा. ५।६५.

३ य. त प्र. पृ. १०८–१०६.

४ मै. सं. ४।४।१०.

५ तै. सं. भा. ३।१०२२–२५.

६ मा. श्रौ. सू. ९।१।१।१–४.

७ तै. १।८।७–८.

देता है[1] । इस इष्टि से ज्योतिष्टोम की स्थिति राजसूय के अगयाग की न होकर पूर्व-भूमिका तैयार करने वाले याग की तरह ही प्रतीत होती है ।

अभिषेचनीय दशपेय और केशवपनीय मे अग्निष्टोम की समस्त मूल विधि के अतिरिक्त जो विशिष्ट क्रियायें अनुष्ठित की जाती हैं, उनमे देवता हवि के बदले सिर्फ यजमान सम्बन्धी कार्यों का ही महत्व है । इन्ही कार्यों के आधार पर इन तीनो यागों का नामकरण किया गया है । अत इन समस्त सोमयागो के देवता और हविया अग्निष्टोमयाग के देवता-हवियो से भिन्न नहीं हैं ।

(ख) इष्टिया—

इष्टियो की सख्या वस्तुत बहुत अधिक है । उपर्युक्त ४ सोमयागो मे ही चार-चार करके कुल १६ इष्टियों का अनुष्ठान विहित हो जाता है । इसी तरह चातुर्मास्य के चारो पर्वो की इष्टियों को जोडे, तो यह सख्या और भी लम्बी हो जाती है । किन्तु इन सब इष्टियो के देवताहवि, पूर्ववत होने के कारण यहाँ राजसूय की विशिष्ट इष्टियों का ही उल्लेख किया जा रहा है, जिनकी सख्या ४२ है । इन इष्टियों मे से अनेक इष्टियो का नाम देवतानुसार मानकर उल्लिखित किया है, क्योंकि सहिता इनका कोई विशेष नाम नही देती हैं ।

इष्टि	देवता	हवि
१ अनुमति-इष्टि—	अनुमति	अष्टकपाल पुरोडाश
	निऋति	एक कपाल पुरोडाश
२. भुवद्वद् आदित्य-इष्टि—	भुवद्वद् आदित्य	घी का चरू
३ अग्नि-विष्णुदेवताक इष्टि—	अग्नि-विष्णु	एकादशकपाल पुरोडाश
४ अग्निसोमदेवताक इष्टि	अग्नि-सोम	एकादशकपाल पुरोडाश
५ इन्द्राग्नी इष्टि	इन्द्राग्नी	,, ,,
६ अग्नि और महेन्द्रदेवताक इष्टि—	अग्नि	अष्टकपाल पुरोडाश
	महेन्द्र	दही
७ आग्रायणीयेष्टि—	इन्द्राग्नी	एकादशकपाल पुरोडाश
	विश्वदेव	चरू
	सोम	श्यामाक चरू
	द्यावापृथिवी	एककपाल पुरोडाश
८. इन्द्रतुरीय इष्टि—	अग्नि	अष्टकपाल पुरोडाश
	वरुण	जौ का चरू
	रुद्र	गवीधुक का चरू
	इन्द्र	दही

---

१ मै स ४।४।१०.

इष्टि	देवता	हवि
९. देविका-इष्टि—	अनुमति	चरू
	राका	,,
	सिनीवाली	,,
	कुहू	,,
	धाता	द्वादशकपाल पुरोडाश
१०. पूर्वत्रिषंयुक्त इष्टि—	अग्नि-विष्णु	एकादशकपाल पुरोडाश
	इन्द्र-विष्णु	चरू
	विष्णु	त्रिकपाण पुरोडाश
११. उत्तरत्रिषंयुक्त इष्टि—	सोमपूषा	एकादशकपाल पुरोडाश
	इन्द्र-पूषा	चरू
	पूषा	चरू
१२. एक विशिष्ट इष्टि	अग्नि-वैश्वानर	द्वादशकपाल पुरोडाश
	वरुण	यवमय चरू

१३-२४. रत्नियों की हवि-इष्टियां—यह १२ इष्टियां १२ दिन तक एक-एक करके १२ राज्याधिकारियों के घर पर अनुष्ठित की जाती हैं। प्रत्येक दिन का देवता-हवि अलग-अलग है—

इष्टि	देवता	हवि
	बृहस्पति	चरू
	इन्द्र	एकादशकपाल पुरोडाश
	अदिति	चरू
	निऋति	नाखूनों से वितुषीकृत धान्य का चरू
	अग्नि	अष्टकपाल पुरोडाश
	अश्विनद्वय	द्विकपाल पुरोडाश
	सविता	अष्टकपाल पुरोडाश
	वरुण	जौ का पुरोडाश
	मरुत्	सप्तकपाल पुरोडाश
	पूषा	चरू
	विष्णु	त्रिकपाल पुरोडाश
	इन्द्र	गवीधुक चरू
२५. इन्द्र-सम्बधी विशिष्ट इष्टि—	पापनाशक इन्द्र	एकादश कपाल पुरोडाश
२६. ,,	सुत्राता इन्द्र	,,
२७. अभिषेचनीय की दीक्षणीयेष्टि—	मित्र	विशिष्ट रीति से बनाये

इष्टि	देवता	हवि
	बृहस्पति	गये चरु की दो हवि
२८ देवसुव-हवियों की इष्टि—	गृहपति अग्नि	'आमलन्त'' नामक धान्य विशेष का अष्टकपाल पुरोडाश
	वनस्पति सोम	श्यामाक का चरु
	प्रसवित्ता सविता	''शतीन'' धान्य का अष्टकपाल पुरोडाश
	वाचस्पति बृहस्पति	नैवार चरु
	ज्येष्ठ इन्द्र	वर्षा मे बढने वाले धान्यों का एकादशकपाल पुरोडाश
	सत्यपति मित्र	स्वत उत्पन्न व्रीहि का चरु
	धर्मपति वरुण	जौ का चरु
	पशुपति रुद्र	गवीधुक चरु

२९-२८ ससृप-हवियो की इष्टियाँ—दस हवियों से की जाने वाली इन दस इष्टियों का अनुष्ठान तो एक समय मे ही क्रमश किया जाता है। किन्तु इनके देवता और हवियाँ अलग-अलग हैं—

इष्टि	देवता	हवि
	सविता	अष्टकपाल पुरोडाश
	सरस्वती	चरु
	पूषा	"
	बृहस्पति	"
	इन्द्र	एकादशकपाल पुरोडाश
	वरुण	जौ का दशकपाल पुरोडाश
	त्वष्टा	अष्टकपाल पुरोडाश
	अग्नि	" "
	सोम	चरु
	विष्णु	त्रिकपाल पुरोडाश
३९. दिशा-सम्बन्धी हविरचक—	अग्नि	अष्टकपाल पुरोडाश
	बृहस्पति	चरु
	इन्द्र	एकादशकपाल पुरोडाश
	विश्वदेव	चरु
	मित्रावरुण	आमिक्षा

४०. "प्रयुज्" हविर्याग का पूर्व षट्क-अग्नि		अष्टकपाल पुरोडाश
	सोम	चरू
	सविता	द्वादशकपाल पुरोडाश
	बृहस्पति	चरू
	वैश्वानर अग्नि	द्वादशकपाल पुरोडाश
	त्वष्टा	अष्टकपाल पुरोडाश
४१. "प्रयुज्" का उत्तरषट्क्—	सरस्वती	चरू
	पूषा	,,
	मित्र	,
	वरुण	,,
	अदिति	,,
	क्षेत्रपति	,,
४२. "सत्यदूत" हविर्याग—	प्रसविता सविता	"सतीन" धान्य का अष्टकपाल पुरोडाश
	अश्विनी-पूषा	एकादशकपाल पुरोडाश
	सत्यावाक् सरस्वती	चरू

इन समस्त इष्टियों के अनुष्ठान की सामान्य-विधि दर्शपूर्णमासेष्टि के समान ही होती है।

(ग) होम—

यद्यपि सायण के अनुसार सात होमों का उल्लेख है। किन्तु मैत्रायणी में उपलब्ध विवरण के अनुसार चार होमों का ही विधान मिलता है—

१. अपामार्गहोम—इसमें 'अपामार्ग' नामक ओषधी विशेष की आहुति दी जाती है।

२. पंचेध्मीयहोम—इसमें अग्नि को पांच भागों में विभक्त कर तथा पुनः संयुक्त करके आज्य की ही ५-५ आहुतियाँ देते हैं।

३. जलहोम[1]—अभिषेक के लिए १६ प्रकार के जलों को लेते समय उनमें १-१ आहुति देते हैं।

४. संततीहोम—इसमें अवभृथ के जल में, एक दर्भस्तम्ब पर और गार्हपत्य में आज्य की विशिष्ट आहुति दी जाती है।

---

१. जलहोम और संततीहोम के नाम कहीं उल्लिखित नहीं है। परद्रव्य और प्रयोजन के आधार पर इनका यही नाम सार्थक लगता है। मैं. सं. (४।४।७) में अवभृथ के बाद दी जाने वाली ३ आहुतियों का प्रयोजन यज्ञ की अविच्छिन्नता को बनाये रखना ही कहा गया है। इसी से अगले होम का नाम संतती होम रखा है।

(घ) पशुयाग—

राजसूय में सोमयागीय अग्नीषोमीय पशुयाग के अतिरिक्त भी दो विशेष पशुयागों का विधान है—

१ प्रथम पशुयाग मे मरुत् देवता है और चारवर्षीया चित्रवर्णा गर्भिणी गाय की हवि है।

२ द्वितीय मे अदिति देवता है, और गर्भिणी अजा की हवि है।

(ङ) चातुर्मास्ययाग—

उपर्युक्त चार प्रकार के अगयागों के अतिरिक्त इस राजसूय मे "चातुर्मास्य-याग" का विधिवत् अनुष्ठान करना भी महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि "हविर्यज्ञ" होने से इसका परिगणन इष्टियों मे भी किया जा सकता था, किन्तु समस्त चातुर्मास्य ही यहाँ राजसूय के अगयाग के रूप मे अनुष्ठित है। अत सोमयागो की तरह पृथक् उल्लेखनीय है।[1]

यजन-विधि

इस यज्ञ को करने का सकल्प करके विधिवत् उपवसथ दिन व्यतीत करके यजमान ऋत्विजो का वरण करता है।[2] होता भार्गव-भृगुवशी ही चुना जाता है। सर्वप्रथम "ज्योतिष्टोम" नामक अग्निष्टोम की दीक्षा से लेकर सवन तक की समस्त विधि यथापूर्व अनुष्ठित की जाती है। इस सोमयाग मे प्रात सवन मे त्रिवृत्, माध्यदिन मे पचदश और तृतीय मे एकविंश स्तोत्रो को सस्वर गाया जाना चाहिए।

नैर्ऋत-आनुमत-इष्टि—

सोमयाग के बाद प्रथम दिन अनुमति के लिए आठकपालों वाला पुरोडाश तैयार किया जाता है। इस हविष्यान्न को पीसते समय जो अन्न शम्या के पश्चिम की ओर गिर जाता है, उस गिरे अन्न से निर्ऋति के लिए एक कपाल पुरोडाश की हवि बनाते हैं। अनुमति की पुरोडाश-हवि को गार्हपत्य पर और निर्ऋति की हवि को

---

१ राजसूय मे चातुर्मास्य की विशिष्ट स्थिति के लिए देखिये अध्याय छह के चातुर्मास्य की समीक्षा

२ अग्निष्टोम का विकृतियाग होने से इस यज्ञ के ऋत्विज अग्निष्टोम की तरह १४ ही होने चाहिये। दे पृ० ११७ की टिप्पणी। यद्यपि मै स (४।४।८) मे दक्षिणा-प्रसग में १२ ऋत्विजो का ही नाम है। प्रतिप्रस्थाता और उद्गाता का नाम नहीं है। किन्तु यज्ञ मे दोनो की आवश्यकता निर्विवाद सी ही है। सम्भवत दशपेययाग की दक्षिणा के लिए इन दोनों के लिए कोई विशेष विधान न होने से वहाँ इनका नामोल्लेख न किया गया होगा। इन १४ ऋत्विजों के अतिरिक्त दशपेय याग मे १०० चमसाध्वर्युजो का उल्लेख भी मै. स ४।४।७ में है। अत चमन तो इनका भी होता होगा, पर सभवत वरण नही!

दक्षिणाग्नि पर एक साथ पकाते हैं। हवियां बन चुकने पर पहले एक कपाल वाले नैऋत पुरोडाश को लेकर दक्षिण की ओर किसी प्राकृतिक बंजर भूमि पर जाते हैं। वहां एक अंगार रखकर विस्रंसिका नामक वनस्पति विशेष के दो कंडों से निऋति के लिए इस पुरोडाश की समन्त्रक आहुति देते हैं। भिन्न किनारी वाला काले रंग का कपड़ा इसकी दक्षिणा है।

इस निऋति-यजन के बाद वापिस लौटकर अनुमति को अष्टकपाल पुरोडाश की यथाविधि आहुति दी जाती है। इसकी दक्षिणा धेनु है।

पीसते समय शम्या के उत्तर की ओर गिरे हविष्यान्न को लेकर उत्तर दिशा में किसी वल्मीकवपा के पास जाते हैं और वपा को उखाड़कर उसमें उस धान्य की आहुति दी जाती है। आहुति के बाद वपाछिद्र को पत्थर[1] से ढक दिया जाता है।

पांच विशिष्ट हविर्याग—

अब अगले पांच दिनों तक क्रमशः एक-एक विशिष्ट हवि से देवता विशेष का विधिवत् यजन किया जाता है। पहले दिन शुवद्द् आदित्यों के लिये घी में बने चरु से अनुष्ठान करते हैं जिसकी दक्षिणा वर है। दूसरे दिन अग्नि विष्णु के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की हवि बनाकर उससे यथाविधि यजन होता है, जिसकी दक्षिणा नाटा बैल है। तीसरे दिन अग्नि-सोम के लिये एकादशकपाल पुरोडाश से यजन करते हैं, इसकी दक्षिणा हिरण्य है। चौथे दिन इन्द्राग्नी के लिये एकादशकपाल पुरोडाश से यजन करते हैं, इसकी दक्षिणा हिरण्य है। चौथे दिन इन्द्राग्नी के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की ही हवि बनती है। इसकी दक्षिणा सेचनसमर्थ बैल है। पांचवें दिन अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश और महेन्द्र की दधि इन दो हवियों से यजन करते हैं। इसकी दक्षिणा रेशमी वस्त्र है।

आग्रायणेष्टि —

अगले दिन अर्थात् सातवें दिन "आग्रायणेष्टि" का अनुष्ठान किया जाता है। इस इष्टि में इन्द्राग्नी अथवा अग्नीन्द्र के लिये एकादशकपाल पुरोडाश, विश्वदेव का चरु, सोम के लिए श्यामाक का चरु और द्यावापृथिवी के लिये एककपाल पुरोडाश-ये चार हवियां होती हैं। इसकी दक्षिणा प्रथम उत्पन्न बछड़ा है।

चातुर्मास्ययाग—

अगले आठवें दिन से अर्थात् पूर्णिमासी[2] से चातुर्मास याग का प्रारम्भ करके वर्ष भर में चारों पर्वों को यथासमय अनुष्ठित किया जाता है।

---

१ मा. श्रौ. सू. ९।१।१।१७.

२ मैत्रायणी-संहिता के ब्राह्मण-भाग (४।३।८) में चातुर्मास्य-यजन का ही निर्देश है, समय का नहीं। मा. श्रौ. सू. (९।१।१।२०) में ही उल्लेख है कि चातुर्मास्य पूर्णिमा से प्रारम्भ करने चाहिए। अतः सूत्र के अनुसार पूर्णिमा से सात दिन पहले अर्थात् शुक्लपक्ष की अष्टमी से राजसूय की विशिष्ट विधियों का अनुष्ठान प्रारम्भ करना चाहिये।

इन्द्रतुरीययाग—

अगले नवें दिन सम्भवत चातुर्मास्य के प्रथम पर्वानुष्ठान के बाद अथवा साल भर में चातुर्मास्य के सब पर्वों को सम्पन्न कर लेने के बाद-चार हवियों वाले एक एक "इन्द्रतुरीय" नामक अगयाग का यजन किया जाता है। इन्द्र देवता चौथे नम्बर पर हैं, अत इसका नाम "इन्द्रतुरीय" है। इसमे क्रमश अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश, वरुण के यवमय चरू, रुद्र के गवीधुक के चरू और इन्द्र की दधि से यथाविधि यजन किया जाता है। इसकी दक्षिणा नवप्रसूतिका गाय है।

अपामार्गहोम—

अब स्थिर जलो मे से "अपामार्ग" नामक एक रोगनाशक औषधी विशेष को लाकर उसके सक्तु बनाते हैं। इन सक्तुओ को लेकर दक्षिण दिशा की ओर की किसी प्राकृतिक बजर भूमि मे एक अगार रखकर पलाश के स्रुव से उन सत्तुओ की आहुति दी जाती है, और फिर अग्नि की उपासना की जाती है। इसकी दक्षिणा वर है।

पचेध्मीयहोम[1]—

अपामार्ग की पूर्वोक्त आहुति देने के बाद वापिस यज्ञस्थल पर आकर अब आहवनीयाग्नि को पाँच भागों मे विभक्त किया जाता है, और क्रमश' अग्नि के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और मध्य के भागो पर उन-उन दिशाओ मे स्थित देवताओ के लिए १-१ आहुतियाँ देते हैं। आहुति के बाद अग्नि को एकत्रित कर उस सग्रहीत अग्नि पर पहले के ही दिशानुक्रम से क्रमश अग्नि, यम, मरुत, मित्रावरुण और सोम देवताओ को पुन• आहुतियाँ दी जाती हैं। इसकी दक्षिणा पचवाही रथ है।[2]

देविकाहविर्याग—

अगले दसवें दिन शुल्क पक्ष की चतुर्दशी की अभिमानी देवता अनुमति, पूर्णमासी की राका, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की सिनीवाली और अमावस्या की कुहू—इन चार देविकाओ के लिये अलग-अलग चरू की हवि और धाता के लिए द्वादशकपालपुरोडाश की हवि बनाकर इन पाँचो हवियो से क्रमश यजन किया जाता है। धाता की हवि को सबसे पहले या मध्य मे अनुष्ठित करने का भी विकल्प है। इस समस्तयाग की दक्षिणा बारवर्षीया गाय है।

---

१ मैत्रायणी सहिता के ब्राह्मण-भाग (४।३।४) में इस होम-विधि का कोई नाम नहीं है। यह नाम मा. श्रौ सू (६।१।१।२५) मे है। श. (५।२।४।४) मे इसे "पंचवातीय" नाम दिया गया है, और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१) में "पचावतीय" नाम है। मा. श्रौ. सू (६।१।१।२६) के अनुसार राक्षस-पिशाचों से डरने वाला व्यक्ति अमावस की रात को इसका अनुष्ठान करे।

२ श. (५।२।४।९) के अनुसार पचवाही का आशय तीन अश्व और दो सारथियों वाले रथ से है। ये पाँच प्राणों के प्रतीक हैं।

त्रिषंयुक्त हविर्याग—

तीन-तीन हवियों वाले एक यज्ञकर्म को 'त्रिसंयुक्त' कहते हैं। इस याग के तीन भाग है, जो तीन दिनों में क्रमशः अनुष्ठित होते हैं।[1] प्रथम भाग में अग्नि-विष्णु के एकादशकपाल पुरोडाश, इन्द्रविष्णु के चरू और विष्णु के त्रिकपाल पुरोडाश के तीन हविर्द्रव्य है। इन तीनों हवियों का क्रमिक यजन 'पूर्वत्रिषंयुक्त' कर्म कहलाता है। इसकी दक्षिणा नाटा बैल है।

द्वितीय भाग में सोम-पूषा की एकादश कपाल पुरोडाश की हवि, इन्द्र-पूषा की चरू और पूषा की चरू हवि—ये तीन हवियां हैं। इनके क्रमशः अनुष्ठान को उत्तर त्रिषंयुक्त कर्म कहा जाता है। इसकी दक्षिणा कृष्ण वर्ण बैल है।

इसके बाद अगले दिन वैश्वानर अग्नि के द्वादशकपाल पुरोडाश और वरुण के जौ के चरू से यथा-विधि यजन-कर्म किया जाता है। इसकी दक्षिणा हिरण्य और अश्व है।

रत्नियों की हवियां—

अगले अर्थात् चौदहवे दिन से लेकर पच्चीसवे दिन तक राजा यजमान प्रतिदिन[2] अपनी सभा के १२ रत्नियों-सदस्यों-के घर जाकर क्रमशः एक-एक करके जिन १२ हवियों से विधिवत् यज्ञानुष्ठान करता है, उन्हें ही "रत्नियों की हवियां" कहा जाता है।

सर्वप्रथम ब्रह्मा के घर पर बृहस्पति के चरू से यजन किया जाता है। इसकी दक्षिणा सफेद रंग की पीठ वाला बैल है। अब क्रमशः राजा के अपने घर में इन्द्र के एकादशकपाल पुरोडाश से, महिषी के यहां अदिति के चरू से, परिवृक्ति[3] के यहां नाखूनों से वितुषीकृत धान्य से तैयार निऋति के चरू से, सेनानी के यहां अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश से, कोशाध्यक्ष के यहां अश्विनों के द्विकपाल पुरोडाश से, अन्तः

---

१ मा. श्रौ. सू. (९।१।१।३०-३२) से स्पष्ट है कि देविकाहविर्याग और इस त्रिषंयुक्त हविर्याग के तीनों भागों को अलग अलग दिन में अनुष्ठित किया जाना चाहिये। किन्तु तै. सं भा. (३।९.३४) में इन सबको एक ही दिन के कर्तव्य कर्म कहा गया है। मैं. सं. (४।३।७) में इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है।

२ मा. श्रौ. सू. ९।१।१।३४ ३५, श ५।३।१, तै. १।७।३.

३ श. (५।३।१।१३) में परिवृक्ति के यहां के नैऋत-अनुष्ठान को सबसे अन्त में निर्दिष्ट किया गया है, और इसे रत्नियों में परिगणित भी नहीं किया है। मा. श्रौ सू. (९।१।१।३६-३७ का वर्णन भी शतपथ के अनुरूप है। मैं. सं. का ब्राह्मण-भाग (४।३।८) भी ११ रत्नि-हवियों का ही उल्लेख करता है। अतः परिवृक्ति-हवि अनुष्ठित होते हुए भी परिवृक्ति के रत्नि होने का प्रतिपादन नहीं होता है।

पुराध्यक्ष के यहाँ सविता के अष्टकपालक पुरोडाश से, वैश्य ग्रामणी के यहाँ मरुतों के सप्तकपाल पुरोडाश से, कर-सग्राहक के यहाँ पूषा के चरु से, बढई और रथकार के यहाँ विष्णु के त्रिकपाल पुरोडाश से तथा अक्षावाप और आखेटक के यहाँ रुद्र के गवीधुक के चरु से यथाविधि यजन किया जाता है। इन सबकी दक्षिणायें भी पृथक्-पृथक् हैं।

इन रत्नि हवि अनुष्ठान के बाद पुन राजा के यहाँ क्रमश पापनाशक इन्द्र और सुत्राता इन्द्र के लिए एकादशकपाल वाले अलग अलग दो पुरोडाश बनाकर यजन किया जाता है।[२] इसकी दक्षिणा ऋषभ है।

दीक्षणीयेष्टि

२६ दिन तक अनुष्ठित की जाने वाली उपर्युक्त समस्त विधियाँ राजसूय की प्रधान-विधि की पूर्वपीठिका है। अत इन सबके विधिवत् अनुष्ठान के बाद २७वें दिन प्रधान यज्ञविधि का दीक्षा-कार्य किया जाता है।[3]

मैत्राबार्हस्पत्य चरु—

इस दीक्षाविधि का प्रारम्भ मित्र और बृहस्पति देवताओं के यजन से किया जाता है। इनके लिए चरु की हवि बनाते हैं, जो विशिष्ट विधि से बनाई जाती है।

स्वय टूटी हुई अश्वत्थ-वृक्ष की शाखा से एक पात्र बनाया जाता है। उसमे श्वेतवत्सा श्वेत गाय का दूध दुहते हैं। उसमे से कुछ दूध को स्वत जमने दिया जाता है, और स्वत ही मन्थन करवाया जाता है।[४] इस मन्थन से प्राप्त मक्खन को स्वय ही पिघल पिघलकर आज्य बनने दिया जाता है। ऐसे दूध और आज्य में टूटे हुए छोटे-छोटे चावलो को पकाकर बृहस्पति के लिये चरु-हवि तैयार की जाती है। अश्वत्थ के ही बने एक अन्य पात्र को बृहस्पति के चरु-पात्र पर रखकर[५] उसमें उपर्युक्त वर्णित स्वत निर्मित आज्य मात्र को डालते हैं, और इस आज्य में बिना टूटे पडे चावलो को डालकर मित्र के लिए चरु बनाया जाता है। दोनों चरु-हवियाँ साथ-

---

१ दक्षिणा का सविस्तार वर्णन मै स (२।६।५) में है।

२ मा श्री सू (९।१।१।४०) इन दोनो हवियों से क्रमश दो दिन अलग अलग अनुष्ठान का निर्देश देता है। किन्तु मै स (२।६।६) मे दोनो की एक ही दक्षिणा होने से इनके एक दिन में ही यजन का अनुमान होता है।

३ मै स (४।३।१०) मे दीक्षा का उल्लेख तो है, पर मा श्री सू (९।१।२।१५) की तरह दीक्षा के १२ दिनों का उल्लेख नहीं है।

४ श (५।३।२।६) में वर्णित है कि दही को रथ पर रखकर अश्व को स्वत. दौडने दिया जाता है। रथ के चलने से दही मे जो आलोडन-विलोडन होता है, वही स्वतः मन्थन है। इससे मक्खन स्वत ऊपर आ जाता है।

५ श. ५।३।२।८.

साथ पकती रहती हैं। हवि के तैयार हो जाने पर पहले मैत्र चरु से यथाविधि यजन किया जाता है, और फिर बृहस्पति के चरु से। मित्रहवि की दक्षिणा अश्व है और बृहस्पति की श्वेतपृष्ठ बैल।

इस विशिष्ट यजन के बाद समस्त दीक्षा संस्कार यथा-विधि किये जाते हैं। दीक्षा-कार्यों की समाप्ति के बाद सोमक्रयण से लेकर अग्नीषोमीय पशुयाग तक की समस्त प्रक्रिया भी प्रकृतियागवत् अनुष्ठित की जाती है।[1] सोम इतना खरीदा जाता है, जो अभिषेचनीय और दशपेय दोनों के लिए पर्याप्त हो जाये। इस समस्त कार्य में पूर्ववत् चार दिन लगते होंगे।

देवसुव हवियां—

पूर्वोक्त सोमयागीय अनुष्ठान के अगले सम्भवतः ३१वें दिन आठ "देवसुव" हवियों से यजन किया जाता है। सोम-सवन करने वाले यजमान रूपी देवों को जानने वाले अथवा अपना सब ऐश्वर्य देने वाले देवता 'देवसुव' है। इन आठ देवसुव देवता और उनकी हवियों का नाम व क्रम इस प्रकार है—गृहपति अग्नि के लिए आपतन्त[3] धान्य का अष्टकपाल पुरोडाश, वनस्पति सोम के लिए श्यामाक का चरु, प्रसविता सविता के लिए सतीन[4] धान्य का अष्टकपाल पुरोडाश, वाचस्पति बृहस्पति के लिए नैवार चरु, ज्येष्ठ इन्द्र के लिए वर्ष में बढ़ने वाले धान्यों का एकादशकपाल पुरोडाश सत्यपति मित्र के लिये अपने आप उत्पन्न व्रीहि का चरु, धर्मपति वरुण के लिए जौ का चरु और पशुपति रुद्र के लिए गवीधुक का चरु बनाया जाता है।

इन देवसुव हवियों से विधिवत् यजन करने के बाद[5] ब्रह्मा का हाथ पकड़े हुए[6] यजमान के लिए सब ऋत्विज्गण उपर्युक्त आठों देवताओं से उन-उनके ऐश्वर्यों को प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः यजमान का, उसके गोत्र, माता और प्रजा का नाम लेकर प्रजा में उसके स्वाराज्य की उद्घोषणा की जाती है।

---

१ मा. श्रौ. सू. ६।१।२।१६-१६. श. ५।३।३।१.

२ तै. सं. भा. ३।६४६, श. ब्रा. भा. ५।१०२.

३ श. (५।३।३।३) और का. सं. (१५।५) के अनुसार यह शीघ्र बढ़ने वाला धान्य विशेष है। तै. सं. (१।८।१०) में इसके स्थान पर कृष्णव्रीहि नाम है।

४ मो. वि. को. (पृ. ११३५ कालम २) के अनुसार सतीन का अर्थ मटर है। श. (५।३।३।२) में 'प्लाशुक' नाम है। तै. सं. (१।८।१०) में आशु धान्य का विधान है।

५ मा श्रौ सू. (६।१।२।२०-२३) के अनुसार इन हवियों के बाद पशुपुरोडाश, देविका हवि आदि का भी यजन करना चाहिए, और सब विधि स्विष्टकृत तक चलने के बाद उद्घोषणा की अगली क्रिया होनी चाहिये।

६ श. ५।३।३।११, तै. सं. भा. ३।६४७.

अभिषेचनीय-दिवस

३२वें दिन राजा यजमान का अभिषेक किया जाता है। इसी से इसका नाम "अभिषेचनीय-दिवस" है। इस दिन की विधि ही राजसूय की सर्वाधिक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण विधि है।

इस दिन सर्वप्रथम सोम सवन दिन की प्रातः सवन विधि यथापूर्व अनुष्ठित की जाती है।[1] उल्लेखनीय यह है कि इस दिन तीनो सवनो मे गाये जाने वाले क्रमशः बहिष्पवमान, माध्यदिन और आर्यवपवमान को चतुस्त्रिंश स्तोम पर ही गाया जाता है।

माध्यदिन-सवन में सवनीय पुरोडाशो के बाद[2] मरुतो के लिए विशेष हवि बनाई जाती है। इस हवि के लिए २१ कपाल रखे जाते हैं, और सात-सात कपाल वाले तीन पुरोडाश बनाये जाते हैं। मरुत्वनीय सोमग्रहो का प्रकृतियागवत् अनुष्ठान करने के बाद[3] इस मरुत्-हवि का भी विधिवत् यजन किया जाता है।

इस प्रकार विशिष्ट मरुत्-हवि के साथ माध्यदिनसवन की विधि माहेन्द्रग्रह के पूर्वतक तो यथापूर्व अनुष्ठित की जाती है। अभिषेक आदि की समस्त प्रधान-क्रियायें इस माहेन्द्रग्रह के अनुष्ठान से पूर्व ही सम्पन्न करते हैं।[4]

जलों का ग्रहण व संस्कार—

यजमान के अभिषेक के लिए १६ प्रकार के जल एकत्रित किये जाते हैं। ये १६ प्रकार के जल हैं—सरस्वती नदी के, विपरीत धारा वाले, अनुकूल धारा वाले, नद के, स्थावर, प्रवहमान, ऊपर उछलकर बहने वाले, धीमे बहने वाले, कुयें के, सूर्य के प्रकाश में बरसने वाले, सूर्य से प्रतिबिम्बित होने वाले, नीहार के जल-बिन्दु, पुष्पों पर स्थित जल, गाय के उल्व मे स्थित, दही में अवस्थित और मधु में निहित जल। इन सब जलों मे पहले एक-एक आहुति दी जाती है, फिर तीन बार इनका ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सब जलों को लेकर इन्हें एक बडे पात्र में[5] मिलाते हैं। इस जलपात्र को सदस मे पोता की धिष्ण्याग्नि के पश्चिम में रखा जाता है।[6]

---

१ मा श्रौ सू. ९।१।२।२७.
२ ,, ९।१।२।२८
३ ,, ९।१।२।३१.
४ मा श्रौ सू. ९।१।५।१, श ५।३।५।१-२
५ श (५।३।४।२७) के अनुसार यह पात्र उदुम्बर का बना होता है, और तै स. भा (३।६५७) मे उद्धव कल्प-सूत्र के अनुसार वेतस का।
६ इस स्थान का निर्देश मा श्रौ. सू (९।१।२।३७) मे है। श (५।३।४।२८) मे इन जलों को मैत्रावरुण की धिष्ण्य के सामने रखने का, और तै. स भा (३।६५८) के अनुसार ब्राह्मणाच्छसी और होता के धिष्ण्यों के बीच में रखने का निर्देश है। मै सं (४।४२) मे ऐसा कोई निर्देश नहीं है। सम्भवत मैत्रायणी-सम्प्रदाय मे स्थान-विशेष पर ही रखने का निश्चत नियम होगा ही नहीं।

अब दर्भों से बंधे एक हिरण्यशकल को लेकर, उससे इन मिश्रित जलों को पवित्र बनाते हैं। इस पवित्रीकरण के बाद हिरण्य पर से दर्भों को खोलकर इन पुनीत जलों को पलाश, अश्वत्थ, उदुम्बर और न्यग्रोध के बने चार काष्ठपात्रों में विभक्त करके रखते हैं। पात्रों को भरने के बाद बचे जल की आग्नीध्रीय अग्नि में आहुति दी जाती है। तदनन्तर यजमान से धर्मधारक सोम, इन्द्र, वरुण, मित्र और अग्नि देवताओं का स्तुतिमन्त्र बुलवाया जाता है।

यजमान को सुसज्जित करना—

अब यजमान को दीक्षित वसन (कण्डो) पर एक तार्प्य[1] वस्त्र और एक श्वेतपीत वस्त्र उढ़ाया जाता है, और उसके पगड़ी बांधी जाती है। ५० दर्भों को मक्खन में भिगोकर यजमान की दायीं आंख में काजल की तरह लगाते हैं, ५१ दर्भों से बायीं आंख में लगाते हैं। जल को छूकर गार्हपत्य के पास जाते हैं, और यजमान को गृहपति अग्नि, इन्द्रियरूप इन्द्र, अहोरात्र रूप मित्रावरुण, द्यावापृथिवी और पशु-रूप पूषा के लिये ज्ञापित करते हैं। यजमान को प्रजाओं के राजा के रूप में उद्घो-षित कर सोम को ऋत्विजों का राजा बताया जाता है। इसके बाद यजमान को प्रत्यंचा चढ़ा धनुष और फलकयुक्त बाण देते हैं। यजमान धनुष को दायें हाथ में और बाणों को बायें में लेकर दोनों भुजाओं को ऊपर उठाता है। इस ऊर्ध्वबाहु यजमान को अभिमन्त्रित करते हैं, और यजमान को मानसिक रूप से क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊपर की दिशा में गमन करवा कर इन दिशाओं रूप स्वर्गलोक पर विजय की कल्पना की जाती है।

अभिषेक—

इस स्वर्ग-जय के अनन्तर सदस के सामने[2] एक चौकी पर[3] एक व्याघ्रचर्म को बिछाते हैं, जिनकी ग्रीवा पूर्व की ओर और रोम ऊपर की ओर रखे जाते हैं। इस चर्म पर चढ़कर यजमान पापरूप नमुचि के सिर को कुचलने का ध्यान करके सीसे के एक टुकड़े को कुचलकर उसे एक नपुंसक व्यक्ति की ओर और तांबे के टुकड़े को एक नाई की ओर फेंक देता है। चांदी के टुकड़े को यजमान के पैरों के नीचे सरकाया जाता है और सोने के शतमान टुकड़े को ऊपर रखा जाता है।

अब 'पार्थ' नामक छह आहुतियां देकर अभिषेक-क्रिया की जाती है। ब्रह्मा दक्षिण की ओर से पलाश निर्मित पात्र से, प्रजा पश्चिम की ओर से अश्वत्थपात्र से,

---

१ तै. सं. भा. (२।८६०) के अनुसार तार्प्य का अर्थ है 'घृतयुक्त' किन्तु श. (५।३। ५।२०) से अनुसार तृपा नामक ओषधी विशेष के तन्तुओं से निर्मित वस्त्र तार्प्य है।

२ मा. श्रौ. सू. ६।१।३।१७.

३ तै. १।७।८.

भ्रातृव्य उत्तर मे उदुम्बर-पात्र से और मित्र सामने से न्यग्रोधपात्र से जल लेकर यजमान का अभिषेक करते हैं। अभिषेक के बाद पुन छह पार्थ' आहुतिया दी जाती हैं। एक कृष्णविषाणा को लेकर, उससे अभिषिक्त यजमान की नाभि से ऊपर की बहती जल बूंदों का समुन्मार्जन किया जाता है।

विजय-अभियान—

अभिषेक विधि के बाद एक रथ को चात्वाल के पास लाते हैं। उसमें अश्वों को जोड़कर उस पर यजमान को चढाते हैं। रथ को चलाया जाता है, इस तरह जाते हुए यजमान को अनुमन्त्रित किया जाता है, और ब्रह्मा इन्द्र देवता के त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्र का पाठ करते हुये रथ का अनुसरण करता है। यजमान राजा एक बाण को चलाकर एक राजन्य को जीतने का उपक्रम करता है, और रथ को निर्धारित दूरी तक ले जाकर वापिस ले आता है। वापिस आकर यजमान हाथ की धन्वार्ति आदि अपनी पत्नी को दे देता है।

अब चांदी और सोने के सूत्रो और औदुम्बरी शाखा को अनुमन्त्रित किया जाता है। यजमान की क्रमश दायीं और बायीं भुजा प्रसारित करवाकर उसके हाथों में आमिक्षा दी जाती है। आमिक्षा मे सोने-चांदी के दोनों सूत्र को डाल देते हैं, और शाखा सहित वह आमिक्षा दक्षिणा मे दी जाती है। इस दक्षिणादान के बाद यजमान वराह-चर्म के जूतो पर पैर रखते हुए रथ से उतर जाता है, और वरुण के रूप मे राज्य को धारण करने की भावना करता है।

आहवनीय के उत्तर मे[1] रखी एक चौकी पर यजमान को बिठाकर प्रजाओं मे स्थित व्रतधारी वरुण के रूप मे उसे अनुमन्त्रित किया जाता है। इसके बाद एक रथविमोचनीय आहुति देकर सारथि सहित रथ को रथवाहन मे रख दिया जाता है।[2]

राजसभा व द्यूतक्रीडा—

अब सब ऋत्विज् और राजसभा के सदस्य रत्निगण यजमान के चारों ओर यथास्थान बैठ जाते हैं।[3] ऋत्विक्गण यजमान को सविता, मित्र, इन्द्र और वरुण नामों से अभिहित करते हैं। ब्रह्मा शासन दण्ड के प्रतीक रूप में स्फ्य को यजमान को देता है। इसी से यजमान समस्त राष्ट्र को वशवर्ती बनाता है। यजमान उस

---

१ मा श्रौ सू ६। १।४।६

२ इस क्रिया के बाद मा श्रौ सू (६।१।४।१२-१६) दक्षिणादान, होता द्वारा शुन शेप की कथा आदि के वाचन का भी निर्देश देता है। तै. (१।७।१० भी शुन शेप के आख्यान का उल्लेख करता है। पर मै. स. के ब्राह्मण-भाग (४।४।६) मे इसका कोई सकेत नही है।

३ मा. श्रौ. सू ६।१।४।१६, तै म मा. ३।६८७.

स्फ्य को राजपुत्र[1] को देता है, और वहाँ से पदानुसार सब सदस्यों के पास होता हुआ अन्त में अक्षधार के पास जाता है। अब स्फ्य से द्यूतभूमि बनाई जाती है[2] और उसमें पांसे फैलाये जाते हैं। चारवर्षीया गाय पर दांव खेले जाते हैं। द्यूतक्रीडा में चारों वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भाग लेते हैं। जो विजयी होता है, वह गाय लेकर उसे यजमान की गायों में सम्मिलित कर देता है। १०४ पांसों को अक्ष-पटल से दूर हटाकर पांचों दिशाओं की विजय के सूचक पांच पांसे यजमान को दिये जाते हैं। यजमान ब्रह्मा[3] को क्षेत्र देता है, वह वर का वरण करता है। अब राजा यजमान को मंगलकारी नामों से पुकारा जाता है। यजमान-पत्नी के बैठने के स्थान में राजपुत्र की माता द्वारा स्पर्श करवाते और राजपुत्र से पीछे से पकड़वाते हुए[4] गार्हपत्याग्नि में पलाशपात्र वाले अवशिष्ट जल की आहुति दी जाती है, और यजमान के पुत्र-पिता आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है।

अभिषेचनीय-दिवस के यहां तक के विशिष्ट कार्यों को कर लेने के बाद माहेन्द्र ग्रह आदि के अनुष्ठान से लेकर तृतीय-सवन तक की समस्त विधि अग्नि-ष्टोमवत् ही की जाती है।[5] इसमें उल्लेखनीय यह है कि अन्त में उक्थ के स्तोत्रों का यथावत् गान किया जाता है। इनका वैशिष्टय यह है कि ये पृष्ठ साम होते हैं, जिनमें प्रथम और अन्तिम मन्त्र अनुष्टुभ् छन्द का तथा अन्तिम मन्त्र सूर्य देवता का होता है। अन्तिम पृष्ठ को एकविंश स्तोम पर गाया जाता है। इसके बाद यथापूर्व अवभथ-विधि की जाती है।

अवभत के बाद १-१ विशिष्ट आहुति उन अवभथ जलों में, एवं दर्भस्तम्ब पर और गार्हपत्याग्नि में दी जाती है।

तदनन्तर अभिषेचनीय-दिवस का कार्य पूर्ण हो जाता है।

---

१ मा. श्रौ. सू. ९।१।४।१९.

२ देखिये इसी अध्याय में पृ० ८६.

३ मा. श्रौ. सू ९।१।४।२५.

४ ,, ९।१।४।२७.

५ मा. श्रौ. सू (९।१।५।१) में माहेन्द्रग्रह से लेकर अवभथ तक की समस्त विधि के अनुष्ठान का निर्देश है। तै. (१।७।१०) में यहां २१ कपालों वाले मारुत पुरोडाश, वैश्वदेवी आमिक्षा और स्विष्टकृत् अग्नि के यजन का ही विशेष उल्लेख है। श. (५।४।५।२४-२५) में माहेन्द्रग्रह ग्रहण, स्विष्टकृत् आहुति, इडोपाह्वान आदि का निर्देश है। मै. सं. (४।४।७) में सिर्फ अवभृथ तक जाने का संक्षिप्त उल्लेख है। पर इससे सूत्र की तरह अवभृथ-पर्व की समस्त क्रियाओं को करने का अनुमान किया जा सकता है।

अभिषेकोत्तर कर्म

"ससृप" हविर्याग[1]—जिन देवताओं के द्वारा वीर्य प्राप्त किया जाता है, उनको "ससृप" कहते हैं,[2] और इन्हीं देवताओं का यजन करने वाला यह यज्ञ "ससृप हविर्याग" कहलाता है।

इस हविर्याग मे दस देवताओं के लिए हवियां हैं। इन्हे प्रतिदिन[3] एक एक करके अनुबन्धित किया जाता है। प्रत्येक हवि की दक्षिणा अलग-अलग है।[4] देवताओं और हवियों का विवरण इस प्रकार है—सविता के लिए अष्टकपाल पुरोडाश, सरस्वती पूषा और बृहस्पति के लिये अलग-अलग चरु, इन्द्र के लिए एकादशकपाल पुरोडाश, वरुण के लिये जौ का दशकपाल पुरोडाश, त्वष्टा के लिये अष्टकपाल पुरोडाश, अग्नि का भी अष्टकपाल पुरोडाश, सोम का चरु और विष्णु का त्रिकपाल पुरोडाश। इन सब हवियों को बनाकर यथाक्रम उनसे यथाविधि यजन किया जाता है।

दशपेययाग[5]—

यह याग उपर्युक्त दस ससृप-हवियों मे से दसवीं हवि के अनुष्ठान वाले अर्थात् अभिषेचनीय से दसवें दिन किया जाता है। इस याग मे दसवें दिन दस-दस चमसों द्वारा दस चमसाध्वर्यु सोमपान करते हैं। इसी से इसका नाम दशपेय है।[6]

इस याग के लिए यजमान को १२ पुण्डरीकों की माला पहिनाकर दीक्षित किया जाता है। तदनन्तर विधिवत् सोम खरीदा और पीसा जाता है। विधिवत्

---

१ श (५।४।५।५) के अनुसार यह याग उदवसानीयेष्टि के बाद किया जाता है।

२ सम्यक् तृप्यते प्राप्यते वीर्यमाभि अग्न्यादिभिर्देवताभिः इति ससृपः देवताः। (तै. स. भा ३।९९४)

३ मा श्रौ. सू. ९।१।५।१३.

४ दक्षिणा का विवरण मै. स २।६।१३ मे है।

५ इस याग का उल्लेख मैत्रायणी के मन्त्रभाग (२।६।१२) मे न होकर ब्राह्मणभाग (४।४।७) में है। पर वहां भी संक्षिप्त व्याख्यान है, विधि का वर्णन नहीं है। तै. सं (१।८।१८) मे सर्वप्रथम दस वत्सतरों से सोमक्रयण का भी उल्लेख है, जो मा श्रौ सू (९।१।५।१८) में भी है। तै. स. भा (३।९९५) के अनुसार अन्तिम तीन ससृप हवियों के अनुष्ठान के साथ तीन दिन तक उपसद्-विधि का भी अनुष्ठान किया जाना चाहिए। मा. श्रौ. सू (९।१।५।२०) भी उपसदों का उल्लेख करता है। श (५।४।५।१३) भी उपसद् को इनमे सम्मिलित करता है। मैत्रायणी (४।४।७) और तैत्तिरीय (१।८।१८) में उपसद् का कोई संकेत नहीं है।

६ मै. स. ४।४।७, श. ५।४।५।१३, तै. स भा. ३।९९८.

सवन और होम-विधि के बाद भक्षण के समय दस-दस चमसाध्वर्युओं के दस वर्ग दस-दस चमसों से सोमपान करते हैं। इस सोमयाग की विशेषता यह भी है कि इसमें तीनों सवनों में क्रमशः श्रायन्तीय ब्रह्मसाम, अनुष्टुप् छन्दों मे यज्ञायज्ञिय और वारवन्तीय अग्निष्टोम सामों का गान किया जाता है। सब साम सप्तदश स्तोम पर गाये जाते हैं।

इस याग की दक्षिणा का विशेष उल्लेख है, जो १२ ऋत्विजों के लिए विशेष रूप से अलग-अलग विहित है।[१]

दिशा सम्बन्धी हविर्पंचक—

दशपेय के बाद अगले दिन अन्न-प्राप्ति के लिए पांच देवताओं की पांच हवियां बनाकर दिशाओं से सम्बद्ध विशेष याग किया जाता है। इसमें अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश, बृहस्पति के चरु, इन्द्र के एकादशकपाल पुरोडाश, विश्वदेव के चरु और मित्रावरुण की आमिक्षा की हवियां होती है। चारों दिशाओं और मध्य भाग में बने पांच बिलों वाले एक पात्र मे[२] ये पांचों हवियां क्रमशः एक-एक बिल में रखी जाती हैं। ब्राह्मण यजमान के लिये बृहस्पति की चरु-हवि को मध्यम बिल में रखते हैं, और प्रत्येक आहुति के बाद चरु पर शेष आज्य का अभिघारण करना आवश्यक है। राजन्य यजमान के इन्द्र-पुरोडाश को और वैश्य के विश्वदेव-चरु को मध्य में रखकर यह अभिघारण किया जाता है। शेष विधि सामान्य है। प्रत्येक हवि की दक्षिणा अलग-अलग है।[३]

प्रयुज् हविर्याग—

इस याग में ६-६ हवियों के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में अग्नि के अष्टकपाल पुरोडाश, सोम के चरु, सविता के द्वादशकपाल पुरोडाश, बृहस्पति के चरु, वैश्वानर अग्नि के द्वादशकपाल पुरोडाश और त्वष्टा के अष्टकपाल पुरोडाश की छह हवियां हैं, और द्वितीय वर्ग में सरस्वती पूषा, मित्र, वरुण, अदिति और क्षेत्रपति के अलग-अलग चरुओं की छह हवियां हैं। ये दोनों षट्क छह ऋतुओं के प्रतीक हैं। इनके यजन से यजमान को इन्हीं छहों ऋतुओं से संयुक्त कर समृद्ध बनाते हैं, इसी से इनका नाम 'प्रयुज्'—प्रकृष्टता से जोड़ने वाली है।[४]

इनमें से प्रथम वर्ग की हवियों से पूर्णिमा की शाम को यथाक्रम यथाविधि यजन करते हैं। इन्हें 'पूर्वप्रयुज् हवि' कहा जाता है। इसकी दक्षिणा रथवाहन की

---

१ मै. सं ४।४।८.

२ श. ५।५।१।१.

३ मै. सं. २।६।१३.

४ श. ५।५।२।१, तै. १।८।४.

खीचने वाला दक्षिण बैल है। द्वितीय वर्ग की हवियो से अगले दिन प्रतिपदा को पूर्णमासयाग का अनुष्ठान करने के बाद[1] विधिवत् यजन किया जाता है। इन्हे उत्तर प्रयुज् हवि कहते हैं। इसकी दक्षिणा रथवाहन का वायाँ बैल है।

पशुबन्धयाग—

उत्तर प्रयुज् हवि से अगले दिन[2] दो पशुहवियों से दो पशुयागो का अनुष्ठान किया जाता है। एक मे मरुत् देवता के लिये चार वर्षीया गर्भिणी चित्रवर्णा गाय की और दूसरे मे अदिति के लिये गलस्तनी गर्भिणी अजा की पशुहवि दी जाती है। इनकी समस्त विधि अग्नीषोमीय पशुयाग के समान है।[3]

सत्यदूत हविर्याग—

अगले दिन—अभिषेचनीय दिवस के लगभग १५ दिन बाद—तीन हवियों वाले इस अगयाग का अनुष्ठान किया जाता है। इसमे प्रसविता सविता के लिये सतीन धान्य का आठकपालो का पुरोडाश, ८ अश्विनो और पूषा के लिये ग्यारह कपालो का पुरोडाश और सत्यवाक् सरस्वती के लिये चरु की हवियाँ तैयार करके विधिवत् यजन किया जाता है। इसकी दक्षिणा दण्ड, जूते की एक जोडी और पानी मे न भीगने वाला थैला है। इस यागानुष्ठान के तुरन्त बाद दक्षिणा की इन उपर्युक्त वस्तुओं को दूतो को देकर पडोसी राजा के पास भेजते हैं।[4] इन हवियो के यजन के बाद ही दूतो के द्वारा अपने राजत्व का सत्य-सन्देश भेजने के कारण अथवा सत्य को ही दूत रूप मे भावित करने के कारण इन हवियो का नाम 'सत्यदूत' है।

यहाँ राजसूय की प्रधानविधि पूर्ण हो जाती है।

उपसंहार

इस प्रधान-विधि के बाद वर्ष भर तक यजमान यज्ञ की अविच्छिन्नता के लिये अग्निहोत्रयाग का विधिवत् प्रात· साय अनुष्ठान करता है।[5] इस अनुष्ठान काल मे उसके लिये दाडी-मूँछ और सिर के बाल आदि कटवाने का निषेध है।

---

१ मा श्रौ. सू ९।१।५।२४

२ ,, ९।१।५।२७

३ दे इसी अध्याय के अनु० १५४-१६१

४ मै स. (४।४।९) मे वाणी से सत्य को कहलवाने' का उल्लेख अवश्य है, पर यह किसके द्वारा कहलवाया जावे, यह मा श्रौ सू (९।१।५।४१) मे ही वर्णित है।

५ मै स ४।४।९। अन्यत्र ऐसा निर्देश नही है। विस्तृत विवेचन के लिये दे अध्याय छह का राजसूय-समीक्षा-प्रकरण।

केशवपनीययाग[1]—

वर्ष भर के अग्निहोत्र-यजन का समय समाप्त होने पर वैशाख पूर्णिमा[2] के दिन यजमान को चौकी पर बिठाकर उसके सालभर के बड़े बाल आदि कटवाये जाते हैं। इसी से इस याग का नाम "केशवपनीय" है। दीक्षा से लेकर सवन-विधि तक के इसके समस्त कृत्य अग्निष्टोम के समान ही किये जाते हैं। केवल यह उल्लेखनीय है कि इस याग के प्रातः सवन में एकविंश, माध्यंदिन-सवन में सप्तदश और तृतीय-सवन में त्रिवत् स्तोमों के गान का विधान है।

इस अंगयाग के साथ ही राजसूय यज्ञ की पूर्ण परिसमाप्ति हो जाती है।

अश्वमेधयाग

काल—

संहिताओं में इसके अनुष्ठान काल का निर्देश नहीं है। शतपथ ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र के अनुसार यह यज्ञ फाल्गुनी पूर्णिमा को करना चाहिये।[3] अन्य वर्णन के अनुसार चैत्र और वैशाख पूर्णिमा भी उपयुक्त समय है।[4]

यह यज्ञ वर्ष भर चलता है।

देवता-हवि—

अग्निष्टोम का विकृतियाग होने से अग्निष्टोम के सब देवता और हवियाँ इस याग के भी हो जाते हैं। किन्तु मुख्य अन्तर यह है कि इस यज्ञ का मूलाधार अश्व है, जो देवतारूप में स्तुत भी है, और हवि रूप में आहुत भी। इसके अतिरिक्त इस यज्ञ में दो इष्टि, दो पशुयाग और एक होम विशेष है।

(क) इष्टि—इस याग में मृगार और सर्वपृष्ठ इन दो इष्टियों का विधान है। पर इनका अनुष्ठान वैकल्पिक भी है कि भयभीत या रोगी व्यक्ति मृगारेष्टि का यजन करे, और भूति का इच्छुक सर्वपृष्ठ का। अतः तत्वतः अश्वमेध की अंगभूत इष्टि एक ही रह जाती है।

इन दोनों इष्टियों के अलग-अलग दस-दस देवता और उनकी दस-दस हवियाँ हैं।[5]

---

१ मै. सं. (४।४।१०) में केशवपनीय में तीनों सवनों में तीन विशिष्ट स्तोमगानों का विधान होने से इसके सोमयागवत् समस्त अनुष्ठान का अनुमान होता है। मा. श्रौ. सू. (९।१।५।४२-४४), श. (५।५।३।३) और य. त. प्र. (पृ. १४४-१४५) से उसकी पुष्टि भी होती है।

२ मा. श्रौ. सू. ९।१।५।४२, य. त. प्र. पृ ११४।

३ श. १३।४।१।४, मा. श्रौ. सू. ९।४।१।३।

४ य. त. प्र., पृ. ११६।

५ दे. अनु० इसी याग में आगे सर्वपृष्ठ-इष्टि

(ख) पशुयाग—इस याग के दो पशुयागो मे से एक याग तो प्रधान अश्व और उसके साथ के तीन अन्य पशुओ से सम्पन्न किया जाता है। ये तीन पशु अश्व, तूपर और गोमृग हैं, और इनका देवता प्रजापति है। इन तीन के अतिरिक्त अनेको अन्य पशुओ को भी पृथक्-पृथक् देवता-सम्बन्ध से उस उस देवता के लिये उपाकृत तो किया जाता है, पर उनका आलभन (या होम) नही किया जाता है।

दूसरा याग अनूबन्ध्या पशुयाग है। इसका देवता सूर्य है, और पशु हवि के लिये ६ श्वेत अनूबन्ध्या गायें होती हैं।

(ग) होम—इसमे एक अन्नहोम ही है। इसमे सृष्टि के पदार्थमात्र देवतारूप में सम्बोधित हैं, और हवि मे आज्य के साथ आठ प्रकार के अन्नों का प्रयोग किया जाता है।

यज्ञ-विधि[1]

राजा यजमान इस यज्ञ के अनुष्ठान का सकल्प करके फागुन पूर्णिमा से एक दिन पूर्व उपवसथ और ऋत्विक्-वरण आदि की सामान्य विधियों का यथापूर्व अनुष्ठान करता है।[2] तदनन्तर अश्वमेघ की विशिष्ट विधियाँ निम्न प्रकार से अनुष्ठित की जाती है—

अश्वबन्धन और कुक्कुरमारण—

सर्वप्रथम ब्रह्मोदन को घी मे भिगोकर[3] मूज या दर्भ की १२ या १३ अरत्नि लम्बी एक रस्सी लेकर उसे अभिमन्त्रित करते हैं, और इसे एक तीन वर्षीय कृष्ण-वर्ण पिशगरूप या अरुणपिशग, सोमपायी अश्व की गर्दन पर रखकर ब्रह्मा से अनुज्ञा

---

१ अश्वमेघयज्ञ का ब्राह्मण मैत्रायणी-सहिता मे नहीं है। अत मैत्रायणी सम्प्रदाय की इस यज्ञ-प्रक्रिया का ज्ञान विशेष दुष्कर है। इसमे एक ओर मानवश्रौतसूत्र का आश्रय अधिक लेना पडा है, और दूसरी ओर ब्राह्मण-भाग का कोई सकेत उपलब्ध न होने के कारण यह भी सम्भव हो सकता है कि बहुत-सी ऐसी क्रियायें भी रह जायें, जो सम्भवत ब्राह्मण-भाग में ही निर्दिष्ट की गई हों। इस वर्णन मे उन्हीं क्रियाओ को मध्यबिन्दु मान गया है, जिनके मन्त्र सहिता मे हैं। पर विधियो को जोडने के लिए आवश्यक अमन्त्रक क्रियायें भी लेनी पडी हैं। इनके लिए यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

२ मा श्रौ सू (९।२।१।१-१४) मे सर्वप्रथम प्रजापति के लिये ऋषभ और तूपर के पशुयाग, आदित्य-उपस्थान, ब्रह्मोदन विधि और १२ पूर्णाहुतियों के अनुष्ठान का निर्देश है। पर शतपथ ब्रा० (१३।१।१।१) मे सिर्फ ब्रह्मोदन विधि का ही उल्लेख है।

३ मा श्रौ सू ९।२।१।१५, श १३।१।१।१

लेकर अश्व को इस रस्सी से बाँध देते हैं। अब यजमान के पिता की छोटी बहिन के पुत्र को अश्व के आगे करके अश्व को किसी जलाशय की ओर ले चलते हैं, और हाथ मूसल लिए एक दासी-पुत्र तथा एक चतुरक्ष[1] कुत्ता पीछे-पीछे चलते हैं।[2] अश्व को जल में सामने की ओर पश्चिमाभिमुख खड़ा करके सब ऋत्विज-गण पहले अश्व के अलग-अलग भागों को और फिर सब भागों को एक साथ जल से प्रेक्षित करते हैं। अब दासी-पुत्र मूसल से कुत्ते को पीटता है, और यजमान मन्त्र जपता है। अश्व के दायें पैर को ऊपर उठाकर मृत कुत्ते को उसके पैरों के नीचे डाल देते हैं, और जल को हिलाकर उसके शव को दक्षिण की ओर प्रवाहित कर देते हैं।

अश्वाभिमन्त्रण—

अब अश्व को वेतस शाखाओं द्वारा जल से बाहर निकाल लेते हैं। जल की बूँदों को टपकाते हुए अश्व को अनुमन्त्रित किया जाता है। अश्व को यज्ञ मण्डप में लाकर अश्व के विविध रूपों व गुणों के वाचक मन्त्रों से पचास आहुतियाँ दी जाती हैं। इस मन्त्र-संस्कारित अश्व को कवचधारी सौ राजपुत्रों को सौंप दिया जाता है। और इसके बाद सवितादेवता के लिए अष्टकपाल पुरोडाश की हवि बनाकर उससे यथाविधि सावित्रेष्टि का उपांशु यजन करते हैं,[3] और इसमें स्विष्टकृत-विधि से पूर्व चार 'घृत' आहुतियाँ भी दी जाती हैं।

दिग्विजय-भ्रमण[4]—

अब राजपुत्र अश्व को लेकर वर्ष भर की विजय-यात्रा पर निकलते हैं। अश्व को सुरक्षित लौटा लाना इनका दायित्व होता है। इस वर्ष भर की अवधि में तीन कार्य प्रतिदिन किये जाते हैं—

(क) सावित्रष्टि-अनुष्ठान—इसमें दिन में तीन बार क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह कपालों वाले पुरोडाश से तीन बार यजन किया जाता है।

---

१ श. ब्रा. भा. १३।५ के अनुसार जिसकी आंखों के पास आंखों के समान दोनों ओर दो निशान से हों, वह चतुरक्ष कुत्ता कहलाता है।

२ दे. अध्याय छह में अनु. ११६.

३ मा. श्रौ. सू. (६।२।२।१-२) में उन ५० आहुतियों से पूर्व भी इस पुरोडाश-यजन का उल्लेख है, पर यहाँ के मन्त्रों के क्रम में संहिता और सूत्र के अन्तर को देखते हुए यहाँ श. (१३।१।३।७, १३।१।४, १ २) और तै. (३।८।१२) के आहुतियों के बाद ही यजन के निर्देश को मान्य किया है।

४ इस विधि का दक्षिणा-दान तक का समस्त वर्णन ब्राह्मण-प्रकरण का ही विषय होने से इसे मा. श्रौ. सू. (६।२।२।६-१५), श. (१३।१।४।३, १३।१।५) और तै. (३।८।१२) के आधार पर संक्षेप में लिया गया है। शतपथ के अनुसार सावित्रेष्टि सिर्फ प्रातःकाल की जाती है।

(ख) वीणा गायन—इसमे वीणा-वादन के साथ-साथ राजा यजमान और अन्यान्य विजेताओं की प्रशस्तियो का प्रात: सायं गान करवाया जाता है।

(ग) प्रति सायंकालीन पूर्वोक्त चार "धृति" आहुतियाँ दी जाती हैं।

वर्ष की समाप्ति के कुछ दिन पूर्व की अमावस को[1] दर्शयाग का यजन करके उसी दिन उखापात्र का विधिवत् निर्माण किया जाता है। अश्व के लौट आने पर उसका यथोचित सम्मार्जन आदि करके वीणावादको को दक्षिणा दी जाती है।[2]

इसके बाद वैश्वदेव-सम्बन्धी आहुतियाँ दी जाती हैं, और उखा मे उत्पन्न की गई अग्नि की श्रद्धा उपासना करता है। इस उपासना मे एक सुसंस्कृत राष्ट्र की पूर्ण समृद्धि की कामना की गई है।

अन्नहोम[3]—

अब रात्रिभर नानाविध अन्नो की आहुतियाँ दी जाती हैं। पहले सत्तु, धाना, मसूस्य, करम्भ, लाजा, पृथुक, ज्वार बाजरा और चावलों को मिलाकर ११६ आहुतियाँ देते हैं।[4] और फिर १-३-५-७ जैसे अयुग्म-सख्यक मन्त्रो और २-४-६-८ जैसे युग्म सख्यक मन्त्रो की क्रमशः बार-बार आवृत्ति करते हुए इसी मिश्रित अन्न की आहुतियाँ रातभर देते रहते हैं। प्रात:काल पौ फटने पर आज्य की पहली और सूर्योदय होने पर दूसरी आहुति देने के साथ ही यह होमविधि पूर्ण हो जाती है।

दीक्षा आदि से लेकर अग्निष्टोम-अनुष्ठान[5]—

अब मुख्य यज्ञ-सम्बन्धी दीक्षा-विधि का विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है। तत्पश्चात् यथाविधि वेदि का निर्माण होता है, यज्ञस्थल पर तीन गान स्थल—आस्ताव—बनाये जाते हैं। २१ यूपों का पूर्वविधि से ही सम्पादन किया जाता है। इनमे मध्य-

---

१ मा श्री. सू. ६।२।२।१० के अ. ब (पृ २६०) की टिप्पणी ३।

२ मा. श्री सू (६।२।२।११-१४) मे इसके बाद पशुबन्ध और त्रैधातव्या दीक्षणीया के अनुष्ठान का भी निर्देश है। पर अन्यत्र ऐसा सकेत न मिलने से इन्हें छोड दिया है।

३ इस होमविधि के क्रम के लिए देखिये छटे अध्याय मे पृष्ठ २६४।

४ मा श्री सू (६।२।२।३०) में १०१ आहुतियों का निर्देश है। पर मै स (३।१२।७-१४) में ११६ स्वाहाकार हैं। वा. स (२२।२३-३३) मे १४६ और तै. स. (७।२।११ २०) में १४५ स्वाहाकार हैं। यह उल्लेखनीय है कि तै (३।८।१८) मे १४६ आहुतियो का ही निर्देश है।

५ यह समस्त विवरण अत्यन्त सक्षेप मे मा श्री सू (६।२।२।१६-२२) पर ही आधारित है। दीक्षा आदि के परमावश्यक निर्देश ही लिये गये है। इस विधि क्रम के लिए छटे अध्याय मे पृष्ठ २६३ भी देखिये।

वर्ती अग्निष्ठ यूप नीच दारू का वनाया जाता है, जिसकी ऊँचाई २१ अरत्नि होती है। दो यूप पूतदारु के और ६-६ खदिर, पलाश या विल्व के होते हैं।

यथा समय समस्त दिशाओं से "वसतीवरी" जलों को विधिपूर्वक ग्रहण करके अग्निष्टोमीय सोम सवन-दिवस का भी विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है। इसमें उल्लेखनीय यह है कि माध्यंदिन-सवन में माहेन्द्रग्रह से पूर्व प्रजापति के लिए एक सूर्य-सम्बन्धी और दूसरा चन्द्र-सम्बन्धी सोमग्रह भी विधिपूर्वक लिए जाते हैं।[1] इन्ही ग्रहों को प्राजपत्य और महिम ग्रह भी कहा गया है।

पशु-प्रदर्शनी—

अब नानाविध ग्राम्य और आरण्य पशुओं को यज्ञस्थल पर लाया जाता है। इसमें से कुछ पशुओं को "पर्यंग्य" कहते हैं क्योंकि इन्हें यज्ञ के प्रधान अश्व के विविध अंगों के चारों ओर खड़ा किया जाता है।[2] इन पर्यंग्य पशुओं में एक मेषी और नौ अज हैं--एक कृष्णग्रीव अज अग्निदेवता का होता है, जिसे अश्व के मस्तक के सामने रखते हैं, इसी तरह सारस्वत मेषी को अश्व के जबड़ों के पीछे, पूषा के श्यामवर्णी अज को नाभि-भाग में, आश्विनों के दो अधोराम अजों को अश्व की बाहुओं-अगली टांगों में, त्वष्टा के दो अजों को सक्थिप्रदेशों के पास, सूर्य और अर्यमा के श्वेत और कृष्ण अजों को दोनों पार्श्वों में और वायु के श्वेत अज को पुच्छ प्रदेश में खड़ा किया जाता है। इन दस के अतिरिक्त ५ और महत्त्वपूर्ण पशु होते हैं, जिन्हें इस पर्यंग्यीकृत अश्व के दोनों ओर खड़ा करके मध्यवर्ती उसी अग्निष्ठ यूप से बांधा जाता है, जिससे प्रधान अश्व को बांधते हैं। इन पांचों में अश्व, तूपर और गोमृग प्रजापति के होते हैं, और एक वेहद् (?) गाय इन्द्र की तथा एक नाटा बैल विष्णु के लिए होता है।

इन १५ पशुओं के अतिरिक्त ग्राम्य पशुओं के दो समूहों-जिनमें ११-११ पशु होते हैं, तथा आरण्य पशुओ के दो वर्गों-एक वर्ग में १५-१५ पशुओं के १० समूह होते हैं, और दूसरे वर्ग में १०-१० पशुओं के ११ समूह होते हैं—को भी यज्ञमण्डप में लाया जाता है।[3] ग्राम्य पशुओं को प्लक्षशाला से उपाकृत करते हैं।[4]

अश्वादि वस्तुओं का अनुमन्त्रण—

अब क्रमशः प्रधान यज्ञीय अश्व को, उसके पार्श्ववर्ती दो अश्वों, रथ की ध्वजा, कवचधारी यजमान, उसके धनुष, प्रत्यंचा, धनुष के दोनों सिरों, तरकस,

---

१ इन ग्रहों के क्रम के लिए भी छटे अध्याय के पृष्ठ २६२-२६५ तक देखिये।

२ श. १३।२।२।१-१०, १३।५।१।१३.

३ इन ग्राम्य और आरण्य पशुओं का देवतानुसारी विस्तृत विवरण मै. सं. के क्रमशः ३।१३।३-२० और ३।१४ में है।

४ देखिये पृष्ठ १३१.

सारथि, शब्द करते हुए अश्वो को पुन , रथ को, माता पिता, बाण, चमडे की थैली, चाबुक और दुन्दुभि को अनुमन्त्रित किया जाता है ।

अश्व-सञ्जीकरण—

तदनन्तर अश्व को पुन जल में नहलाकर लाते है, और उसे उपाकृत करके खडा करते हैं । इस उपाकृत अश्व के मुख से लेकर अगली टांगो तक के भाग को महिषी कसाम्बु के तेल से चिकना करती है, उससे आगे नाभि तक के प्रदेश को वावाता गुग्गुल के तैल से और उसके आगे पूँछ तक के अवशिष्ट भाग को परिवृक्ति मुस्तकृत के तेल से चुपडती है ।[1] इसी तरह अश्व के अगों मे क्रमश महिषी हजार स्वर्णमणियाँ, वावाता हजार रजतमणियाँ और परिवृक्ति हजार शख मणियाँ बांधती है ।[2] और इसके बाद तीनो राजपत्नियाँ पहले के अन्नहोम से बचे हुए अन्न को अश्व के खाने के लिये उसके सामने रखती हैं ।

परिसवाद[3] —

अब होता और ब्रह्मा अग्निष्ठ यूप के दोनो ओर खडे होकर परस्पर कुछ प्रश्नोत्तर करते हैं । क्रमश एक प्रश्न करता है कि "अकेला कौन विचरता है ? कौन बार-बार उत्पन्न होता है ? हिम की औषधी क्या है ? इत्यादि । और दूसरा क्रमश इनके उत्तर मे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि का नाम लेता जाता है । इस प्रकार के आठ प्रश्न और उनके उत्तर दिये जाते है ।

अश्व-सज्ञपन—

इसके बाद अश्व को मध्यम अग्निष्ठ यूप मे बाँध देते हैं, और पर्यंग्य पशुओ को ऊपर वर्णित प्रक्रिया के अनुसार इस अश्व के समस्त अगो के पास खड़ा करके इसे आच्छादित सा कर दिया जाता है । प्रजापति, इन्द्र और विष्णु के पाँचो पशुओ को भी अब अश्व के दोनो ओर रखकर बांधते हैं । अन्य ग्राम्य पशुओ को शेष २० यूपो से बाँधते है, और आरण्य पशुओ को यूपो के बीच के प्रदेश मे खड़ा किया जाता है ।

अब इन सब पशुओ का विधिवत् पर्यग्निकरण करके समस्त आरण्य पशुओ को और पशुयाग मे प्रयुक्त न होने वाले ग्राम्य पशुओ को भी यूप से खोलकर यज्ञ स्थल से हटा दिया जाता है । सम्भवत प्रधान अश्व और तीन प्राजापत्य पशु-अश्व, तूपर और गोमृग के अतिरिक्त सब पशु छोड दिये जाते हैं । और अब मुख्य अश्व को

---

१ श (१३।२।६।८-६) और तै (३।६।४) मे सिर्फ घी से चुपडने का उल्लेख है ।

२ श (१३।२।६।८) मे सोने की सौ सौ, और तै (३।६।४) मे सोने की सहस्र मणियों को बांधने का वर्णन है, अन्य मणियों का नामोल्लेख नही है ।

३ इस प्रश्नात्मक परिसवाद को "ब्रह्मोद्य" भी कहा गया है । "ब्रह्माणि वेदे वदन ब्रह्मोद्य प्रश्नप्रतिवचनात्मकम्" (श प्रा भा (१३।३६)

और प्रजापति के तीनों पशु—अश्व तूपर और गोमृग को चात्वाल में लाकर अग्नीषोमीययाग के पशु की तरह ही गला दवाकर इनकी संज्ञपन-क्रिया की जाती है। इस समय ३ आहुतियां दी जाती हैं।

अश्व-संगमन—

महिषी को समन्त्रक और अन्य राजपत्नियों को अमन्त्रक ही सामने लाया जाता है। सब पत्नियां अश्व की तीन बार दायीं ओर से और तीन बार बायीं ओर से परिक्रमा करती हैं। एक स्थान को चारों ओर से ढककर अश्व के पैरों को फैलाया जाता है, और महिषी अश्व-संगमन करती है। कुछ देर बाद महिषी के उठकर खड़े होने पर सब जप करते हैं।

सूचिकाछदन—

अब अश्व के शरीर पर सूईयों से लकीरें खींची जाती हैं। इन्हीं लकीरों को "असिपथ" कहा जाता है। अश्व के सिर के पीछे से जबड़ों तक महिषी सोने की सुईयों से, क्रोड-नाभि तक वावाता चांदी की सुईयों से और पूंछ तक परिवृक्ति लोहे की सुईयों से ये असिपथ बनाती हैं। इन्हीं असिपथों के अनुसार अश्व-शरीर का छेदन करके अश्व की वपा[1] निकाली जाती है।

वपाहोम[2]—

अश्व की वपा को यथाविधि पकाया जाता है, और आश्रावण-प्रत्याश्रावण-पूर्वक याज्यानुवाक्या मन्त्रों का यथाक्रम पाठ करवाकर वपाहोम किया जाता है। इसी प्रकार अन्य प्राजापत्य पशुओं की भी वपा निकालकर पकाते हैं, उनसे होम करते हैं। इन पशुओं के अंगों को भी विधिवत् पकाया जाता है। इसकी समस्त विधि अग्नीषोमीय पशुयाग में वर्णित है।[3]

अभिषेक[4]—

अब दक्षिणाहोम करके माहेन्द्रग्रह का स्तोत्रपाठ किया जाता है, और फिर

---

१ मा. श्रौ. सू. (९।२।४।१८) के अनुसार अश्व की "वपा" नहीं होती है, उसे "चन्द्र" कहते हैं।

२ इस वपाहोम से लेकर अन्त तक की समस्तविधि का क्रम मा. श्रौ. सू. (९।२।४।१९-३०, ९।२।५) के अनुसार ही वर्णित है, क्योंकि इन विधियों के मन्त्र मै. सं. (३।१५-१६) में अस्त-व्यस्त हैं। दे. तीसरे अध्याय के अनु० ९-१०, तथा छठे अध्याय के अनु० १०५-१०७. किन्तु मा. श्रौ. सू. में मन्त्रपूर्वक निर्दिष्ट उन विधियों को इस प्रकरण में छोड़ दिया है, जिनके लिये कोई मन्त्र मै. सं नहीं है।

३ देखिए इसी अध्याय के अनु० १३२ से १३४ तक

४ इसके लिये छठे अध्याय का पृष्ठ २६५ देखिए।

अभिषेक-विधि की जाती है। यजमान को सिंह-चर्म पर बैठाते हैं, और ऊपर सोने के एक टुकड़े को पकड़े रखकर अश्वहोम के अवशिष्ट आज्य से यजमान का अभिषेक किया जाता है। और फिर यजमान के हाथ को पकड़कर आग्री मन्त्रों का पाठ किया जाता है। जगती छन्द के मन्त्रो से यजमान को विष्णुक्रमों से चलाते हैं, और मास-नामों की आहुति दी जाती है।

अश्वांग-परिकल्पन होम—

अश्व-शरीर के उत्तर मे वेतस की चटाई पर प्राजापत्य पशुओ के अगों को काटा जाता है। गोमृग के कण्ठ से स्विष्टकृत् की आहुति दी जाती है, अश्वशफ से पत्नी सयाज का अनुष्ठान होता है, और अयस्मय से अवभृथेष्टि मे यजन होता है।

वेतस की चटाई पर ही प्राजापत्य अश्व और तूपर के अगों को पूर्वाभिमुख और गोमृग को पश्चिमाभिमुख करके चुना जाता है। वषट्कार करने पर चार राज-पुत्र इन्हे आहवनीय के समीप रखते हैं। अब अश्व के प्रत्येक अग को किसी देवता विशेष के लिए अर्पित करने की भावना वाले मन्त्रो को बोलते हुए घी की अनेकों आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रत्येक आहुति के लिए अलग घी लिया जाता है। यही अश्वांग-परिकल्पन होम है। इसके बाद अश्वस्तोमीय मन्त्रो से १६ आहुतियाँ देते हैं।

अवभृथ विधि की समाप्ति पर एक रोगी व्यक्ति को मुख तक अवभृथ-जल में खड़ा करते हैं, और उसके सिर पर एक आहुति[1] दी जाती है।

अनूबन्ध्या पशुयाग[2]—

सूर्य के लिये नौ सफेद अनूबन्ध्या गायो से इस याग का विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है।

सर्व पृष्ठ इष्टि[3]—

उपर्युक्त पशुयाग के पशुपुरोडाश का अनुष्ठान करने के बाद भूति का इच्छुक व्यक्ति "सर्वपृष्ठ" से यजन करता है। इस इष्टि के दस देवताओं की हवियाँ ही नही, छन्द और साम आदि भी पृथक्-पृथक् वर्णित हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—
१— अग्नि के लिये अष्टकपाल पुरोडाश की हवि होती है, इसका छन्द गायत्री,

---

१ मै. स. (३।१५।८) मे सिर्फ एक आहुति-मन्त्र है, पर तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।६।१५) तीन का उल्लेख करता है। मा श्रौ सू. (६।२।५।२५) मे भी तीन का निर्देश है।

२ देखिए छठे अध्याय का पृष्ठ २७७।

३ यद्यपि मा श्रौ. सू (९।२।५।३१) सर्वपृष्ठ के यजन का उल्लेख तो करता है, पर हवियों का कोई विवरण नही देता है। मै सं ३।१५।१० मे वर्णित ये हवियाँ ही तै. स ७।५।१४ मे हैं, जिन्हे तै स मा (८।२७।४१) में सर्वपृष्ठ ही कहा गया है। इसी आधार पर इन्हें यहाँ इस नाम से वर्णित किया गया है।

स्तोम त्रिवृत्, साम रथन्तर और ऋतु वसन्त है। २—इन्द्र के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की हवि, त्रिष्टुप् छन्द, पंचदश स्तोम, बृहती साम और ग्रीष्म ऋतु है। ३—विश्वदेवों के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, वैरूप साम और वर्षा ऋतु है। ४—मित्रावरुण की पयस्या की हवि, अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम, वैराज साम और शरद् ऋतु है, ५—बृहस्पति के लिये चरु की हवि, पंक्ति छन्द, त्रिणव स्तोम, शक्वर साम और हेमन्त ऋतु है। ६—सविता के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश, अतिछन्दस् छन्द, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवत साम और शिशिर ऋतु है। इन छह प्रमुख देवता-हवियों के साथ अनुमति की चरु-हवि, वैश्वानर के द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि, विष्णु-पत्नी अदिति के लिए चरु और प्रजापति के लिए एक कपाल पुरोडाश की चार अन्य हवियाँ हैं। ये दस हवियाँ "दशहविष्क" की सामूहिक संज्ञा से भी अभिहित की जाती है। इन समस्त हवियों का यथाविधि यजन करना ही "सर्वपृष्ठ" नामक विशिष्ट अंगयज्ञ का अनुष्ठान करना है।

मृगारेष्टि—

रोगी या भयभीत यजमान सर्वपृष्ठ के स्थान पर इस इष्टि का यजन करता है। इसमें भी दस हवियाँ होती हैं, पर इनके देवता और उनके प्रयोजनविशिष्ट विशेषण भिन्न और उल्लेखनीय हैं। अंहोमुच् अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश, अंहोमुच् वायु सविता के लिए पयस्, आगोमुच् अश्विनों के लिए धाना, एनोमुच् मरुतों के लिये सप्तकपाल पुरोडाश, एनोमुच् विश्वदेवों के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश, अनुमति के लिये चरु, वैश्वानर के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश और अंहोमुच् द्यावा पृथिवी के लिये द्विकपाल पुरोडाश-ये दस हवियाँ है।

इन दस हवियों की मृगारेष्टि के यजन के साथ ही अश्वमेधयाग सम्पूर्ण हो जाता है।

सौत्रामणीयाग[1]

काल—

इस याग के अनुष्ठान-काल का कोई निर्देश नहीं है। किन्तु इसके प्रयोजन के

---

१ जैसा छठे अध्याय के पृष्ठ २६८ में वर्णित किया गया है कि सौत्रामणीयाग दो प्रकार का होता है—चरक और कौकिली। मैत्रायणी संहिता में कोकिली-सौत्रामणी के मन्त्र (३।११) ही है, ब्राह्मण भाग नही है, और चरक सौत्रामणी के कुछ मन्त्र (२।३।८) भी हैं और ब्राह्मण-भाग (२।३।९, २।४।१-२) भी। अतः यद्यपि यहां दिया गया यज्ञ-विवरण कोकिल-सौत्रामणी का ही है किन्तु चरक के प्रकरण में वर्णित सर्वमान्य विधियों को भी लेना आवश्यक प्रतीत हुआ है। किन्तु यह निश्चय करना सरल नहीं है कि कोकिल-सौत्रामणी में सूत्र-निर्दिष्ट सभी परिवर्धन मैत्रायणी कार को भी मान्य है ही। इस प्रकार के जिन परिवर्धनों को आवश्यक मानकर गृहीत किया है, उनके निर्दिष्ट-स्थल टिप्पणी में दिये गए है। इसके अतिरिक्त प्रैष और याज्या मन्त्रों का क्रम भी यज्ञविधि के अनुकूल न होने के कारण इनके निर्देश-संकेतों और संहिता में इनकी अवस्थिति को उद्धृत करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ है।

अनुसार कोई भी सोमवामी या सोमातिपवित व्यक्ति इसे कभी भी अनुष्ठित कर सकता है।

देवता-हवि—

सामान्यतः इसके तीन देवता हैं—इन्द्र, अश्विनौ और सरस्वती। इनकी हवियों मे क्रमश ऋषभ, अज और मेषी की एक एक पशु हवि, एकादशकपाल के एक-एक पशु पुरोडाश और पयस् व सुरा के एक-एक ग्रह होते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र देवता के लिये दो विशेष पशुयाग किए जाते हैं, जिनमे ऋषभ की दो पृथक् पशुहवियाँ होती हैं।

यजन-विधि

सोम का रेचन या वमन करने वाले रोगी यजमान के लिए इस याग का अनुष्ठान किया जाता है।

सुरा-सन्धान—

सर्वप्रथम सुरा बनाई जाती है। जिस प्रकार सोमरस को निकालने के लिए हिरण्य देकर सोम को खरीदा जाता है, उसी प्रकार सुरा तैयार करने के लिए धान, जौ और गेहूँ की हरी बालों को सीसे के द्वारा खरीदा जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि ये सब धान्य किसी क्लीव व्यक्ति से ही खरीदे जाते हैं। इन बालों को पीसकर उनका रस निकालते हैं। इस रस को रात भर रखा रहने देते हैं। दूसरे दिन सुबह इस रस मे एक गाय का दूध मिलाकर इन्द्र, अश्विनौ और सरस्वती का नाम लेकर अभिमर्शन करते हैं। यदि दूसरी रात भी रखी जाये, तो अगली सुबह दो गायों के दूध को मिलाते हैं।[1] इस तरह तीसरे दिन तक रखा गया यह अन्नरस "सुरा" बन जाता है।

प्रथम पशुयाग—

अब उपवसथपूर्वक अगले दिन एक पशुयाग किया जाता है। इसका देवता इन्द्र और ऋषभ की पशु-हवि होती है। इसकी समस्त विधि प्रकृतियागवत् ही होती है, उल्लेखनीय इतना ही है कि इसके प्रयाजयाज्यों के आप्री मन्त्र विशेष होते हैं।[2]

वेदि-निर्माण तथा सुरा-उत्पवन—

पुनः उपवसथपूर्वक अगले दिन सोमयागीय उत्तरवेदि का निर्माण किया जाता है। इस वेदि के दक्षिण मे प्रतिप्रस्थाता सुराग्रहों के लिये वेदि की तरह एक खर प्रदेश बनाता है और उत्तर की ओर अध्वर्यु पयोग्रहों के लिये अपेक्षाकृत छोटा अन्य वेदिरूप खर प्रदेश बनाता है। विधिवत् अग्न्याधान होता है। दक्षिण खर मे प्रतिप्रस्थाता तीन मिट्टी के पात्र एक द्रोण (लकड़ी का कलश विशेष) एक बाल (?)

---

१ मा श्रौ सू ५।२।११।४

२ मै स ३।११।१, मा. श्रौ सू. ५।२।११।७

और तीन वायव्य पात्रों को रखता है।[1] पयोग्रह के जो कार्य अध्वर्यु उत्तर खर में करता है, सुरा-ग्रह के वही कार्य प्रतिप्रस्थाता दक्षिण खर में करता है।

अब आज्य और पयस् को लाकर क्रमशः वेदि पर और उत्तर खर में रखा जाता है। प्रतिप्रस्थाता सुरा के कलश को किसी ब्राह्मण के सिर पर उठवाकर अपने खर में रखवाता है। आज्य का विधिवत् ग्रहण और यथास्थान स्थापन होता है। पृषदाज्य बनाकर उसका भी चार बार ग्रहण होता है।[2]

अब प्रतिप्रस्थाता बाल को द्रोण पर फैलाकर उसमें सुरा को उंडेलकर पवित्र करता है, और तब अध्वर्यु सुरा का उत्पवन करता है। सोमवामी और सोमातिपवित यजमान के लिये उत्पवन की यह क्रिया भिन्न-भिन्न मन्त्रों द्वारा की जाती है।

पयस्-सुरा के ग्रह—

अब अध्वर्यु शष्प और पवित्र को पकड़ कर तीनों देवताओं—अश्विनों, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र के लिये क्रमशः पयस् के ग्रहों को अलग-अलग पात्रों में लेकर यथास्थान रखता है, और प्रतिप्रस्थाता तीनों के लिये सुरा-ग्रह लेता है। सुरा-ग्रह के आश्विनग्रह में कुवल और गेहूँ के सत्तु तथा वृक्-लोम, सारस्वतग्रह में कर्कन्धु और उपवाका के सत्तु तथा व्याघ्र-लोम, और ऐन्द्रग्रह में बेर और तोक्म (अंकुरित व्रीहि) के सत्तु और सिंह-लोम मिलाये जाते हैं[3] और फिर इन्हें यथास्थान रख देते हैं।

प्रधान पशुयाग—

यथाविधि यूप बनाकर उसे गाड़ा जाता है। अश्विनी के धूम्र अज, सरस्वती इन्द्र-आश्विनी की मेषी और इन्द्र आश्विनी-सरस्वती के ऋषभ को यथापूर्व उपाकृत करके एक ही यूप[4] से बांधा जाता है। सबका विधिवत् आलभन, संज्ञपन आदि कर

---

१ इस अनुच्छेद की समस्त क्रियायें मा. श्रौ. सू. ५।२।११।१०, ५।२।४।७-११ के अनुसार हैं, क्योंकि आगामी कार्यों में इनकी आवश्यकता अपेक्षित है। किन्तु मैत्रायणी में दो खरों का उल्लेख नहीं मिलता है।

२ पृषदाज्य का विशेष उल्लेख मा. श्रौ. सू. ५।२।४।१६ के अनुसार है।

३ मैत्रायणी-संहिता के चरक-ब्राह्मण (२।३।९) मे केवल एक-एक प्रकार के—क्रमशः कुवल, कर्कन्धु और बेर के—सत्तुओं को ही मिलाने का वर्णन है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के सायण-भाष्य (२।६०३) में कौकिली सौत्रामणी में भी एक-एक सत्तु के ही मिलाने का उल्लेख है, यद्यपि यहां सत्तुओं के नाम भिन्न हैं। किन्तु मा. श्रौ सू. (५।२।११।१६) और शतपथ ब्राह्मण (१२।९।१।५-६) यहां इन तीनों के ही मिश्रण का निर्देश करते हैं।

४ तै. १।८।६.

वपाहोम का अनुष्ठान किया जाता है। इसमे यह उल्लेखनीय है कि ऐन्द्र ऋषभ का वपाहोम अन्त में ही होना चाहिए। इस समस्त पशुयाग के आप्री और प्रैष मन्त्र भी विशेष है,[१] और वपाहोम के लिये तीनों का एक-एक याज्या और पुरोनुवाक्या है,[२] किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि एक पशु के वपाहोम का याज्या दूसरे के वपाहोम का पुरोनुवाक्या और पुरोनुवाक्या याज्या बन जाता है।[३] इस प्रकार परोगोष्ठ में सम्मार्जन तक की सब प्रक्रियायें प्रकृतियागवत् की जाती हैं।

ग्रह होम-भक्षण—

तदन्तर बाज के पंख (श्येनपत्र) से यजमान को पवित्र किया जाता है, और पवित्र हुआ यजमान सब ग्रहों की सोमरूप मे उपासना करता है।[४] अब पहले सब ग्रहो के एक साथ अनुवाक्या, प्रैष और याज्या बुलवाये जाते हैं[५] और फिर प्रत्येक ग्रह हवि के लिये एक-एक पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र बुलवाकर[६] दो वषट्कारों के बाद अध्वर्यु उत्तरवेदि में पयोग्रह को, और प्रतिप्रस्थाता दक्षिण वेदि मे सुराग्रह को आहुतियां देते हैं। इसमे भी याज्या पुरोनुवाक्या मन्त्रों की स्थिति पूर्ववत् है कि एक ग्रहहोम का याज्या दूसरे का पुरोनुवाक्या होता है। होम के बाद दोनों ग्रहो का भक्षण होता है। इस भक्षण की विशिष्टता यह है कि आश्विन ग्रह को अध्वर्यु, सारस्वतग्रह को प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र तथा ऐन्द्रग्रह को यजमान खाता है।[७] और भक्षण से पूर्व अध्वर्यु दो सिंहो, प्रतिप्रस्थाता दो व्याघ्रों और यजमान दो वृकों के यश अर्थात् बल को प्राप्त करने का ध्यान करते हैं।

अभिषेक—

इस प्रधान यज्ञ विधि के बाद उत्तरवेदि के उत्तर में एक चौकी बिछाकर उस पर यजमान को बिठाया जाता है और सब पयो ग्रहों के अवशिष्ट भाग[८] से] यजमान का यथाविधि अभिषेक किया जाता है। ग्रहो की धारा सिर से मुख तक

---

१ मैं स. ३।११।२-३, मा. श्रौ. सू ५।२।११।३६, श. १२।८।२।१४ तै ब्रा. भा. २।६५१, ६५६

२ मैं स ३।११।४।२४।२६, मा श्रौ सू ५।२।११।३६-४०, तै ब्रा भा. २।६६३-६६४.

३ मा श्रौ. सू. ५।२ ११।४०, तैं ब्रा. भा २।६६३-६४.

४ मैं. स ३।११।६, मा श्रौ. सू. ५।२।११।२१, तैं २।६।२, तै. ब्रा. भा. २।६०७.

५ मैं. स. ३।११।४।३०-३२, मा. श्रौ सू ५।२।४।३६-४१, तैं. १।८।६

६ मैं. सं. ३।११।४।३३-३५, मा श्रौ. सू ५।२।११।३६-४०, तैं. ब्रा. भा २। ६६५ ६६

७ तैं. ब्रा. भा. २।६११, ६१४, श १२।८।२।२२-२४, मैं. स २।३।६.

८ श. १२।८।३।१८

प्रवाहित की जाती है। प्रतिप्रस्थाता अपने अवशिष्टांश ग्रह से 'भूःस्वाहा' कहकर दक्षिण खर में आहुति देता है। यजमान के सिर, जीभ, बाहू, पीठ, नाभि, रोम और जंघाओं को क्रमशः अभिमर्शित करते हैं, और इसके बाद यजमान चौकी से उतर आता है।

उपहोम—

अब स्विष्टकृत् से पूर्व पशुयाग के अवशिष्ट यूष (मांसरस) की १६ आहुतियाँ पशु के सींग और शर्फो के द्वारा दी जाती हैं। यही उपहोम है।

पितृहोम—

इसके बाद यजमान से पितरों की उपासना वाले मन्त्र बुलवाये जाते हैं। इस पितृ-उपस्थान के बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता पितरों को उद्दिष्ट करके क्रमशः एक-एक कुल चार आहुतियाँ देते हैं।

पशुपुरोडाशयजन—

एकादशकपाल के तीन पशुपुरोडाश बनाये जाते हैं। इनके देवता क्रमशः इन्द्र सुत्रामा-सविता-वरुण, सविता-वरुण-इन्द्र सुत्रामा और वरुण-इन्द्र सुत्रामा-सविता है। यह विशिष्टता अवश्य है कि वपा-होम के विपरीत इसमें ऐन्द्र पशुपुरोडाश का यजन सबसे पहले किया जाता है। इन पुरोडाशों के याज्या-पुरोनुवाक्या भी अलग हैं, और पूर्व विधि के अनुसार ही एक याज्या दूसरे का पुरोनुवाक्या है।[1]

इस पुरोडाश-यजन से लेकर दक्षिणा होम तक की विधि यथापूर्व की जाती है। दक्षिणा में अपने बछड़ों सहित तैंतीस गायें और बड़वा होती है। दक्षिणाहोम के बाद समिष्ट यजुषों की आहुति से पूर्व तीन विशेष आहुतियों का भी विधान है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस सौत्रामणी-याग की अनुयाजविधि के मन्त्र भी विशेष हैं।[2]

अवभृथ—

यथावत् समिष्टयजुष्—होम के बाद अवभृथ—दीक्षान्त स्नान—के लिए जाते हैं और सर्वप्रथम अवभृथ-जलों में दो विशिष्ट आहुतियाँ दी जाती हैं। यजमान और उसकी पत्नी परस्पर एक एक-दूसरे के पृष्ठ भाग का प्रक्षालन कर स्नान करते हैं। उनके वापिस आने पर स्रुव से एक आहुति गार्हपत्य में दी जाती है।

इसके साथ ही यज्ञ की प्रधान विधि पूर्ण हो जाती है।

इन्द्र वयोधस् का पशुयाग—

अगले दिन उपवसथ विधिपूर्वक इन्द्र वयोधस् देवता के लिए ऋषभ की पशु

---

१ मै. सं. ३।११।४।२७-२६, मा. श्रौ. सू. ५।२।११।३६-४०, तै. ब्रा भा. २।६६४-६५.

२ मै. सं. ३।११।५, मा. श्रौ. सू. ५।२।११।४१, तै. ब्रा. भा. २।६६६.

हवि से पशुयाग का विधिवत् यजन किया जाता है। इसके प्रयाज की याज्या के आप्री मन्त्र[1] और याज्यानुवाक्या के छह मन्त्र[2] विशेष है। शेष सब यथावत् है।

अन्त मे सर्वपृष्ठ और मृगारेष्टि का विधिवत् यजन[3] करके सौत्रामणी याग सम्पूर्ण हो जाता है।

प्रवर्ग्य-याग

काल—

शतपथ ब्राह्मण मे इसके अनुष्ठान-काल का कोई निर्देश नही है। मानवश्रौत-सूत्र के अनुसार यह पूर्णिमा, अमावस्या अथवा किसी भी पुण्य नक्षत्र मे अनुष्ठित किया जाता है।[4] किन्तु सोमयागों के अग रूप मे उपसद्-विधि से पूर्व इसका स्थान है।[5]

देवता-हवि—

इसके देवता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु आख्यान[6] और हवि के आहुति-मन्त्रो[7] के अनुसार इसके प्रधान देवता अश्विनौ है, और मन्त्रों मे द्यावापृथिवी और इन्द्र का नाम भी है।[8] अत ये भी गौण देवता हैं। इन सभी को प्रवर्ग्य अर्थात् घर्म—हवि की आहुति दी जाती है। यह घर्म-हवि घी दूध के मिश्रण से सम्पादित की जाती है। इसके अतिरिक्त दो रौहिण पुरोडाशो की भी हवि है, जिसे अहोरात्र को उद्दिष्ट करके दिया जाता है।

यजन-विधि

यज्ञ की शिर-स्थानीय इस प्रवर्ग्य-विधि का प्रारम्भ दीक्षित यजमान की गार्हपत्याग्नि मे समिधा रखकर और अदीक्षित की गार्हपत्याग्नि मे एक आहुति देकर किया जाता है।

सम्भार-आहरण एव पात्र-निर्माण—

समिधाधान अथवा आहुति के बाद खदिर, वेणु, विकङ्कत अथवा उदुम्बर की बनी चार अभ्रियां और एक स्रुव लेकर अध्वर्यु ब्रह्मा के साथ उठकर खडा होता है, और तब प्रवर्ग्य-सम्बन्धी पात्रो के निर्माण के लिए सम्भारो को लेने जाते हैं।

---

१ मै स ३।११।११, मा श्रौ सू ५।२।११।४३, तै ब्रा भा २।६८३

२ ,, ३।११।१२, ,, ५।२।११।४५, तै ब्रा. भा. २।६८६-८७

३ मा श्रौ सू ५।२।११।४६-४७। इन दोनों इष्टियो के लिए इसी अध्याय के पृष्ठ १८१-१८२ देखिये।

४ मा श्रौ सू. ४।१।१

५ तै. आ. भा. १।२२४, य. त. प्र पृ. ६२, मा श्रौ सू. २।२।१।१४, ४२

६ श १४।१।१, तै. आ. ५।१।१-६

७ मै स. ४।८।८।३३-३४,

८ ,, ,,

सर्वप्रथम खदिर की अभ्रि से मिट्टी खोदकर उस खुदी मिट्टी को कृष्णाजिन पर डालते हैं। फिर क्रमशः वेणु की अभ्रि से वल्मीकवपा को और विकर्कत की अभ्रि से वराह-विहत को खोदकर कृष्णाजिन पर पूर्ववत् डाला जाता है। स्रुव को अजाक्षीर से भरकर सब मिट्टियों पर उंडेलते हैं। अब इन सभी सम्भारों में पानी डालकर सबको अच्छी तरह मिलाया जाता है। इस सम्मिश्रित मिट्टी का एक पिण्ड बनाकर उसका अभिमर्शन करते हैं, और फिर पिण्ड पर अंगूठे का चिन्ह बनाते हैं।

इस प्रकार मिट्टी को तैयार कर लेने पर इस मिट्टी से एक-एक करके 'महावीर' नामक तीन पात्रों को बनाया जाता है। इनका स्वरूप वायव्य पात्रों के समान होता है। प्रत्येक पात्र में अग्निचिति वाली उखा की तरह तीन-तीन उठान बनाये जाते हैं, और उनके मुखद्वार के नीचे दो अंगुल चौड़ी एक रास्ना (रेखा) खींची जाती है। इन्हें बनाकर सूखने के लिए बालू पर रख दिया जाता है। इन महावीर पात्रों को बनाने के बाद दूध-दोहन के लिए शकट के आकार के एक छोटा और एक बड़ा-दो उखापात्र, एक आज्यस्थाली, एक घर्मेष्टका और चार रौहिण कपालों को अमन्त्रक ही बनाया जाता है।[1]

महावीर-पात्रों के सूखने पर इन्हें अंगारों पर रखकर अश्वशफ से धुआँ दिया जाता है, और गार्हपत्य के उत्तर में एक गड्ढा खोदकर सब पात्रों को उसमें रख देते हैं। गार्हपत्य से अग्नि लेकर गड्ढे में चारों ओर अग्नि जलाकर पात्रों को पकाया जाता है। जितने समय तक पात्र पकते हैं, उतनी देर तक मन्त्रपाठ होता रहता है। पकने के बाद महावीर-पात्रों को एक-एक करके निकाला जाता है, दर्भों से तीन-तीन बार परिमार्जन किया जाता है, और तीनों को क्रमशः अजाक्षीर से सिंचित किया जाता है। अन्य पात्रों की ये सब क्रियायें सम्भवतः अमन्त्रक ही होती होगीं।

अब एक चौकी पर कृष्णाजिन बिछाकर उस पर इन महावीर-पात्रों को क्रमशः पश्चिम, पूर्व, उत्तर की ओर पंक्ति में रखा जाता है। अन्य पात्र भी इनके पास चौकी पर रख दिये जाते हैं। इन सब पात्रों को दर्भों से ढककर एक चर्म में लपेट दिया जाता है। अब इस चौकी को लाकर आहवनीयाग्नि के पास दक्षिण की ओर रख देते हैं। इस समय ऋत्विज और यजमान अपने हाथ में ओषधी लेकर नमस्कार-मन्त्र बोलते हुए अपना मार्जन करते हैं।

अनुष्ठान की पूर्व-तैयारी—

अब यज्ञवेदि में समस्त आवश्यक वस्तुयें—जिनमें सोने-चांदी के टुकड़े,

---

१ मा. श्रौ. सू. ४।१।२०। यद्यपि मैत्रायणी संहिता में प्रवर्ग्य-ब्राह्मण न होने से इन अतिरिक्त पात्रों के निर्माण के बारे में मैत्रायणी-सम्प्रदाय का मत जान पाना सम्भव नहीं है। किन्तु बाद में दूध-दोहन और घर्मेष्टकाधान के मन्त्र उपलब्ध होने से सूत्रकार का निर्देश मान्य करना उचित प्रतीत होता है।

उदुम्बर की सात समिधायें, विकङ्कत की १३ परिधियां, तीन पशों के दण्ड, दो परि-ग्राह, उपयाम और वेद आदि हैं—लाकर यथास्थान रखी जाती हैं। एक खर गार्हपत्य के उत्तर में और दूसरा आहवनीय के उत्तर में बनाया जाता है। यज्ञ-मण्डप के उत्तर पूर्व में पात्र आदि साफ करने का एक स्थान बनाते हैं, जिसे अधिनिर्णञ्जनीय अथवा मार्जालीय कहते हैं। सबके बैठने के स्थानों पर और यज्ञवेदि पर बर्हि बिछाई जाती है, और पात्रों को यथास्थान रख दिया जाता है।[1]

प्रोक्षणी जलों का संस्कार कर लेने के बाद अब सब ऋत्विज, यजमान और उसकी पत्नी गार्हपत्य के पीछे से यज्ञस्थल में प्रविष्ट होते हैं। ब्रह्मा को सम्बोधित कर प्रवर्ग्य-अनुष्ठान के प्रारम्भ की घोषणा की जाती है। होता को घर्म-स्तुति के लिये, अग्नीध्र को रौहिण पुरोडाश पकाने का, प्रतिप्रस्थाता को अग्नि-विहरण का और प्रस्तोता को साम-गान का प्रैष दिया जाता है। ब्रह्मा प्रवर्ग्य-अनुष्ठान की आज्ञा देता है।

घर्म-पाक—

अब वेद से एक-एक कर तीनों महावीर पात्रों के मूल, मध्य और अग्रभाग को क्रमशः परिमार्जित कर प्रोक्षण किया जाता है। इसके बाद एक महावीर में सर्पि—पिघला हुआ घी—डालते हैं। चाँदी के टुकड़े को महावीर के नीचे रखने के लिये आहवनीय के उत्तर वाले खर प्रदेश पर रखा जाता है। दर्भ के तिनकों को आगे-पीछे से जलाकर उनसे पहले महावीर को तपाया जाता है, और फिर उन्हें भी उत्तरीय खर में रख देते हैं। अब दक्षिण की चौकी पर रखे महावीर-पात्र को उठाकर उन प्रज्वलित दर्भों पर रखते हैं और फिर महावीर पर घी का लेपन करते हैं। महावीर-पात्र को संकेत द्वारा क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊपर की दिशाओं में प्रतिष्ठित और सुरक्षित घोषित किया जाता है। अब महावीर को दक्षिण-पूर्व की भूमि का स्पर्श कर गार्हपत्य से *अगारों* को लेकर उनसे महावीर को चारों ओर से घेर देते हैं। विकङ्कत की बारह परिधियों को दो-दो के छह युग्मों के रूप में महावीर के चारों ओर लटका दिया जाता है, और महावीर को सर्पि से भरकर तेरहवीं वैकङ्कती परिधि में हिरण्य-शकल बांधा जाता है। इसी स्वर्णयुक्त परिधि से महावीर का मुख अच्छी तरह ढक दिया जाता है। इस समय ऋत्विज और यजमान पाक से पूर्व के उस घृतयुक्त महावीर की उपासना करते हैं।

अब तीन पशों को लेकर महावीर के चारों ओर चारों-चारों से ३-३ बार

---

१ इस अनुच्छेद की समस्त क्रियायें संक्षेप में मा श्रौ सू. (४।२।१-७) के ही अनुसार हैं, क्योंकि इनके लिए संहिता में कोई मन्त्र नहीं है। पर आगामी कार्यों में इन सब क्रियाओं की स्पष्ट अपेक्षा होने से इन्हें यहाँ लेना आवश्यक समझा गया है।

हवा की जाती है. इससे चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। सब ओर आग की लपटों से घिरा हुआ महावीर-पात्र खूब तपने लगता है, और अन्दर का घृत खौलने लगता है। इसी उत्तप्त घृतयुक्त महावीर को 'घर्म' कहा जाता है। ब्रह्मा से अनुज्ञा पाकर अध्वर्यु इस प्रकाशमान घर्म की उपासना करने का प्रैष देता है। सब ऋत्विज और यजमान महावीर के चारो ओर खड़े होकर उसकी विशद स्तुति करते हैं। स्तुति के समय सब महावीर की ओर ही देखते हैं। स्तुति की समाप्ति पर यजमान अपनी पत्नी सहित इस महावीर-पात्र को देखता है।

दूध-दोहन—

अब इस खौलते महावीर-आज्य में डालने के लिये दूध दुहा जाता है।

सर्वप्रथम एक रस्सी को अनुमन्त्रित करते हैं। फिर इडा, अदिति और सरस्वती नामों से पहले तीन बार धीमे स्वर से और फिर उच्च स्वर में गाय को पुकारा जाता है, और उसके आने पर रस्सी से उसकी टांगों को बांधा जाता है। बछड़े को गाय के पास जाने के लिये छोड़ते है, और उस समय उसे अनुमन्त्रित करते हैं। कुछ देर में बछड़े को गाय से पृथक् कर दूध दुहने के लिये बैठते हैं। गाय के थनों का क्रमशः स्पर्श करते हुए उखा-पात्र में दूध दुहा जाता है। इसी समय प्रतिप्रस्थाता दूसरे उखापात्र में अजा को अमन्त्रक ही दुहते हैं।

प्रवर्ग्य बनाना तथा उसे वेदि के निकट लाना—

दोहन के बाद दूध लेकर यज्ञवेदि के पास आते हैं, और अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता अपने-अपने पात्र के दूध को तीन बार करके उस प्रतप्त महावीर में डालते हैं। आज्य और दूध का यह सम्मिश्रण ही 'प्रवर्ग्य' कहलाता है।

अब दो परिग्राहों और एक उपयाम का ग्रहण किया जाता है। परिग्राहों से प्रवर्ग्य-पात्र को दोनों ओर से पकड़ा जाता है, और उपयाम पर पात्र को सरकाकर रखा जाता है। इस प्रकार ऊपर-नीचे और मध्य से पात्र को भली प्रकार पकड़ कर उसे खर-प्रदेश से उठाकर आहवनीयाग्नि के समीप लाया जाता है। लाते समय पात्र को झुलाते हुये और मन्त्र-पाठ करते हुये आते हैं।

रौहिण पुरोडाश का यजन—

अब रौहिण के लिये बनाये गये दो पुरोडाशों की विधिवत् दो आहुतियां दी जाती हैं। एक का सम्बन्ध दिन से है, और दूसरी का रात्रि से।

घर्महोम—

इस पुरोडाश-यजन के बाद अध्वर्यु अपने उत्तर के आसन से उठकर दक्षिण की ओर आता है, और यजमान का आह्वान करता है। पुनः उत्तर की ओर अपने स्थान पर आकर वह और आग्नीध्र आश्रावण-प्रत्याश्रावण करते हैं। होता को घर्म-यजन के मन्त्र-पाठ का प्रैष दिया जाता है। मन्त्र-पाठ के बाद महावीर से

घर्म लेकर प्रथम वषट्कार पर थोड़े से घर्म की और दूसरे वषट्कार पर एक पूर्णाहुति आश्विनो, द्यावापृथिवी और इन्द्र को उद्दिष्ट करके दी जाती है। तत्पश्चात् यजमान से घर्महोम का एक मन्त्र बुलवाया जाता है।

अब प्रतिप्रस्थाता अवशिष्ट दूध को मन्त्रपूर्वक समस्त पोषक शक्तियो के पोषण के लिये महावीर मे डाल देता है। महावीर मे से कुछ घर्म-हवि को इस समय एक उपयाम पात्र मे निकालकर महावीरपात्र को ले जाकर पुन उत्तर के खर-प्रदेश मे रख दिया जाता है।

समिधा होम—

घर्महोम की इस प्रधान-विधि के बाद एक एक करके पाच समिधाओं को उपयाम मे ली गई घर्म हवि मे भिगोकर क्रमश पूषा, प्रवाग, प्रतिरव द्यावापृथिवी और घर्मपायी पितरो को उद्दिष्ट करके अग्नि मे डाला जाता है। छठी समिधा को क्रमशः उपयाम, परिशाहो, स्रुवाओ और महावीर मे भिगोकर रुद्र को लक्ष्य करके उत्तर-पूर्व की ओर फेंक दिया जाता है। इस विशिष्ट समिधा होम के बाद हवि की एक आहुति प्रातःकालीन अग्निहोत्र की तरह दी जाती है।

हवि-भक्षण—

अब ऋत्विज और यजमान इडोपाह्वानपूर्वक घर्म-हवि का भक्षण करते हैं। उसके बाद उपयाम को मार्जालीय मे धोकर सब विधिवत् अपना सम्मार्जन करते हैं।

इसके बाद खर प्रदेश पर रखे गये महावीर के लिए होता को मन्त्र-पाठ का प्रैष दिया जाता है।

पुन पुरोडाश-यजन—

इस हवि-यजन की विधि के बाद रौहिण पुरोडाशो से विधिवत् यजन करते हुए पूर्ववत् दिन और रात्रि के लिये पुन दो आहुतियाँ दी जाती हैं।

घर्मोद्वासन—

अब चौकी को आहवनीय के सामने रखकर उस पर पूर्वविधि से ही तीनो महावीर पात्रो तथा अन्य पात्रो को रखते हैं।[1]

प्रवर्ग्य वाले महावीर के अतिरिक्त शेष दोनो महावीर पात्रों को सर्पि, मधु और दही से भरते हैं। अब दर्भमुष्टियो को जलाते हैं। इन प्रदीप्त दर्भमुष्टियो को क्रमश मुख, नाभि और जानु की ऊँचाई पर लाते हुए इन पर तीन आहुतियाँ दी जाती हैं।

इस संक्षिप्त विधि के बाद उद्वासन की मूल क्रिया प्रारम्भ होती है। इसमे पात्रो की चौकी को आहवनीय के पूर्व से उठाकर उत्तरवेदि के उत्तर मे बनाये

---

१ मा. श्रौ. सू. ४।४।५

गये विशेष स्थल पर ले जाकर रखा जाता है । इस मार्ग को तीन भागों में बाँटकर तय किया जाता है । प्रत्येक भाग में प्रारम्भ में प्रस्तोता को साम-गान का प्रैप दिया जाता है, गान होता है, गान का अन्तिम-अंश सब मिलकर गाते हैं, गाने के बाद सब मिलकर एक मन्त्र का पाठ करते हैं, और भाग के अन्त में पहुँचकर अध्वर्यु एक विशिष्ट मन्त्र का पाठ करता है, जिसमें तीनों भागों को क्रमशः द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी-लोक के रूप में संकेतित किया जाता है । इस प्रकार तीन सामगानों और मन्त्रों के पाठ के बाद पात्रयुक्त चौकी को उत्तरवेदि के उत्तर में लाया जाता है। यहाँ पहुँचकर पहले उत्तरवेदि के एक चतुष्कोण भाग का स्पर्श किया जाता है, और फिर गार्हपत्य तथा आहवनीय वाले दोनों खरों की मिट्टी लाकर इस चतुष्कोण-भाग पर बिछाई जाती है, अवशिष्ट मिट्टी को मार्जालीय तथवा चात्वाल पर डाल देते हैं ।

इस नये खर-प्रदेश पर चौकी रखकर उसके चारों ओर जल से सिंचन किया जाता है, और ऋत्विज तथा यजमान प्रवर्ग्य की सम्मिलित उपासना करते हैं । इस उपस्थान के बाद 'वार्पाहर" साम का गान करवाया जाता है । गान के बाद पुनः सब प्रवर्ग्य की उपासना करते हैं । तत्पश्चात् प्रवर्ग्य की प्रदक्षिणा कर सब लौटने लगते हैं पर लौटने से पूर्व "इष्टाहोत्रीय" साम का गायन होता है और गान के बाद प्रवर्ग्य की प्रसव्य परिक्रमा की जाती है, तब सब लौट आते हैं । वापिस आने पर "श्यैत" साम का गान किया जाता है । उस गान की समाप्ति पर गार्हपत्य में दो आहुतियाँ देकर गार्हपत्य की उपासना की जाती है । अब "वामदेव्य" साम का गान होता है और उसके बाद आहवनीय में आहुति देकर अथवा उसकी उपासना करके पुनः एक आहुति दी जाती है ।

प्रायश्चित्ति-विधान—

यदि घर्म में उबाल आकर हवि पात्र से बाहर गिर जाये, तो मन्त्र विशेष से आहुति दी जाती है । इसी प्रायश्चित के दो अन्य वैकल्पिक मन्त्र भी हैं । यदि महावीरपात्र टूट जाये, तो निर्दिष्ट मन्त्र से उसे पुनः जोड़ा जाना चाहिये, और इस संयुक्त पात्र पर चिकने और जोड़ने वाले पदार्थों का लेपन भी मन्त्रपूर्वक किया जाना चाहिये । यदि महावीर लुढ़क जाये, तो उसे दो विशिष्ट मन्त्रों के पाठ के साथ सीधा किया जाये । घर्म-परिक्रमा में अधिकता या प्रसव्य-परिक्रमा में न्यूनता रह जाने पर निर्धारित दो मन्त्रों में से किसी एक से प्रसव्य-परिक्रमा कर लेनी चाहिये । प्रवर्ग्य-अनुष्ठानकाल में ही सूर्यास्त हो जाने पर गार्हपत्य में एक सौरी मन्त्र से आहुति दी जाती है । चार व्याहृति-मन्त्रों से चार आहुतियाँ देकर अनुष्ठान में रह जाने वाली ज्ञात-अज्ञात समस्त अपूर्णताओं का सामान्य प्रायश्चित कर लिया जाता है ।

दधिघर्म-विधि—

माध्यंदिन सवन[1] में अवशिष्ट दो महावीर पात्रों में भरे दधिघर्म• सर्पि, मधु और दही के पूर्वोक्त सम्मिश्रण से विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है। अनुष्ठान के बाद इडोपाह्वानपूर्वक सब इस हवि का भक्षण करते हैं।

घर्मेष्टका-आधान—

अब आहवनीय में घर्म-हवि को उद्दिष्ट कर बनाई गई "घर्म" नामक इष्टका आधान किया जाता है, और आधान के बाद आरण्य अनुवाकमन्त्रों का पाठ किया जाता है। मन्त्र के अनन्तर उस घर्मेष्टका से उत्पन्न अग्नि का सम्मर्शन करते हैं।

मासुरिगव्य[2]—

जिससे द्वेष करे, उसकी गायों के बीच में जाकर उन्हें बुलाये, और फिर सूर्योदय से पूर्व वहां से निकलकर ग्राम के दक्षिण-पश्चिम में किसी स्वच्छ स्थान पर जाकर प्राकृतिक बजर भूमि पर अग्नि जलाई जाती है। कृष्णा गाय के दूध में काले धानों को पकाकर "स्थालीपाक" नामक हवि बनाते हैं। अग्नि पर समिधा रखकर और अग्नि को समेट कर चारों ओर जल को छिड़कते हैं। अब बाणों से अग्नि को समेट कर चारों ओर जल को छिड़कते हैं। अब बाणों से अग्नि फैलाकर हवि की आहुति दी जाती है। यह विधि पूर्ण करके ग्राम में प्रविष्ट होते समय सर्वप्रथम द्वेषी को देखकर उसके विनाश की भावना की जाती है, और तत्पश्चात् सूर्यदर्शन करते हैं। अन्त में सम्मार्जन होता है।

उपसंहार—

यदि उद्गाता ने सामगान न किया हो तो इस समय अध्वर्यु द्वारा गान किया जाता है।

अब पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और दिशाओं की प्रतीक अश्वत्थ की चार समिधायें ली जाती हैं। इन्हें घी में भिगो-भिगोकर एक-एक करके अग्नि में स्थापित किया जाता है, और फिर यजमान को व्रत प्रदान किये जाते हैं। यजमान समिधाधान और व्रतपालन के समस्त मन्त्रों को आवृत्त करके इन क्रियाओं के कर्तव्य को स्वीकार करता है। अन्त में जलों का स्पर्श करते हुए शान्तिपाठ किया जाता है।

---

१ मा श्रौ सू ४।५।२.

२ यह नाम और इसकी आभिचारिक-विधि मा श्रौ. सू. (४।६) पर मुख्यत आधारित है क्योंकि मै स (४।९।१९-२०) में इस विधि के आहुति और सूर्यदर्शन के मन्त्र ही मिलते हैं।

गोनामिक

काल—

मैत्रायणी संहिता के अनुसार इसके अनुष्ठान का काल रेवती नक्षत्र का समय है।[1] किन्तु मानवश्रौतसूत्र में चित्रा नक्षत्र का भी विधान है।[2]

देवता-हवि—

इसकी देवता विविधरूपा गौ हैं, और हवि आज्य ही है।

यजन-विधि

रेवती अथवा चित्रा नक्षत्र के समय पशुओं की इच्छा रखने वाला यजमान इस याज्ञिक-विधि का अनुष्ठान करता है। इस यजमान के लिये स्रवणशील लोहे के पात्र से हाथ धोने का और जल पीने का निषेध है।

अग्नि-प्रणयन—

सर्वप्रथम प्रातःकाल अपने द्वेषी की गायों के मध्य जाकर उनको गोनामों से पुकारते हैं, और फिर अपने गोष्ठ में सींगों वाली एक गाय को सामने खड़ा करके उसके मस्तक पर तीन आहुतियाँ देते हैं। दूसरे समय-सम्भवतः सायंकाल को-भ्रातृव्य के घर से प्रदीप्त अग्नि को लाकर रात भर उसे प्रज्वलित रखते हुए सूर्योदय तक जागरण किया जाता है।

गो-आनयन—

जब सूर्योदय होने वाला हो, तो पूर्व की ओर झुकी भूमि पर अपने हाथों को धोकर दर्भस्तम्ब पर जल से भरी हुई एक प्याली रखी जाती है, और अपनी सब गायों को वहाँ लाकर उन्हें 'प्रशस्ता, कल्याणी' कहकर सम्बोधित करते हैं। अष्टमी को चौराहे पर एक गाय का आहनन करके जो-जो वहाँ आये, उसे-उसे वह दी जाती है[3]

गायों का संस्थापन और आह्वान—

अब रोहिणी, शितिपृष्ठा, पृषती और सरूपा गायों को एक ओर, बभ्रु, शुद्धवाला, श्वेता और कृष्णा गायों को दूसरी ओर करके बीच में ६-६ के दो समूहों में बारह गायों का रखा जाता है, और बहिष्पवगान, आज्यशस्त्र, माध्यंदिनपवमान और आर्भव-पवमान स्तोत्रों का गान होता है। पर इन स्तोत्रों से पूर्व क्रमशः वसु, इडा, ज्योति और आयु की प्राप्ति के मन्त्र बोले जाते हैं। तत्पश्चात् प्रथम सात देव-गव्य नामों के साथ "अनुप्राणन्तु" जोड़कर गायों का आह्वान किया जाता है, और

---

१ मै. सं. ४।२।६

२ मा. श्रौ. सू. ९।५।५।४

३ मै. सं. (४।२।३) मे अष्टमी को गाय के हनन का ही उल्लेख है, चौराहे और दान देने के निर्देश मा. श्रौ. सू (९, ५, ५।१२) पर आधारित है।

फिर उत्तर सप्त देवगव्य नामो के आगे 'एहि' जोडकर गायो का आह्वान करते हैं। इनके बाद समृद्धिप्रद और पुष्टिकारक मन्त्रों का पाठ होता है।

यदि इडा का आह्वान चुपचाप होता है, तो प्रथम सात देवगव्य नाम बोले जाते हैं, और यदि उच्चस्वर से किया जाये, तो उत्तर सप्त नाम बोले जाने चाहिए। जब घास और औषधी से युक्त प्रदेश मे अथवा पशुओ के पास जाना हो तो 'एहि' से युक्त सात नाम बोले जाते हैं।

स्थालीपाक-यजन और गौ-आवाहन—

जिसकी सात पुष्ट गायें क्षीण हो गई हो, उसके लिये सप्त स्थवीर्य (?) में सात गायों के आज्य और सात गायो के स्थालीपाक बनाकर यजन किया जाता है। इसमें प्रथम सप्त देवगव्य नामो की आहुति देकर उत्तर सप्त नामो का पाठ करते हुये गायों का आह्वान किया जाता है जो और वैश्य या शूद्र बहुपुष्ट हो, उसकी गायों के बीच से युवा साड को हटा दिया जाता है, और उसे अपनी गायो में छोडकर प्रथम सात देवगव्य नामों से उत्तम गायों का आह्वान किया जाता है।

सारस्वत-यजन—

ग्रामकामी और पशुकामी यजमान के लिए सरस्वती देवता के लिए दूध में स्थालीपाक बनाया जाता है। सारस्वत मन्त्रो से इस हवि का विधिवत् अनुष्ठान किया जाता है, और पुनः देवगव्य नामों से गायो का आह्वान करते हैं।

पशुकामी यजमान सब गायों के दूध मे चार तश्तरी चावल पकाकर ब्राह्मणों को देता है। साथ ही वस्त्र और हिरण्य की दक्षिणा भी दो जाती है। अब गायों को मगलकारी नामो से बुलाकर दान मे दे देते हैं। पर यदि यह दान किसी अदानीय को दे दिया जाये, तो मन्त्र-विशेष का जप करना चाहिये।

अनुमन्त्रण-विधि—

उत्पन्न होते पुरुष (सम्भवत गाय के बछडे) स्त्री (बछडी) और बलि लाने वाले को क्रमश अनुमन्त्रित करके सभासदों को भी अनुमन्त्रित करते हैं। अब अपने दोनों पैरों को समेटकर पुन पुरुष और स्त्री को पहले अलग-अलग अनुमन्त्रित करके, फिर दोनो को एक साथ अनुमन्त्रित किया जाता है। अष्टमी पर सबको मिला-जुलाकर पुन इन्हीं मन्त्रों और इसी क्रम से अभिमन्त्रित किया जाता है।

गायों को चिह्नित करना—

अब छह गायों को चिह्न-विशेषों से चिह्नित करते हैं। इन गायों मे वसिष्ठ की स्थूणाकर्णी, जमदग्नि की कर्करिकर्णी, निऋति की छिद्रकर्णी, अगस्त्य की विष्ट्यकर्णी, कश्यप की कम्बुन्युद्धत और इन्द्र की आश्लस्त गायें होती हैं। यश की कामना करने वाला जो दायीं ओर से जाता है, वह दायीं ओर से त्वष्टा के चिह्न से चिह्नित करें, और पशु की इच्छा रखने वाला दोनों ओर जाकर दोनों ओर से गायत्री के चिह्न से तथा प्रतिष्ठा का इच्छुक दोनो ओर आकर दोनो ओर से त्रिष्टुप् के चिह्न

से चिह्नित करे। तत्पश्चात् एक ईख अथवा एक लाल लौह शलाका को जलों में रखकर सब गायों को अक्षय बनाया जाता है।

गायों का पुनरागमन—

अब सायंकाल को पहले लौटकर आती हुई गायों को अनुमन्त्रित करते हैं, और फिर सबको मिश्रित करके अपने सामने की तथा अन्यत्र गई हुई सब गायों को प्राप्त किया जाता है। सबको गोष्ठ में करके एक रस्सी को पूर्व या उत्तर की ओर फैलाया जाता है, और घृतमिश्रित दही से उसे अनुमार्जित किया जाता है। रस्सी का कोई भी भाग रिक्त नहीं छोड़ा जाता है। पशुओं को बाड़े मे प्रविष्ट कराते समय यह ध्यान रहे कि वे एक-दूसरे पर न चढ़ें, गोष्ठ में उन पर वर्षा या धूप नहीं पड़नी चाहिए। अब एक ऋषभ को उन गायों में छोड़ दिया जाता है, छोड़े जाते हुये ऋषभ के कान में एक मन्त्र बोला जाता है।

विशिष्ट आहुतियाँ—

अब पशुकामी एक बहुपुष्ट वैश्य अथवा शूद्र की गायों के २१ गोबरसमूह (—उपले) लाकर २१ आहुतियाँ देता है। इन आहुतियों के बाद सामने जाती हुई गाय को पीछे से पश्चिम की ओर अवस्थित करके उसके जघन-प्रदेश पर देवगव्य नामों से तीन आहुतियाँ दी जाती हैं।

"आकृतिहोम" नामक चार आहुतियाँ पहली बार प्रातःकाल गोष्ठ में गायों के मध्य में, दूसरी बार आहूत गायों के मध्य मे और तीसरी बार संग्राम में दी जाती है। तत्पश्चात् अश्वों को अभिमन्त्रित करते हैं। पशुकामी आज्य की सात अन्य आहुतियाँ भी देता है।

पूर्णिमा, अष्टमी और अमावस के चित्रा एवं अश्वत्थ नक्षत्र के समय गायों का अपाकरण नहीं करना चाहिये।

घृत-लेपन—

सर्वकामदुहा गायविशेष के पैर से क्षरित घृत को लेकर, उस घृत से क्रमशः उसी गाय, श्रोत्रिय, कुमारी और पतिकामा कन्या के मुख का परिमार्जन किया है। और इसके साथ ही "गोनामिक" की यज्ञ विधि सम्पूर्ण हो जाती है।

अग्निचितियाग

काल—

मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में इसके अनुष्ठान काल के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार फाल्गुनी पूर्णिमा को पूर्णमासयाग करके इस याग की अंगविधि वायव्य-पशुयाग करना चाहिए, और आगामी कृष्णपक्ष की अष्टमी को उखापात्र का निर्माण कर आगामी अमावस को

---

१ श. ६।२।२।१७-१९, २३, २६-२९.

इस यज्ञ की दीक्षा ली जाती है। यह दीक्षाकाल वर्षभर चलता है, और अगले वर्ष की फाल्गुनी अमावस को सोमक्रयण कर गोमाहुति आदि विधि सम्पन्न कर यज्ञ का समापन किया जाता है। इष्टका-चयन वर्षभर के दीक्षाकाल के मध्य में भी हो सकता है, अथवा सोमक्रयण और गोमाहुति के बीच के ६-७ दिनों में भी। तैत्तिरीय और काठक संहिताओं मे[1] दीक्षा काल के लिए अनेक वैकल्पिक समय—जो ३ रात्रियों से लेकर वर्ष भर तक भी हो सकता है—का सप्रयोजन उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता[2] मे यह वैकल्पिक समय उख्याग्नि-धारण के लिए निर्दिष्ट है। उख्याग्नि को वर्ष भर तक धारण करने का उल्लेख सर्वत्र है।[3]

मानवश्रौतसूत्र[4] मे केवल उखा-निर्माण का समय वर्णित है कि यह पूर्णिमा, अमावस या कृष्णपक्ष की अष्टमी को बनाई जानी चाहिये। यज्ञतत्त्वप्रकाश[5] के अनुसार पहले अग्निचयन का सङ्कल्प करके सविनादेवता की पहली आहुति देकर उखा-पात्र का निर्माण कर लेना चाहिए, फिर आगामी पूर्णिमा या अमावस को वायव्य पशुयाग का अनुष्ठान करना चाहिये। तदनन्तर वर्ष भर तक नानाविध हजार ईंटें बनाई जाती हैं, और वर्ष की परिसमाप्ति पर वसन्त पूर्णिमा से छह दिन पूर्व एक दिवसीय दीक्षाविधि प्रारम्भ कर क्रमश ५ दिनो तक पाँचो चितियो का चयन किया जाता है, और पूर्णिमा के दिन सोम-सवन के सब कार्य अनुष्ठित कर यज्ञ समाप्त कर दिया जाता है।

किन्तु शतपथ और यज्ञतत्त्वप्रकाश का समस्त समय विधान संहिताओं को भी मान्य है उसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। यदि इस चितियाग को सोम-यागों की उत्तरवेदि के निर्माण के रूप मे ही मान्य करें,[6] तो इसका समय अग्न्याधान की तरह प्रत्येक पूर्णिमा या अमावस भी माना जा सकता है।

देवता-हवि —

अग्निचिति का प्रधान देवता स्पष्टत अग्नि है, और जिन इष्टकाओं से चयन किया जाता है, वे ही यजन की प्रमुख साधन हैं। वैसे इसमे १ इष्टि, २ पशुयाग और ७ मुख्य होमविधियां हैं।

(क) इष्टि —इसमें सिर्फ दीक्षणीयेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें अग्नि-विष्णु, अग्नि-वैश्वानर और आदित्य देवता हैं, जिनकी हवियाँ क्रमशः एकादशकपाल और द्वादशकपाल पुरोडाश तथा चरु हैं।

---

१ तै स ५।६।७, का सं. २१।५.

२ मै स ३।४।६.

३ तै सं. ५।६।५, का. स. २१।३, २२।२३ श ६।७।१।१८-२०.

४ मा श्रौ. सू. ६।१।१.

५ य त प्र, पृ. ६८-१००.

६ इस विषय में विस्तृत विवरण छठे अध्याय के पृष्ठ २८१ से २८३ मे देखिए।

(ख) पशुयाग तीन हैं—

(अ) आग्नेय प्राजापत्य पशुयाग—इसमें चार पशु-अश्व, ऋषभ, वृषा और वस्त अग्नि देवता के, तथा एक अज प्रजापति के लिए होता है। इसके अतिरिक्त अग्नि-वैश्वानर के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि भी होती है।

(आ) वायव्य पशुयाग इसमें नियुत्वान् वायु देवता के लिये श्वेत तूपर की पशु-हवि और प्रजापति के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि होती है।

(इ) पश्वेकादशिनी—इसके ११ देवता और ११ पशुओं का वर्णन अग्निष्टोम की तरह ही है।[१]

(ग) होमविधियां सात हैं—

(अ) शतरुद्रियहोम—इसके देवता रुद्र हैं, और हवि आरण्य अन्न मिश्रित अजाक्षीर की है।

(आ) अग्निवैश्वानरहोम—देवता अग्निवैश्वानर और हवि द्वादशकपाल पुरोडाश है।

(इ) मारुतहोम—मरुतों के सात गण देवता हैं और इनके लिए सप्त कपाल के ७ पुरोडाशों की हवि है।

(ई) वसुधाराहोम—वसुरूप अग्नि देवता है, और आज्य की हवि है।

(उ) वाजप्रसव्य होम—वाज देवता और आज्य हवि है।

(ऊ) राष्ट्रभृत होम—राष्ट्र देवता और आज्य हवि है।

(ए) वातहोम—वायु देवता है, और हाथों से पंखे की तरह झलकर हवा करना ही आहुति है।

"उखा" पात्र को बनाने के लिए मिट्टी लाना—

सर्वप्रथम जुहू को अमन्त्रक ही मांजकर साफ किया जाता है।[२] जुहू में आठ बार घी लेकर उस अष्टगृहीत आज्य से आठ मन्त्रों द्वारा एक सविता-सम्बन्धी आहुति दी जाती है। यदि यज्ञ को यज्ञयश से युक्त करना हो, तो इन आठ मन्त्रों में से अन्त में ऋचा बोलते हैं, और यदि यजमान को यज्ञयश प्राप्त करवाना हो, तो अन्तिम मन्त्र यजुष् होता है।

होम के बाद वेणु या उदुम्बर की बनी व्याम, प्रादेश या अरत्नि परिमाण लम्बी, दोनों सिरों पर धारवाली एक कल्माष अभ्रि लेकर और एक अश्व तथा एक गधे को अभिमन्त्रित कर मिट्टी लेने के लिये यज्ञमण्डप से दूर जप करते हुए जाते

---

१ देखिए इसी अध्याय का पृष्ठ १४७।

२ क्रियाओं का अनिर्दिष्ट कर्त्ता अध्वर्यु है।

हैं।[1] जाते समय अश्व को सबसे आगे रखा जाता है। मार्ग मे यदि कोई व्यक्ति मिल जाये, तो उसे भी अभिमन्त्रित किया जाता है। पहले किसी वल्मीकवपा के पास जाकर वपा को उखाडकर मन्त्र बोलते हैं, इससे अग्निचयन के सम्बन्ध मे प्रजापति को अपना विचार निवेदित किया जाता है। क्योंकि वपा प्रजापति का कान है। वपा-स्थल से मिट्टी खोदने वाले स्थल पर आकर जप किया जाता है। अश्व द्वारा उस खनन-स्थल का अतिक्रमण करवाकर, अश्व को स्थल से परे हटाकर अभिमन्त्रित करते हैं, और खनन-स्थल पर अंकित अश्व के पदचिन्ह पर आहुति देते हैं।[2] खोदने योग्य भूमि के चारो ओर अभ्रि से तीन रेखायें खींचकर मिट्टी खोदते हैं।

अब एक कृष्णाजिन को खननभूमि के निकट बिछाकर उस पर एक पुष्कर पर्ण —कमल के पत्ते – को बिछाते हैं और पुरीष—खोदी गई मिट्टी को इन पर डालते हैं। पुरीष डालने के मन्त्र वर्णानुसार भिन्न-भिन्न हैं। पुरीश को अभिमंत्रित कर खुदी भूमि पर जल छिडका जाता है। पुरीष को अभिमन्त्रित कर उसे बिछे कृष्णाजिन में लपेटकर बांध लेते हैं। बंधे पुराष को उठाकर एक मन्त्र जपते हुए उसे गधे पर रखकर पुनः अनुमन्त्रित करते हैं। इस प्रकार पुरीष को लेकर सब वापिस लौटते हैं। लौटते समय भी अश्व सबसे आगे रहता है, और क्रमश अश्व, गधे और पुरीष को अभिमन्त्रित किया जाता है।

आहवनीय के दक्षिण में एक स्थान विशेष बनाकर उसे चारो ओर से घेर लेते हैं,[3] और वहाँ दर्भ बिछाकर इस लाये गये पुरीष को रख दिया जाता है।

उखा-निर्माण—

अब पुरीष को खोलकर उस पर जल[4] छिडका जाता है। इसमे अज और कृष्णाजिन के लोम शर्करा, बांस के बने कोयले, पुराने टूटे-फूटे कपालों का चूरा और बालू को अच्छी तरह मिलाते हैं।[5] इस सम्मिश्रित पुरीष को अभिमन्त्रित

---

१ य त ब्र (पृ ६६) के अनुसार अध्वर्यु, ब्रह्मा और यजमान जाते हैं।

२ तै. स (५।१।३) और का स (१९।२) मे पद चिन्ह में अग्निरूप हिरण्य रख कर आहुति देने का विधान है। किन्तु मै स (३।१।४) और श (६।३।३। १५-२२) मे अश्व को ही अग्निरूप कहा गया है।

३ मा श्रौ सू ६।१।१।३९-४०

४ मा श्रौ सू (६।१।२।२) और शतपथ (६।५।१।१) मे जल में पलाश की छाल को पकाकर उस पर्णकषाय से मिट्टी को भिगोने का उल्लेख है।

५ मै स (३।१।६) में मिलाये जाने वाले द्रव्यों की सिर्फ संख्या-पांच-का उल्लेख है। तै. स. (५।१।६) और का स (१९।५) के विवरणों में "बांस के कोयले" को छोडकर शेष चारो चीजो के नाम आ जाते हैं। पांचवां नाम मा श्रौ सू (६।१।२।३) में है।

कर यजमान-पत्नी को देते हैं, और उसके द्वारा बनाये जाते पुरीष-पिण्ड को अभिमन्त्रित करते हैं। यजमान-पत्नी तीन उठानों वाले उखापात्र को बनाती है, और प्रत्येक उठान को सम्मार्जित किये जाते समय यजमान उन्हें क्रमशः अभिमन्त्रित करता जाता है। इस उखापात्र का आकार इस प्रकार का होता है जैसे एक पात्र पर दूसरा पात्र रखा हो। ऐसे तीन पात्रों की तरह प्रतीत होने वाली तीन उठानों को ही "त्रियुद्धि" कहते हैं। पात्र की ऊँचाई तीन परिमाणों-व्याम, अरत्नि और प्रादेश में से कोई भी रखी जा सकती है। पात्र के बाहरी भाग में गायत्रीरूप आठ, पृथिवी रूप चार अथवा दो लोकों के प्रतीक दो स्तन बनाये जाते हैं। पात्र के मुख द्वार के पास चारों ओर दो अंगुल की एक रेखा खींचकर उसका एक द्वार-सा बनाया जाता है। उखा को पूरी तरह बनाकर उसे सूखने के लिये[1] अलग रख दिया जाता है। कुछ सूखने पर गार्हपत्याग्नि से अग्नि लेकर घोड़े की लीद द्वारा उखा में सात बार धुआँ देते हैं।

अब गार्हपत्याग्नि के सामने उखा को पकाने के लिये एक गड्ढा खोदकर उखा को उसमें रखा जाता है, और लकड़ी, घास-फूस आदि से गड्ढे को भरकर गार्हपत्याग्नि से उन्हें जलाकर उखा को पकाते हैं। पक जाने पर उखा को गड्ढे से बाहर निकाल कर उसे मित्र[2] को सौंप देते हैं, और उस गर्म उखा पर अजक्षीर का सिंचन कर उसे ठंडा और स्वच्छ बनाते हैं।

इसी विधि से "अषाढा" आदि अन्य इष्टकायें भी बनायी जाती हैं।[3]

दो पशुयाग[4]—

सर्वप्रथम कामरूप अग्नि के लिये अश्व, ऋषभ, वृषा और वस्त को तथा

---

१ तै. सं भा. ६।२६१७.

२ का सं. (१६।७) के अनुसार ब्रह्म मित्र हैं, और श. (६।५।४।१४) में वायु को मित्र कहा गया है।

३ यद्यपि मै. सं. में अलग से इष्टका-निर्माण का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु इष्टका-चयन का सुविस्तृत प्रकरण अपने आप में इनके निर्माण का भी द्योतक है। मा. श्रौ. सू. (६।१।२।१३) और शतपथ (६।५।३।१-४) इसी स्थल पर उखा के साथ-साथ "अषाढ़ा" के निर्माण का स्पष्ट निर्देश करते भी हैं। य. त. प्र. (पृ. ६६)।

४ इन यागों और दीक्षणीयेष्टि का निर्देश मै. स. के ब्राह्मण-भाग (३।१।१०) में ही है, और उख्याग्नि सम्पादन के बाद है। किन्तु तै. सं. (४।१।७-६, ५।१।८-६), का. सं. (१६।८-६) और मा. श्रौ. सू. (६।१।३।१-१६) में इनको उखा निर्माण के बाद इसी क्रम में अनुष्ठित करने का विधान है, और इसी क्रम को युक्तिसंगत

(शेष अगले पेज पर)

प्रजापति के लिये एक अज को लेते हैं। २४ सामिधेनी मन्त्रों और आप्री मन्त्रों के पाठ के बाद "हिरण्यगर्भ" मन्त्रों से एक "आघार" आहुति देते हैं।[5] तत्पश्चात् सब पशुओ के उपाकरण-क्रिया से लेकर पर्यग्निकरण तक की विधि करके प्राजापत्य अज के अतिरिक्त शेष सब पशुओं को छोड़ दिया जाता है। इसी प्राजापत्य अज से इस प्रथम पशुयाग का अनुष्ठान अग्नीषोमीय पशुयाग[2] की तरह किया जाता है। इस याग मे पशुपुरोडाश वैश्वानर अग्नि के लिये बारह कपालों का बनाया जाता है।

इस प्राजापात्य पशुयाग के बाद तेज के इच्छुक यजमान के लिए नियुत्वान् वायु देवता के निमित श्वेत तूपर का यथावत् आलभन किया जाता है। इसमे प्रजापति के लिए द्वादशकपाल पशुपुरोडाश बनाते हैं। शेष सब विधि पूर्ववत् है।

दीक्षणीयेष्टि—

अब सोमयागीय "अग्निष्टोम" की तरह ही दीक्षणीयेष्टि का यजन कर यजमान को दीक्षित किया जाता है।[3] इस इष्टि मे मूल दो हवियो के अतिरिक्त अग्नि-वैश्वानर के द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि का विशेष विधान भी है। दीक्षाकाल एक रात्रि से लेकर वर्ष भर तक का हो सकता है।[4]

उख्याग्नि-सम्पादन—

दीक्षा समाप्ति के बाद आह्वनीय के पास आकर सर्वप्रथम छह सामान्य और सातवीं पूर्ण आहुति दी जाती है।

अब उखा मे शीघ्र आग पकड़ने वाली कुछ वस्तुयें—यथा, सूखे तिनके, मूँज आदि—भरकर[5] उखा को आहवनीय पर इतना तपाते हैं कि भीतर की वस्तुयें अपने आप जल उठती हैं। इसी प्रकार उखा मे अग्नि को उत्पन्न करना "उख्याग्नि

(पिछले पेज का शेष)
मानकर स्वीकार कर लिया है, क्योंकि उख्याग्नि-सम्पादन से पूर्व ही दीक्षणीयेष्टि का स्थान उचित प्रतीत होता है। और म त प्र (पृ ९९) में भी वायव्य पशुयाग का स्थान दीक्षणीयेष्टि से पूर्व ही वर्णित है। यद्यपि इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मैत्रायणी-सम्प्रदाय में ब्राह्मण क्रम ही मान्य रहा होगा। इस सम्भावना को इस आधार पर पुष्ट भी किया जा सकता है कि तै सं (५।१।८) में वायव्य पशुयाग का इस स्थल पर उल्लेख नहीं है, और श (६।१।) मे यहाँ सिर्फ दीक्षणीयेष्टि का निर्देश है।

५ सामिधेनी, आप्री और हिरण्यगर्भ मन्त्रों के इस क्रम के स्वीकरण के लिए देखिए अध्याय "तीन" के पृष्ठ ३२ से ३८ तक
२ देखिए इसी अध्याय के पृष्ठ १२१ से १२४ तक
३ देखिए „ „ ११८ से १२० तक
४ तै स ५।६।७, का स २१।५, श ६।२।२।२८
५ मा श्रौ सु ६।१।३।२३

का सम्पादन करना है ।[1] इस स्वतः प्रदीप्त अग्नि में क्रमशः क्रमुक, उदुम्बर, विकंकत, विना परशु के तोड़ी गई शमी और उदुम्बर, अश्वत्थ, परशुव्रणरहित शमी, उदुम्बर की दो अन्य और एक सामान्य-इस तरह कुल १० समिधायें रखी जाती हैं, यदि शत्रुनाश का अभिचार करना हो, तो तिल्वक की समिधा भी रखी जाती है। अन्तिम दो औदुम्बरी समिधायें रखते हुए दो मन्त्र यजमान से बुलवाये जाते हैं, जिनसे क्षत्र को ब्रह्म द्वारा परिमार्जित और पोषित किया जाता है ।

उख्याग्नि-धारण—

अब यजमान के गले में २१ निर्वाधों वाले एक रुक्म-सूत्र को इस तरह वांधा जाता है कि निर्वाधों वाला भाग वाहर की ओर रहे । उख्याग्नि को छह डोरों वाले एक छींके में रखकर छींके की रस्सी को भी यजमान के गले में वांध दिया जाता है । यह ध्यान रखते हैं कि उख्याग्नि नाभि से ऊपर रहे । इस उख्याग्नि को धारण करवाते समय अग्नि के सुपर्ण, गरुत्मान्, त्रिवृत् के सिर, गायत्री के चक्षु, वृहत् व रथन्तर साम के पक्षों, स्तोम की आत्मा और छन्दों के अंग वाले रूप का ध्यान कराने वाले एक विकृति-मन्त्र का जप करते हैं । इस उख्याग्नि-धारण का समय भी तीन रातों से लेकर वर्ष भर तक का हो सकता है । धारण-काल की समाप्ति पर यजमान को अजेय-स्थिति को प्राप्त कराने के द्योतक चार कदम चलाते हैं । इन कदमों-क्रमों-को "अनपजय्य" कहते हैं । तत्पश्चात् प्रदक्षिणा कर लौट आते हैं, और तब छींके के पाश को खोलकर उख्याग्नि को अभिमन्त्रित करते हैं । उख्याग्नि को यजमान के गले से उतारकर एक चौकी पर रख देते हैं, और उसकी उपासना करते हैं ।

उख्याग्नि की भस्म को वहाना और उसका पुनःस्थापन—

अगले दिन[2] मालन्दन के सुपुत्र वत्सप्री ऋषि द्वारा पठित "वात्सप्री" नामक सूक्त से उख्याग्नि की यथोचित उपासना करते हैं । अब उख्याग्नि की राख को जल में वहाने के लिए उख्याग्नि को चौकी से उठाकर एक गाड़ी पर रखकर[3] यज्ञ-मण्डप के निकटवर्ती किसी जलाशय की ओर ले जाते हैं । जाते समय आवाज करते हुए या निकलने वाले अक्ष को अनुमन्त्रित कर शान्त करते हैं । जलाशय के समीप पहुँच कर यजमान के वर्णानुसार अलग-अलग मन्त्र द्वारा उख्याग्नि में एक समिधा रखते हैं, और फिर "राख" को पात्र में से निकालकर जल में प्रवाहित कर देते हैं । वापिस लौटकर उख्याग्नि को यथास्थान रखकर उसकी पुनः उपासना की जाती है ।

---

१ इस अग्नि को जलाने के अन्य काम्य प्रयोग मै. सं. (३।१।६) में वर्णित है ।

२ मै. सं. (३।२।२) में वर्णित है कि जिस दिन क्रमों को चलाये, वात्सप्री-सूक्त का पाठ उससे अगले दिन हो ।

३ मा. श्रौ. सू. ६।१।४।२८, तै. सं. ५।२।२.

गार्हपत्य-चयन

गार्हपत्य-चिति के चयन के लिए व्याममात्र-९४ अंगुल-के उपयुक्त स्थल का चुनाव करके जगह को साफ करते हैं। स्थान को खोदकर उस पर जल छिड़ककर गार्हपत्यायतन बनाते हैं, और उस पर क्रमश बालू और मिट्टी बिछाते हैं।

इष्टकाधान—

अब इस आयतन के बीचों बीच पूर्वाभिमुखी चार ईंटें समान पंक्ति में, दो ईंटें सामने की ओर दो ईंटें पीछे की ओर समान पंक्तियो मे रखते हैं, और शेष खाली आयतन मे १३ ईंटें अमन्त्रक ही रखकर उसे पूरा किया जाता है। इसी विधि से २१-२१ ईंटो को तीन या पांच स्तरों में रखा जाता है।

इस इष्टकाधान-विधि के बाद उखा की अग्नि को चिति पर डालकर उखा को छीके से अलग कर देते हैं। उखा में अब बालू, दही, घी या शहद भरकर रख देते हैं, क्योंकि उखा को खाली रखने का निषेध है।

नैर्ऋत-इष्टकोपधान—

धान के काले छिलकों से ३ ईंटें बनाई जाती हैं, और ये निर्ऋति के लिए होती है। इसी मे इन्हें "नैर्ऋत इष्टका" कहते हैं। गार्हपत्य-चयन की उपर्युक्त विधि के हो चुकने पर इन ३ ईंटों को लेकर दक्षिण-पश्चिम में किसी प्राकृतिक रूप से विदीर्ण ऊसर भूमि के पास जाते हैं, वहां इन ईंटो को उलटा करके एक दूसरी से दूरी पर रखते हैं। उखावाले खाली छींके को इन्हीं ईंटों पर फेंक देते हैं। ईंटों पर तीन बार जल छिड़ककर एक जल से भरे घडे को लेकर उनकी परिक्रमा की जाती है।

तत्पश्चात् वापिस यज्ञस्थल मे आकर परोगोष्ठ में अपना-अपना सम्मार्जन अमन्त्रक ही करके गार्हपत्याग्नि की उपासना की जाती है।

आहवनीय-चयन

वेदि-भूमि को जोतना-बोना—

अगले दिन[1] सर्वप्रथम आहवनीय-चिति के लिए प्राग्वंश के सामने भूमि को नापा जाता है। ऊर्ध्ववाहु पुरुष की ऊंचाई के परिमाण को एक वेणु-दण्ड से नापते हैं। उस लम्बाई के वेणु से सात पुरुषों के परिमाण की भूमि को पक्षी की आकृति के समान इस प्रकार नापा जाता है कि आत्मा अर्थात् मध्यभाग चार पुरुष परिमाण का, दोनों पक्ष अर्थात् उत्तर-दक्षिण के भाग और पुच्छ अर्थात् पीछे का

---

१ मा. श्रौ सू (६।१।५।२५-२८) मे इस भूमि-मापन से पूर्व क्रमश प्रायणीयेष्टि उपसद्, प्रवर्ग्य और यूपसम्पादन का भी निर्देश किया गया है। किन्तु मै सं. ३।२।४) तै स (५।२।५) और का. स (२०।३) में किसी का भी संकेत नहीं है। श (७।२।२।१-२) में सिर्फ प्रायणीयेष्टि का विधान है।

का भाग १-१ पुरुषपरिमाण का रहे। दोनों पक्षों के एक पुरुष-परिमाण में अरत्नि-मात्र अर्थात् २४ अंगुल भूमि और बढ़ाई जाती है, जो पक्षी के फैले हुए पंखों की प्रतीक है।

इस पक्षाकृति परिमापित भूमि पर हल चलाने का उपक्रम किया जाता है। पहले बैलों से संयुक्त किये जाते हुए हल को अनुमन्त्रित करते हैं। हल में छह बैल जोते जाते हैं। अब मध्य, पक्ष और पुच्छ भाग में ३-३ कुल १२ हल-रेखायें अर्थात् खंड बनाये जाते हैं। कुछ भूमि बिना जोते ही छोड़ दी जाती है। ऊपर उठाये हुए इस हल को फिर अनुमन्त्रित कर पुनः कर्षण किया जाता है। इसके बाद बैलों को अनुमन्त्रित कर उन्हे हल से अलग कर उत्तर-पूर्व की दिशा मे छोड़ देते हैं।

अब घी में मिले हुए सात ग्राम्य और सात आरण्य अनाजों को इस जोती हुई वेदि-भूमि में बोया जाता है। पक्षी के आकार में नापी हुई, जोती और बोई हुई इस भूमि को अग्नि, अग्निक्षेत्र, अग्निवेदि, उत्तरवेदि और पुरुषवेदि के विभिन्न नामों से व्यवहृत किया भी कहा गया है। कभी-कभी इसके मध्यभाग को ही उत्तर-वेदि कहा गया है।

लोगेष्टका और कुम्भेष्टका[1] का आधान—

इस अग्निक्षेत्र से बाहर की चारों दिशाओं से कुछ पत्थर इस क्षेत्र में डाले जाते हैं।[2] इसी प्रक्रिया को लोगेष्टका के आधान का नाम दिया गया है।[3]

तदनन्तर प्रत्येक खंड (हलरेखा) को छूकर इस वेदि में मध्य भाग को शर्क-राओं—छोटे-छोटे कंकड़ों से घेर लेते हैं और बीच में बालू बिछाके उसे फैला देते हैं। अब उत्तरवेदि के पास ले जाई जाती हुई चित्याग्नि के अनुवाक्या मन्त्रों को होता मन-ही-मन बोलता है। पाठ के बाद अश्व को आगे रखकर चित्याग्नि—चयन की जाने वाली ईंटों—को उत्तरवेदि के पास लाते हैं, और अश्व से उत्तरवेदि का अमन्त्रक अतिक्रमण करवाते हैं। इसके बाद अश्व को दूर हटा दिया जाता है।

अब छह कुम्भ और छह कुम्भी—कुल १२ घड़ों को जल से भरकर वेदि के चारों प्रदेशों की बीच की हल रेखा पर एक कुम्भ और एक कुम्भी के युगल रूप दो-दो घड़े तथा मध्य भाग की बीच की रेखा पर दो युगल (चार घड़े) रखे जाते हैं। बारह महीनों के प्रतीक इन बारह कलशों को देखते हुए शान्ति मन्त्र बोलते हैं,

---

१ कुम्भेष्टका के आधान–क्रम के लिये अध्याय तीन के पृ० ३२ से ३६ तक देखिये।

२ इस पत्थर-प्रक्षेप की विधि से पूर्व श. (७।३।१।१-१२) में अग्निष्टोमवत् सोम के खरीदने और आतिथ्येष्टि की विधियों को गार्हपत्य-चयन के बाद और आहवनीयचयन से पूर्व करने का विधान किया जाता है। अन्यत्र ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

३ श. ७।३।१।१३-२५.

और तेरहवें मास के प्रतीक रूप सैवार चरु को बनाकर वेदि के मध्य भाग मे रख दिया जाता है। यह चरु दूध मे बनाया जाता है। कुम्भस्थापन की यही विधि 'कुम्भेष्टका'—कुम्भरूपी इष्टका का आधान करना है।

इस पूर्वोक्त प्रारम्भिक तैयारी के बाद प्रत्येक चिति का चयन प्रारम्भ होता है।

प्रथमचिति

रुक्म आदि नानाविध इष्टकाओ का आधान—

अग्निवेदि के मध्यभाग—उत्तरवेदि पर पडे अश्व के पूर्वोक्त खुर-चिह्न पर एक पुष्करपर्ण—कमल का पत्ता रखते हैं, जिसकी नाभि (मूल भाग) नीचे की ओर रखी जाती है। इस कमलपत्र पर एक सोने का टुकडा रखकर उस टुकडे पर सोने का बना एक पुरुष-सिर रखते हैं। यह हिरण्य पुरुष कहलाता है, और इसका मुख पूर्व की ओर रखा जाता है। हिरण्यपुरुष का अभिमर्शन कर 'सर्पनामो' से इसकी स्तुति की जाती है, और इस पर पाँच बार वैसे ही व्याघारण किया जाता है, जैसे अग्निष्टोम मे उत्तरवेदि की नाभि पर होता है।[1] कार्ष्मर्यवृक्ष की बनी एक स्रुचा को घी से भरकर इस हिरण्यपुरुष के दक्षिण मे और उदुम्बर की बनी दूसरी स्रुचा को दही से भरकर इसके उत्तर मे रखते हैं।

अब इस हिरण्यपुरुष के सिर पर एक हिरण्यइष्टका सोने की बनी ईंट— रखते हैं, और एक स्वयमातृण्णा (-अकृत्रिम छेद वाली) ईंट को अश्व को सुँघाकर सयजुष् बनाकर क्रमश आगे, पीछे और तिरछा घुमाकर 'भू' इस व्याहृति को बोलकर हिरण्येष्टका पर रख देते हैं।[2] अब दाहिनी ओर एक कुलायिनी (-घोसले

---

1 देखिये इसी अध्याय का पृष्ठ १२४

2 मा श्रौ. सू (६।१।७।७-१४, ६।२।१।१०-१६, ६।२।३।१० १३) मे जिस एक मन्त्र (मै. स. २।७।१५।२१२) से (उसे तीन भागो मे विभक्त कर) प्रथम, द्वितीय और पंचम चितियो मे एक-एक हिरण्येष्टका रखने का उल्लेख है, मै स. (३।२।६) में उससे तीन स्वयमातृण्णाओ के ही आधान का व्याख्यान मिलता है। इन तीन स्वयमातृण्णाओ को अलग-अलग चितियों में रखने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु मैत्रायणी सहिता के ब्राह्मण भाग (३।४।७) में आगे चलकर सूत्र की तरह ही हिरण्येष्टका के आधान और तीनो व्याहृतियो से स्वयमातृण्णाओ को रखने का स्पष्ट निर्देश है, यद्यपि चितियो से सम्बन्ध यहाँ भी स्पष्टतया नही बताया है। पर ये स्वयमातृण्णायें जिस तरह लोकों की प्रतीक हैं उसी तरह चितियो का सम्बन्ध भी लोको से है। अत लोकानुसारी इष्टका को तत्सम्बन्धी चिति मे रखना उचित और स्वाभाविक भी है। किन्तु सहिता के मन्त्र के अनुसार इस बात की सम्भावना से भी इन्कार नही किया

(शेष अगले पेज पर)

के समान आकृति वाली) ईंटें, बायीं ओर एक दूर्वेष्टका (-दूब मिली मिट्टी से बनी ईंट), पूर्व में 'वामभृत्, नामक दो ईंटें और इनके सामने दो 'रेतः सिक्' नामक ईंटें पास-पास रखी जाती हैं। यदि यजमान पुत्रवाला होता है, तो एक 'रेतः सिक्' इस प्रथमचिति में और दूसरी पंचमचिति में रखने का विधान है। इन ईंटों के पूर्व में क्रमशः एक ज्योति-धृति, एक विश्वज्योति[1] और एक अषाढा नामक ईंटें लगाई जाती हैं।

कूर्माधान—

इन विविध इष्टकाओं के आधान के बाद एक जीवित कछुवे को मधुमिश्रित दही से तर करके स्वयमातृण्णा के सामने पश्चिमाभिमुख रखते हैं। इसके द्वारा इस जड़—श्मशानचिति को जीवनमय—अश्मशान—चिति बनाया जाता है। ६ अंगुल के एक ऊखल को स्वयमातृण्णा के सामने रखकर उस ऊखल[2] में पहले से ही बालू,

---

(शेष पिछले पेज का)
जा सकता है कि ये अलग-अलग चिति में रखने के बदले एक साथ ही रखी जाती हों। ब्राह्मण का दूसरा वर्णन (मै. स. ३।४।७) परवर्ती परिवर्धन ही प्रतीत होता है। पर यह परिवर्धन सूत्र-निर्देश से इतना साम्य रखता है कि सूत्र के चिति-भेद सम्बन्धी निर्देश को भी ब्राह्मण ने स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है। वा. सं. (१३।१८–१६, १४।११-१२, १५।६३-६४, तथा शतपथ (७।४।२।१-६, ८।३।१।७-१०, ८।७।३।१३-१६) का क्रम भी चिति-क्रम के अनुसार ही अलग-अलग तीनों चित्तियों में एक-एक स्वयमातृण्णा के आधान की पुष्टि करता है। तथा यह उल्लेखनीय है कि सूत्र में ब्राह्मण-निर्देश के विपरीत (पंचमचिति को छोड़कर) शेष दोनों (प्रथम-तृतीय) चित्तियों में स्वयमातृण्णा रखकर हिरण्येष्टका रखने का विधान है।

१ मै. सं. (२।७।१६।२१८, ३।२।७) और मा. श्रौ. सू. (६।१।८।१६. ६।२।१।१७ ६।२।२।८) की स्थिति इन तीन विश्वज्योति नामक इष्टकाओं के सम्बन्ध में भी स्वयमातृण्णा की तरह ही है, और वा. सं. (१३।२४, १४।१४, १५।५८), तथा श. (७।४।२।२५-२८, ८।३।२।१०४, ८।७।३।२०-२२) भी पूर्ववत् इनके मन्त्र तीनों चित्तियों में यथास्थान ही देते हैं। किन्तु यह विशेष उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी संहिता इस प्रथम चिति में "विश्वज्योति" इष्टकाओं के ३ मन्त्र देने के अतिरिक्त पंचमचिति (२।८।१४।३१) में भी इनसे मिलते-जुलते, पर अधिक लम्बे मन्त्रांश देती है। इससे यह सम्भावना भी की जा सकती है कि मैत्रायणी-सम्प्रदाय के अनुसार प्रथम और पंचमचिति में ३-३ "विश्वज्योति" ईंटें रखी जाती होंगी। पर ब्राह्मण भाग पिछली चिति के मन्त्रों के विषय में नितान्त मूक है। अतः निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन भी है।

२ श. ७।५।१।२६.

घी, दही या मधु से भरी उखा को रखा जाता है। उखा पर एक आहुति दी जाती है।[1]

पशुसिरों का आधान—

अब अश्व, ऋषभ, वृषा, अज और पुरुष ये पाँच सिरों को लेकर उनके छिद्रों मुख, नाक, कान आदि—में मधुमिश्रित दही और सोने के कुछ टुकडे भी डाले जाते हैं। टुकड़े डालने के स्थान क्रमश दाया-बाया कान, दायीं-बायी आँख, दाया-बाया नासिकापुट, मुख और गर्दन का कटा स्थल है। इस आपूरण-क्रिया के बाद पुरुषसिर को उखा पर पश्चिमाभिमुख करके रखते हैं, शेष चारो सिरों के मुखभाग को उखा से सटाकर चारों ओर क्रमश सामने, पीछे, दायें और बायें रखते हैं। यदि पशु की इच्छा न हो, तो इन चारों सिरों के मुखभागों को उखा से विपरीत मुख करके रखा जाय। पाँचो स्थापित सिरों की "उत्सर्ग" मन्त्रों से उपसना करके समस्त दु ख कष्ट को ग्राम्य पशुओं के बदले आरण्य पशुओं में जाने की प्रार्थना की जाती है। अब पुरुष सिर पर दो आहुतियाँ देते हैं। इन पशुसिरो और स्वयमातृण्णा के बीच में से आने-जाने का निषेध है। यदि असावधानी से चला जाये, तो मन्त्र-जप द्वारा प्रायश्चित करना है।

पुरुषचिति[2]—

अब उत्तरवेदि के उत्तरी स्कन्ध पर[3] पुरुषचिति की ईंटें रखी जाती हैं। ३६ ईंटों को क्रमिक रूप से रखते है। ३-३ ईंटों को एक साथ रखा जाता है।

अपस्या आदि अन्य इष्टकाओं का आधान—

अब मृत पशुओं में जल तत्व की स्थापना के लिए[4] रेतस् रूप "अपस्या" नामक १५ ईंटो को क्रमश सिरों के पूर्व में पश्चिमाभिमुखी ५, दक्षिण में उत्तराभिमुखी ५, और पश्चिम में पूर्वाभिमुखी ५ ईंटें रखकर,[5] उत्तर मे "छन्दस्या" नामक पाँच ईंटें रखी जाती हैं जो पशुओं की अथवा मास-रोम[6] आदि की प्रतीक है। प्राणों के आधान के लिए 'प्राणभृत्' नामक ५० ईंटों को चारो दिशाओं में एक-दूसरे को काटती

---

१ मैं स (२।७।१७।२३५-२६६) के मन्त्रों की यह विनियोग क्रिया श (७।५।१। ३२-३३) और तैं स भा (६।२०।१८) से स्पष्ट है।

२ इस चिति के मन्त्र मैं स (२।१३।१४) में होने के कारण इसका क्रम मा श्रौ. ६ के अनुसार लिया गया है। देखिये तीसरे अध्याय पृ० ३२ से ३८ तक। संहिता का अव्यवस्थित ब्राह्मण-भाग (३।५।१) भी सूत्र-क्रम की पुष्टि करता है।

३ मा. श्रौ. सू ६।१।८।१.

४ श ७।५।२।४०

५ का. स २०।६ मे ईंटों के इस आधान का विस्तृत वर्णन है।

६ श. ७।५।२।४२-४४.

हुई तिरछी (क्रास) रेखा में और मध्यभाग में सरल रेखा में रखते हैं। रखने का तरीका यह है कि दस ईंटों को तिरछी रेखा[1] में वेदि के दक्षिणी अंश से मध्यभाग के केन्द्र तक, दस को बायीं श्रोणी के सिरे से शुरू करके केन्द्र तक रखते हैं और इसी तरह दक्षिणी श्रोणी और बायें अंश से लेकर केन्द्र तक दस दस ईंटें रखी जाती है।[2] इसी विधि से "संयत" नामक ५० ईंटें भी रखते हैं। इनका प्रयोजन रेतस् का संयमन करना है। ऋतुओं की सम्यक् स्थिति के लिए अवका बिछाकर वसन्त ऋतु-सम्बन्धी २ "ऋतव्य" नामक ईंटों को रखते हैं।[3]

चिति-उपसंहार—

अब "लोकम्पृणा" नामक ईंटों से समस्त खाली स्थान को भर दिया जाता है। यहाँ प्रथम चिति का कार्य पूर्ण हो जाता है। अन्त में चिति का अभिमर्शन कर चिति पर एक आहुति देते हैं। आहुति को अनुमन्त्रित कर पुरीष से चिति को ढक दिया जाता है।[4]

द्वितीय-चिति

अगले दिन[5] एक हिरण्यशकल रखने के बाद[6] 'आश्विनी" नामक ५ ईंटो को अग्निक्षेत्र के पाँचों प्रदेशों-सामने का भाग, दो पक्ष, एक पुच्छ और आत्मा-मध्य भाग-में दिशानुसार रखकर द्वितीय चिति का कार्य प्रारम्भ किया जाता है। अश्विनी देवों के चिकित्सक हैं। अतः इन इष्टकाओं के आधान से यज्ञ की विच्छिन्नता, न्यूनता आदि दोषों को दूर किया जाता है।

---

१ तै. सं. भा. ६।२८५५.

२ इन ईंटों के आधान का स्वरूप वस्तुतः गुणा और घटान के चिन्हों का सम्मिश्रित रूप प्रतीत होता है।

३ ऋतु सम्बन्धी सभी मन्त्र मै. सं. २।८।१२) में पंचमचिति में ही आते हैं। किन्तु ब्राह्मण-भाग (३।३।३) में मा. श्रौ. सू. (६।१।८।७) के निर्देशानुसार ही समस्त चितियों में इनके आधान का स्पष्ट उल्लेख है। वा. सं. (१३।२५, १४।६, १४।१५-१६, १४।१७) में तो ऋतु सम्बन्धी मन्त्र प्रत्येक चिति में यथास्थान ही उपलब्ध है। तै. सं. (५।४।२) और का. सं. (२१।३) में भी ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन इष्टकाओं का क्रम सूत्रानुसारी ही रखा है।

४ अभिमर्शन से आच्छादन तक की पाँच क्रियायें मन्त्र क्रमानुसारी न होकर सूत्रानुसारी हैं इसका स्पष्टीकरण तीसरे अध्याय के पृ० ३२ से ३८ तक में देखिये।

५ मा. श्रौ. सू. (६।२।१।१-२, ८-९, २२-२३, २८-२९) प्रत्येक चिति के चयन के बाद शाम को और अगले दिन चिति-चयन से पूर्व प्रवर्ग्य-उपसद् के अनुष्ठान का निर्देश देता है। अन्यत्र-संहिताओं या शतपथ ब्राह्मण में ऐसा कोई निर्देश नहीं है।

६ मै. सं. ३।२।६।

इसके बाद सब ऋतुओ मे रेतस्-सेचन के लिए[1] "ऋतव्या", वायु को सर्वऋतुगामी बनाने के लिए "वायव्या", और वृष्टि-प्राप्ति के लिए "अपस्या" नामक ५-५ ईंटों को क्रमश पाँचो प्रदेशों में एक एक करके रखा जाता है। वीर्ययुक्त पशु-प्राप्ति के लिए "वयस्या" नामक १९ ईंटों मे से ४ को अग्निक्षेत्र के पूर्व-भाग में और शेष चारों प्रदेशो के सन्धिस्थलों पर ५-५ ईंटें रखी जाती है। ग्रीष्म ऋतु की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ववत् अवका बिछाकर दो "ऋतव्या" इष्टकायें रखते हैं।

द्वितीय-चिति का कार्य इतना ही है। शेष चिति को अन्य ईंटों से पूरना, अभिमर्शन, होम, होमानुमन्त्रण और पुरीषाच्छादन के कार्य पूर्ववत् किये जाते हैं।[2]

तृतीय-चिति

अगले दिन अन्तरिक्ष लोक की प्रतीक तृतीय-चिति का कार्य किया जाता है।

सर्वप्रथम प्रथमचिति की तरफ एक हिरण्येष्टका रखकर उस पर अन्तरिक्ष रूप स्वमातृण्णेष्टका रखी जाती है। तत्पश्चात् सामने एक "विश्वज्योति" नामक[3] इष्टका को रखकर दिशाओ की स्थिरता के लिए "दिश्य" नामक ५ ईंटो को वेदि के पाँचों प्रदेशों में, दस इन्द्रियो की प्रतीक दस "प्राणभृत्"[4] ईंटों को वेदि के पूर्वार्ध मे स्वाराज्य और पशु-प्राप्ति के लिए 'छन्दस्या" नामक[5] ३६ ईंटो को १२-१२ करके दक्षिण, पश्चिम, उत्तर के पक्ष-पुच्छ के तीनों सन्धिस्थलो मे रखा जाता है। उत्तर-प्राणों की स्थिरता के लिए "आदित्यधाम" नामक सात ईंटें पूर्व मे और अधर-प्राणों की स्थिरता के लिए "अंगिरोधाम" नाम सात ईंटें पश्चिम मे रखी जाती हैं। अन्त मे वर्षा और शरद् ऋतुओ की प्रतिष्ठा के लिए इस चिति मे चार "ऋतव्या" ईंटें रखते हैं।

तृतीय-चिति के इस विशिष्ट कार्य के बाद चिति को पूरने आदि के समस्त कार्य पूर्ववत् हैं।

---

१ तै. स ५।३।१, वा. स. २०।१०, श. ८।२।३।४-६।

२ मा. श्री सू. ६।१।८।११-१६, मै. स ३।४।७।११.

३ वा. स (१४।१४-१६, श ८।३।१।११-१३ "दिश्या" इष्टकाओं के बाद "विश्वज्योति" इष्टका को रखने का मन्त्र देती है। इस इष्टका के आधान-काल के लिये इसी अध्याय के पृष्ठ २०५ की टिप्पणी देखिए।

४ मै स. (३।२।६) मे इन ईंटो का नाम नहीं है। यह तै स (५।३।२) और श (८।३।२।१४) मे वर्णित है।

५ यह नाम भी सिर्फ शतपथ ८।३।३।१-२) मे है।

चतुर्थ-विधि

अगले दिन हिरण्यशकल रखने के बाद "अक्षणयास्तोमीय"[1] नामक २० ईंटों के आधान से चतुर्थ--चिति का आरम्भ किया जाता है। अन्न, ओज आदि की प्राप्ति के लिए ये ईंटें १-१ करके चार चक्करों में वेदि में क्रमशः पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम और मध्यभाग में ४-४ रखी जाती है। इसके बाद इन्हीं पांचों प्रदेशों में दो चक्करों में समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली "स्पृत्" नामक दस ईंटें रखते हैं। कामनानुसार निर्माण की क्षमता देने वाली "सृष्टि" नामक १७ ईंटों को मध्यभाग में रखा जाता है। प्रकाश-प्राप्ति के लिये "व्युष्टी" नामक १५ ईंटों को वेदि के पांचों प्रदेशों में ३-३ की संख्या में रखा जाता है।[2] अन्त में हेमन्त-ऋतु की प्रतिष्ठा के लिये दो "ऋतव्या" ईंटें रखते है।

आपूरण आदि शेष कार्य यथापूर्व हैं।

पंचमचिति

अगले अर्थात् चिति के अन्तिम दिन भ्रातृव्यनाश के प्रयोजन से "असपत्न" नामक ५ ईंटों को एक-एक करके क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और मध्यभाग में रखकर पंचमचिति के कार्य को प्रारम्भ किया जाता है। अब प्राणियों में वाणी के आधान के लिए "विराट्" नामक ४० ईंटों को १०-१० की संख्या में वेदि के चारों कोष्ठकों में रखते हैं। यज्ञ की सम्यक् ऊर्ध्व स्थिति के लिये "स्तोमभाग" नामक ३३ ईंटों को प्रदक्षिणापूर्वक क्रमशः चारों दिशाओं में ७-७ और मध्यभाग में ५ की संख्या में रखते हैं। सुखप्राप्ति रूप "नाकसद्" नामक ५ ईंटें चारों दिशाओं और मध्यभाग में एक-एक रखकर इन्हीं पर स्वर्ग की सम्यक् प्राप्ति के लिए "पंचचूड़" नामक ५ ईंटें रखी जाती हैं। प्रजाओं को वशवर्ती बनाने के लिए "क्लृप्ती" नामक ५ ईंटें वेदि के सिर, दोनों पक्षों, पुच्छ और मध्यभाग में एक-एक रखी जाती हैं। शिशिर ऋतु की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ववत् अक्का बिछाकर दो "ऋतव्या" नामक ईंटें रखते हैं। अन्नप्रदा दृष्टि की प्राप्ति के लिए "वृष्टिसनी" नामक ५ ईंटें वेदि के पांचों भागों में एक-एक रखते हैं। "संयानी" नामक दस ईंटों

---

१ यह नाम तै. सं. (५।३।३) और का सं. (२०।१३) में उपलब्ध है। तै. सं. (५।३।३) के अनुसार असुर इन ईंटों के आधान क्रम को न जानें, इसलिए ये ईंटें मन्त्राशों को उलट-पुलटकर रखी जाती है। इसी कारण इनका यह नाम-करण किया गया है।

२ इन इष्टकाओं के क्रम के लिए देखिए तीसरे अध्याय के पृष्ठ ३२ से ३८ तक मा. श्रौ. सू. (६।२।१।२६) और तै. सं. (४।३।११) का क्रम अधिक समान है।

को पाँचो भागों में दो-दो करके रखा जाता है।[१] "वाक्"[२] नामक सात ईंट पूर्वार्द्ध मे रखते हैं और "आदित्य" नामक[३] दस ईंटो को दो-दो करके वेदि के पाचों प्रदेशों के सन्धि स्थलों में रखते हे।

अब "मण्डला" नामक ३ ईंटें रखी जाती हैं।[४] इसके पास "विश्वज्योति" नामक तीन ईंटें रखते हैं।[५] वेदि के सामने वाले भाग मे "सतती" नामक[६] नौ ईंटों को पश्चिमप्राभिमुख करके रखा जाता है। ऋक् आदि सम्बन्धी दस ईंटो को पक्ष-

---

१ "संयानी" नाम तै स (५।३।१०) और मा. श्रौ सू (६।१।८।६) आता है। सूत्र के अनुसार इन दस ईंटों को प्रत्येक चिति मे दो-दो की सख्या मे रखा जाता है। किन्तु मैत्रायणी सहिता का ब्राह्मण-भाग (३।३।१) इन ईंटो का कोई उल्लेख नही करता है।

२ यह नाम मा श्रौ सू (६।२।२।१०) मे है। मैत्रायणी सहिता का ब्राह्मण-भाग (३।३।१) इनके विषय मे भी चुप है। तै स. (५।३।६) मे इनका नाम "कृत्तिका" है।

३ मैत्रायणी सहिता का ब्राह्मण (३।३।१) इनका भी कोई उल्लेख नही करता है। "आदित्य" नाम मा श्रौ सू (६।२।२।११) और तै स (५।३।१०) मे है।

४ इन ३ ईंटो के मन्त्रों की स्थिति भी "विश्वज्योति" और "स्वयमातृण्णा" ईंटों के मन्त्रों की तरह है। मैत्रायणी सहिता (२।८।१४।३१) मे ये तीन मन्त्र पचम-चिति मे एक साथ है। किन्तु मा श्रौ सू (६।१।७।१४, ६।२।१।६, ६।२।२।१२) मे इन्हे क्रमशः प्रथम, तृतीय और पचमचिति मे एक-एक करके रखने का निर्देश दिया गया है। सहिता का ब्राह्मण भाग इन इष्टकाओ के विषय मे भी कोई सकेत नही देता है। तै स. (५।३।६) इसका व्याख्यान करती है, पर तीनो चितियो का कोई उल्लेख नहीं है। वा स मे इस इष्टकाधान का कोई मन्त्र नही है।

इसका नाम सम्भवत ईंट की गोलाकार आकृति के कारण रखा गया है।

५ इस सम्बन्ध मे देखिए इसी अध्याय के पृष्ठ २०५ की टिप्पणी २।

६ यह नामोल्लेख मा श्रौ सू (६।२।२।१७) मे ही है। इन ईंटो से लेकर नक्षत्रे-ष्टकाओं के आधान तक की समस्त प्रक्रिया मा श्रौ सू (६।२।२।१७-२१, ६।२।३।१-८) के अनुसार वर्णित है। यद्यपि वही प्रक्रियायें ली गई हैं, जिनके मन्त्र मै. स (२।१३) में हैं, जिसे अग्निचिति का पूरक परिशिष्ट कहा जा सकता है।

पुच्छ आदि के सन्धि-स्थलों पर दो-दो करके रखते हैं, "अथर्वशिरस्" नामक[1] पाँच ईंटें एक-एक कर पाँचों प्रदेशों में रखी जाती है वेदि के पूर्वार्ध में दस ईंटें और भी रखी जाती हैं।

ऋद्धि-प्राप्ति के लिये 'छन्दोचिति" की ३३ इष्टकाओं का आधान किया जाता है। इस चिति में क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती, अनुष्टुब्, पंक्ति, बृहती, उष्णिक्, ककुभ्, विराट् और द्विपदा मन्त्रों से तत्तत् नामक ३-३ ईंटों को वेदि के पक्ष-पुच्छ आदि के सन्धि स्थलों में रखा जाता है। इस छन्दोचिति के वाद साम इष्टकाओं का आधान किया जाता है। इनमे "महाव्रत" नामक[2] ३ ईंटों को वेदि के सिर में, "रथन्तर" नामक ३ ईंटो को दक्षिणपक्ष के दायें सिरे, मध्यभाग और सन्धिस्थल पर; "बृहत्" नाम की ३ ईंटों को उत्तरपक्ष के बायें सिरे, मध्यभाग और सन्धि स्थल पर; 'वामदेव्य" की ३ ईंटों कोआत्मा-वेदि के मध्यभाग में और यज्ञायज्ञिय की तीन ईंटों को पुच्छ के पिछले, मध्य और सन्धि-स्थल पर रखते हैं। पूर्व की ओर सात और ऋतव्या[3] ईंटें रखी जाती हैं, और १६ ईंटों को २-२ की संख्या में आठ सन्धिस्थलों पर रखा जाता है। पूर्वभाग के सन्धि-स्थल को छोड़कर शेष तीनों सन्धिस्थलों और मध्यभाग में "उपशीवरी" नामक १२ ईंटें ३-३ की संख्या में रखते हैं।

"इन्द्र" नाम वाली[4] १२ ईंटों को चारों सन्धिस्थलों पर ३-३ की संख्या में रखते हैं। अग्नि की सम्यक् प्रतिष्ठा के लिये "पंचापचीन" नामक २० ईंटों को दक्षिण की ओर से प्रारम्भ करके चारों सन्धि-स्थलों पर ५-५ की संख्या में रखा जाता है। "ज्योति" नामक १४ ईंटों को क्रमशः चारों सन्धि स्थलों पर ३-३ और मध्यभाग में २ रखते हैं। २६ "नक्षत्र" इष्टकाओं को पूर्व में पश्चिमाभिमुख करके रखा जाता है। इसके वाद चिति के रिक्त स्थानों को पूर्ववत् भर दिया जाता है।[5]

पंचमचिति की इस आधान-प्रक्रिया के अन्त में एक हिरण्येष्टका रखकर, उस पर आयु की प्रतीक एक "वायव्या"[6] नामक इष्टका और प्राण तथा द्युलोक

---

१ इन ईंटों का एकमात्र यह नाम तै. ब्रा. भा. (१।२६७) में ही मिलता है, अन्यत्र कहीं नहीं।

२ यह नाम सिर्फ मा. श्रौ. सू (६।२।३।१) में है।

३ यह नाम तै. सं. (५।३।११) और मा. श्रौ सू. (६।२।३।२) के अंग्रेजी अनुवाद (पृ० २१०) में मिलता है।

४ मा. श्रौ. सू. (६।२।५) के अंग्रेजी-अनुवाद (पृ० २११) में यह नाम है।

५ ,, ६।२।३।१०।

६ तै. सं. (५।३।७), का सं. (२१।३) और श. (८।१।७।६।११) में इस इष्टका नाम "विकर्णी" है। तै. सं. मा. (६।२६७७) में स्पष्ट किया गया है कि जिस ईंट का एक भाग कान की तरह ऊपर को उठा हुआ और कटा-फटा सा हो, वह "विकर्णी" है।

की प्रतीक एक स्वयमातृण्णेष्टका को एक साथ रखकर मानों आयु और प्राण को संयुक्त किया जाता है।[1] इसके बाद समस्त चिति को पुरीष से ढककर पूर्ववत् अभिमर्शन आदि क्रियायें की जाती हैं।

प्रथम बार अग्निचयन करने वाला जानुदघ्न-जंघा के बराबर ऊँचाई वाली चिति का, दूसरी बार करने वाला नाभिदघ्न और तीसरी बार चिबुकदघ्न तक की चिति का चयन करे। इससे उत्तरोत्तर अधिक समृद्धि को प्राप्त कर सकता है।

अब समस्त चिति पर सोने के हजारों टुकड़े फैलाकर अग्निवेदिका को प्रोक्षित किया जाता है। यह क्रिया ही इस वेदि पर "ज्योतिष्मती" इष्टकाओं का आधान करना है। इससे स्वर्ग लोक का पथ प्रकाशित किया जाता है। अन्त में यजमान मन्त्र जपता हुआ समस्त वेदि की परिक्रमा करता है, और इसके साथ ही अग्निचितियाग की चयन सम्बन्धी विधि सम्पूर्ण हो जाती है।

चयनोत्तर-विधि

शतरुद्रियहोम—

पाँचों चितियों के चुन लिये जाने पर अन्तिम ईंट पर रुद्र-देवता के मन्त्रों से दी जाने वाली छह आहुतियों को "शतरुद्रियहोम" कहते हैं। गवीधुक् और सत्तुओं को बकरी के दूध में मिलाकर अर्कपर्ण-आक के पत्ते से ये आहुतियाँ दी जाती हैं। पहले आरोह के क्रम से क्रमशः दक्षिणाभिमुख होकर जानु तक की ऊँचाई से पहली आहुति, उत्तराभिमुख होकर नाभि तक की ऊँचाई से दूसरी और पूर्वाभिमुख होकर मुख तक की ऊँचाई से तीसरी आहुति दी जाती है। इसी प्रकार विपरीत क्रम से अर्थात् मुख, नाभि और जानु की ऊँचाई से प्रत्यवरोह की ३ आहुतियाँ दी जाती हैं। इस होम से चयनप्रक्रिया द्वारा उत्पन्न अग्निरूप रुद्र को उसका अभीप्सित भाग देकर सन्तुष्ट किया जाता है। आहुतियों के बाद आक के पत्ते को ऐसे प्रदेश में फेंका जाता है, जहाँ आवागमन निषिद्ध हो, अथवा जहाँ शत्रु के पशु विचरते हों।

अग्निचिति का अभिसिंचन और साम गान—

अब एक घड़े में से जल को छिड़कते हुए तीन बार और तीन बार ही बिना जल छिड़के समस्त अग्निवेदिका की प्रदक्षिणा की जाती है। जब अभिचार करना अभीष्ट होता है, तब इसी मन्त्र का पाठ करते हुए जल-सिंचन किए बिना परिक्रमा करके घड़े को वेदि की दक्षिणा श्रोणी पर फोड़ दिया जाता है।

इस परिक्रमा के बाद क्रमशः अग्निवेदि के सिर पर आग्नेयपावमान साम, दक्षिणपक्ष पर रथन्तर, उत्तरपक्ष पर बृहद्, मध्यभाग पर वामदेव्य, पुच्छ भाग पर

---

१ हिरण्येष्टिका और स्वयमातृण्णेष्टका के लिए इसी अध्याय के पृष्ठ २०५ की प्रथम टिप्पणी भी देखें।

यज्ञायज्ञिय और दक्षिण वक्ष में प्रजापति के ऋक् रहित हृदय सामों का विधिवत् गान करवाया जाता है।

वेदि-कर्षण—

एक जीवित मेढ़क, वेतस की एक शाखा और कुछ अवका (—काई) को एक बाँस में बाँधकर[1] पश्चिमाभिमुख रहते हुए इनसे सारी अग्निचिति पर विकर्षण किया जाता है। यह विकर्षण-क्रिया तब तक की जाती है, जब तक मेढ़क का प्राणान्त न हो जाये। अनुपजीवी मेढ़क के इस बलिदान से ग्राम्य और आरण्य पशुओं को वरुणपाश में आबद्ध अग्नि की हिंसा से बचा लिया जाता है, और काई-वेतस के प्रयोग से अग्नि को जल और अन्न के द्वारा शान्त कर दिया जाता है, क्योंकि काई जल की प्रतीक है, और वेतस-शाखा जल और अन्न दोनों की।

वेदि पर आरोहण-व्याघारण—

अगले दिन[2] सर्वप्रथम अग्निवेदि पर चढ़कर[3] पंचगृहीत आज्य में सोने के टुकड़े डालकर, इस हिरण्यमिश्रित आज्य से स्वयमातृण्णा पर पांच बार व्याघारण किया जाता है। इस स्रुचा में मधुमिश्रित दही लेते हैं, और एक बड़ी-सी दर्भमुष्टि को उस दही में भिगो-भिगोकर समस्त अग्निवेदि पर दही का छिड़काव-सा करते हैं। इसके बाद वेदि पर से उतर आते हैं।

वेदि पर अग्नि-स्थापन—

अब आहवनीय में पापरूप वृत्र से मुक्ति के लिये चतुर्गृहीत आज्य से विश्वकर्मा के लिये एक और षोडशगृहीत आज्य से दो आहुतियां दी जाती हैं। घी से भीगी ३ औदुम्बरी समिधाओं का आधान करके अग्निचिति पर प्रतिष्ठित करने के लिये अग्नि को उठाकर चलते हैं। ब्रह्मा अध्वर्यु के दायीं ओर चलता हुआ अप्रतिरथ-सूक्त का पाठ करता है, और यजमान बायीं ओर चलता है।[4] सब पहले आग्नीध्रीय मण्डप में पहुँचते हैं। अध्वर्यु वहां आदित्य का प्रतीक रूप एक पत्थर रखता है, और फिर सब वापिस लौटकर आहवनीय के पास आते हैं। यहां से सीधे अग्निवेदि की ओर जाकर अध्वर्यु उस पर चढ़ता है। औदुम्बरी स्रुचा में एक श्वेतवत्सा और

---

१ बांस में बांधने का उल्लेख श. (६।१।२।२५) और तै. सं. भा (६।३।२३) में वर्णित है।

२. मा. श्रौ. सू. ६।२।४।१६।

३ तै. सं. (५।४।४) और का. सं (२१।७) में एक पैर में कृष्णाजिन का जूता पहनकर और दूसरे को जूताविहीन रखकर ही चढ़ने का वर्णन है। ऐसा ही निर्देश मा. श्रौ. सू. (६।२।४।१६) में भी है।

४ मा. श्रौ. सू. ६।२।५।७.

कृष्णावर्णा गाय का दूध भरकर स्वयमातृण्णा इष्टका[1] पर उसके दूध की एक आहुति दी जाती है। इस स्वयमातृण्णा पर अश्मारी और हिरण्यशकलों को रखकर[2] उन पर अग्नि को स्थापित किया जाता है। इस अग्नि मे क्रमश शमी, अश्वत्थ और विकंकत की प्रदीप्त समिधायें रखी जाती हैं, और पंक्तिछन्द के मन्त्र से एक आहुति देकर एक पूर्णाहुति दी जाती है। दूसरी पूर्णाहुति विश्वकर्मारूप अदाभ्य अग्नि के लिये दी जाती है।

वैश्वानर-मारुत होम—

अब अग्निवैश्वानर के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि बनाई जाती है। सवत्सररूप वैश्वानर अग्नि की तृप्ति और आहुतियों की सम्यक् प्रतिष्ठा के लिये इस हवि का अनुष्ठान प्रकृति-इष्टियागवत् किया जाता है। इसमे सिर्फ यह विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि इस हवि की आहुति सीधी ही दी जाये, किसी भी दिशा-विशेष मे उसका झुकाव न हो।

क्षत्ररूप वैश्वानरहोम के बाद प्रजारूप मारुत होम किया जाता है। इससे प्रजा को क्षत्र के अनुकूल बनाते हैं। इसमे सात-सात कपालों वाले सात पुरोडाशों की हवि होती है। इन सातो पुरोडाशों की आहुतियाँ यथाविधि क्रमश अग्नि के दक्षिण-पूर्व, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम, पश्चिम-उत्तर, उत्तर और उत्तर-पूर्व में दी जाती है। इष्टकाचयन से समिद्ध अग्नि को ही इस मारुतहोम से प्रदीप्त करते हैं।

वसुधारा होम—

अन्न, वीर्य, यश आदि नाना वस्तुओ की प्राप्ति के लिये "अग्निरूप वसु", को १२ बार गृहीत आज्य की अविच्छिन्न धारा से आहुति दी जाती है। इस आहुति के समय पाच अनुवाको का सतत पाठ होता है, और यजमान स्रुचा को पीछे से पकड़े रहता है। यही "वसुधारा होम" है।

वाजप्रसव्यहोम—

अब सात प्रकार के *ग्राम्य* और सात प्रकार के *आरण्य अन्नो*[3] को घी मे मिलाकर उदुम्बर के बने स्रुव से छह 'वाजप्रसव्य" नामक आहुतियाँ दी जाती हैं। वाज अन्न को कहते हैं। अतः ये आहुतियाँ अन्न-प्राप्ति के लिए है। प्रत्येक आहुति के अवशिष्टाश को एक पात्र में डालते रहते हैं।[4]

---

१ मा श्रौ. सू ६।२।५।११, तै स ५।४।७, श. ६।२।३।३०-३१.

२ ,, ६।२।५।१२.

३ इन अन्नों के नाम के लिये परिशिष्ट १ में देखें।

४ मा श्रौ सू ६।२।५।२६.

अभिषेक—

अग्निवेदि के पुच्छभाग के पीछे[1] एक चौकी रखी जाती है। उस पर ब्रह्मवर्चस् के इच्छुक यजमान के लिये कृष्णाजिन और पशुओं के अभिलाषी के लिए वस्ताजिन बिछाया जाता है। यजमान को उस पर बिठाकर उपर्युक्त अवशिष्ट भाग से यजमान का अभिषेक किया जाता है। अभिषेक-धारा सिर से मुख तक प्रवाहित की जाती है। ब्राह्मण और राजन्य यजमान के लिए पृथक्-पृथक् अभिषेक-मन्त्र हैं। ब्राह्मण के लिए यह अभिषेक बृहस्पतिसव है, और राजन्य के लिए इन्द्रसव।

राष्ट्रभृत् होम—

अभिषेक के बाद द्वादशकगृहीत आज्य से "राष्ट्रभृत्" नामक १२ आहुतियां युग्म रूप से चित्याग्नि में और द्विगृहीत आज्य से एक आहुति रथशीर्ष पर दी जाती है। १२ युग्म आहुतियां ऋतुओं की प्रतीक हैं, और ये ऋतुयें हीं राष्ट्र का धारण पोषण करने वाली हैं।

वात होम—

अब हाथों की अंजलि बनाकर अथवा कृष्णाजिनपुट[2] से तीन बार पंखे की तरह हवा करके अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। यही "वातहोम" है।

धिष्ण्याग्नि-चयन —

अब वैहवी ऋचाओं[3] से आग्नीध्र—मण्डप की धिष्ण्याग्नि पर आठ ईंटें और नौवां अश्म रखकर इष्टकाधान किया जाता है और सदस् में होता की धिष्ण्याग्नि पर २१, ब्राह्मणाच्छंसी की धिष्ण्याग्नि पर ११ और शेष चारों-मित्रावरुण नेष्टा पोता और अच्छावाक्-की धिष्ण्याग्नि पर ८-८ तथा मार्जालीय में छह ईंटों को रखा जाता है।

अग्नियोग और सोमयागीय-अनुष्ठान—

अब अग्निवेदि में स्थापित हिरण्यपुरुष के सिर पर दर्भस्तम्ब और हिरण्य

---

१ मा. श्रौ. सू. ६।२।५।३०.

२ मा. श्रौ. सू. ६।२।५।३४.

३ मा. श्रौ. सू. के अंग्रेजी अनुवाद (पृ० २२) की टिप्पणी ८ में ऋग्वेद के १०।१२८ सूक्त को विहव्य-मन्त्र कहा गया है। यही बात तै. सं. (४।७।१४, ५।४।११) से भी पुष्ट होती है, जहाँ इन्हीं मन्त्रों को इसी नाम से उद्धृत करते हुये धिष्ण्य की इष्टकाओं के आधान का उल्लेख भी है। यही निर्देश मा. श्रौ. सू. ६।२।६।२ में भी है। पर मै. सं. (३।४।४) आधान का विशद व्याख्यान देते हुए भी इन मन्त्रों का संकेत नहीं देती है। यद्यपि ये मन्त्र भिन्न-क्रम से का. सं. (४०।१०) में भी हैं।

रखकर एक आहुति दी जाती है ।[1] अग्नि मे एक आधारसमिधा रखकर अग्नि को सयुक्त करने की आहुति देते हैं । वेदि के दोनो पक्षो का अभिमर्शन करके समस्त अग्निवेदि को यज्ञीय बनाया जाता है ।

इस अग्नि सयोग के बाद इस चित्याग्नि और धिष्ण्याग्नि मे अग्निष्टोमयागवत् ही अग्नीषोमीय पशुयाग से लेकर सोम-सवन तक की सभी विधियाँ यथाकाल और यथाविधि अनुष्ठित की जाती है ।[2] यहाँ चित्याग्नि आहवनीयस्थानीय मानी जाती है ।

अग्निष्टोम की तृतीयसवन की सोमग्रह आदि तक की समस्त प्रक्रिया की समाप्ति पर पाँच "अन्वारोह" नामक आहुतियाँ दी जाती हैं । इन आहुतियों के बाद "पश्वेकादशिनी" पशुयाग की विधि सम्पन्न की जाती है । यूपों का परिमाण अग्निवेदि की लम्बाई के बराबर या उससे कुछ बडा रखा जाता है । आगे सब विधि पुन अग्निष्टोम की जाती है ।

उपसंहार—

समिष्टयजुषों से पूर्व ३ आहुतियाँ स्रुचा के आज्य से दी जाती है, और एक आहुति दहीमिश्रित घी की देते हैं । अन्त मे १-१ आहुति प्रत्येक दिशा मे और मध्य-भाग मे दी जाती है । यज्ञायज्ञिय सामगान के बाद अग्नि का सम्मर्शन कर परिधियों

---

१ मा श्रौ सू (६।१।५।२३) मे यह आहुति आहवनीय-चिति के लिए किये जाने वाले भूमिकर्षण से पूर्व निर्दिष्ट है । पर मैं स (२।१२।३।८, ३।४।४) मे मन्त्र और ब्राह्मण का क्रम धिष्ण्याधान के बाद ही है । वा स (१२।७४, श ७।२।३ १-६) मे यह आहुति भूमिकर्षण के बाद आती है । तै. स (५।६।४) में यह आहुति मन्त्र ब्राह्मण भाग मे है ।

२ मैं. स. (३।४।४,) का स (२२।१) और तै स (५।४।१०) में अग्नियोग के बाद इस अग्नि मे समस्तहवियों को स्थापित करने का वर्णन है । यह मानना युक्तिसगत है कि इन हवियों द्वारा अग्निष्टोम की हवियों को सकेतित किया गया हैं । मा श्रौ सू (६। २।६।२-१८) से भी इसकी पुष्टि होती है । इसी आधार पर यह उल्लेख किया गया है । किन्तु सहिताओं मे हवि-सामान्य का ही संकेत होने के कारण सूत्र में निर्दिष्ट दशहवि और देविकाहवियो को छोड दिया गया है, क्योंकि अग्निष्टोम मे ये हवियाँ नहीं हैं । इस सम्बन्ध मे छठे अध्याय के पृष्ठ देखिए २८१ से २८३ तक ।

यहाँ से आगे की प्रक्रिया का क्रम मा श्रौ सू (६।२।६।११-२४) के अनुसार है, क्योंकि ये क्रियायें मैत्रायणी सहिता के या तो ब्राह्मण भाग (३।४।८) में है, अथवा इनके मन्त्र २।१३ मे है, जिसे परिशिष्ट-प्रपाठक कहा जा सकता है । देखिए तीसरे अध्याय के पृष्ठ ३२ से ३८ तक ।

का विमोचन कर दिया जाता है। अन्त में यज्ञ-समाप्तिसूचक अन्तिम आहुति देकर उदवसानीयेष्टि के साथ यज्ञ का समापन हो जाता है।

पुनश्चिति

यदि प्रथम चितियाग से अभीष्ट फल-प्राप्ति न हो, तो पुनः इष्टाधान करने का विधान है।[1] इसमें पूर्ववत् नानाविध इष्टकाओं का आधान करके तीन चितियों का चयन करना चाहिए, और इन तीनों को क्रमशः ८, ११ और १२ "लोकम्पृणा" इष्टकाओं से विशेषतः भरकर प्रत्येक चिति को पुरीष से ढक देते हैं। इस चिति पर अग्नि संस्थापन के लिए विशिष्ट मन्त्र हैं।

काम्यचिति

मैत्रायणी-संहिता में चिति के आकार का सम्बन्ध कामना से जोड़ा गया है।[2] ऐसी काम्य चितियाँ सात हैं—

स्वर्गकामी श्येनपक्षी के आकार की चिति, भ्रातृव्यवाला रथचक्र—रथचक्र के समान वर्तुलाकर-चिति और प्रौगचिति,[3] अन्न का अभिलाषी द्रोणाचिति[4] पितृलोक की प्राप्ति के लिए श्मशानचिति, ग्रामकामी उपचिति[5] और पशुकामी समूह्यचिति[6] का चयन करे।

---

१ मै. सं. ३।३।५.

२ मै सं. ३।४।७।१२.

३ गाड़ी के पिछले हिस्से के समान चौड़ी और अगले भाग के समान संकरी आकृति वाली (तै. स. भा. ६।३३०१-२)।

४ द्रोण-परिमाण की चार धारियों वाली गोलाकार आकृति जैसी चिति।

५ इस चिति में तृतीयचिति की स्वयमातृण्णा के चारों ओर विशेष इष्टकायें रखी जाती हैं। (तै. सं. भा. ६।३३०३).

६ इसके बारे में तै. सं. भा. (६।३३०२) में किसी आकृति का उल्लेख न होकर इतना ही वर्णित है 'समूहमर्हतीति समूह्यः। समूहन्निव इष्टका उपदधाति।" इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस चिति में पास-पास अथवा ऊपर-नीचे समूह रूप में ईंटें रखी जाती होंगी।

यज्ञों की तुलनात्मक स्थिति

अग्न्याधान

इस आधान-प्रकरण की सर्वप्रथम उल्लेखनीय स्थिति यह है कि तैत्तिरीय संहिता मे यह प्रकरण नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] मे ही इसके मन्त्र व ब्राह्मण-भाग हैं। पर मन्त्र और ब्राह्मण परस्पर घुले-मिले हैं, और उनका क्रम भी यज्ञविधि से बहुत भिन्न है। वाजसनेयी संहिता[2] मे तत्सम्बन्धी मन्त्र बहुत थोडे हैं। शतपथ ब्राह्मण[3] मे अधिकांश क्रियायें हैं ही नही, अथवा अमन्त्रक है। काठक[4] में अपेक्षाकृत अधिक मन्त्र हैं, और उनका क्रम भी बहुत भिन्न है। इस प्रकरण के कई मन्त्र काठक के अन्य स्थानको[5] मे बिखरे हुये मिलते हैं, पर उनका निश्चित विनियोग जान पाना दुःसाध्य होने के कारण यह कहना कठिन है कि काठक को उनका अग्न्याधान मे ही उपयोग स्वीकार्य है या नहीं।

इस विधि की कुछ क्रियायें और मन्त्र सिर्फ मैत्रायणी संहिता मे ही उपलब्ध है, अन्य संहिताओ मे नहीं। ये निम्न हैं—

१ यजमान द्वारा अपने हृदय स्थल को छूकर एक मन्त्र का जप करना[6]।

२ यजमान द्वारा अश्व के दायें कान मे एक मन्त्र बोलना[7]।

३. अश्व द्वारा आहवनीय-आयतन का समन्त्रक अतिक्रमण करवाना[8]।

४ तीन शमी और १ उदुम्बर की इन चार समिधाओ को एक-एक मन्त्र द्वारा आहवनीय मे रखना[9]।

---

१ तै १।१।२ १०, १।२।१

२ वा. स ३।१-१०.

३ श २।१-२.

४ का स. ७।१२-१४

५ ,, ७।३६, ४१

६ मै. स १।६।१।१०

७ ,, १।६।२।१७.

८ ,, १।६।२।२०, तै. १।१।५ और श (२।१।४।२३) मे यह क्रिया अमन्त्रक है।

९ ,, १।६।२।२३-२६.

५ 'अग्नि-विपराणयनीय' नामक एक समन्त्रक आहुति देना[१]।

६. सभ्याग्नि और आवसथ्याग्नि में १-१ समन्त्रक आहुति देना।[२]

७. व्रीहि और यव के अपूप को आयतनों पर अमन्त्रक ही रखना।[3]

इन सात प्रक्रियाओं के अतिरिक्त ३ ऐसी मुख्य क्रियायें हैं जिनके मन्त्र अथवा निर्देश इस प्रकरण में मैत्रायणी के अतिरिक्त सिर्फ काठक-संहिता में ही हैं, यद्यपि मन्त्र-क्रम में भिन्नता है :—

१. पूर्णाहुति मन्त्र।[४] शतपथ ब्राह्मण[५] में पूर्णाहुति का अमन्त्रक उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[६] में यह मन्त्र पुनराधान-प्रकरण में है, और सायण द्वारा उद्धृत कल्प-सूत्र[७] में यह अग्निहोत्र की आहुति में विनियुक्त है।

२. द्यूतभूमि का अमन्त्रक निर्माण, उस पर समन्त्रक-आहुति तथा द्यूत-क्रीडा।[८]

३. आमन्त्रण-मन्त्र।[९]

इन परिवर्धित प्रक्रियाओं के विपरीत कई ऐसी क्रियायें और तत्सम्बन्धी मन्त्र हैं, जो अन्यत्र हैं, पर मैत्रायण में नहीं हैं। इनमें से मुख्य ये हैं :—

१. ब्रह्मौदन—सम्बन्धी समन्त्रक आहुति देना।[१०]

२. प्रत्येक सम्भार के लिये अलग-अलग मन्त्र का विधान।[११]

३. अश्वत्थ, उदुम्बर आदि ६-७ वनस्पति के सम्भारों का आधान। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह समन्त्रक है, पर मानवश्रौतसूत्र में अमन्त्रक।[१२]

४. विशुद्ध अग्नि-सम्बन्धी एक अष्टाकपाल पुरोडाश की हवि।[१३]

---

१ मै. सं. १।६।२।३१.

२ ,, १।६।२।३३.

३ ,, १।६।५.

४ ,, १।६।२।२०, का. सं. ७।१४।७८.

५ श. २।२।१।१-४.

६ तै. सं. १।५।३.

७ तै. सं. भा. २।६३४.

८ मै. सं. १।६।२।३२, १।६।११, का. सं. ७।१४।८३, ८।७।१२। सम्भवतः तै. (१।१।१०) में "यत्सभायां विजयन्ते" के द्वारा इसी ओर इंगित किया गया है। पर इससे अधिक कोई संकेत नहीं है।

९ मै. सं. १।६।२।३४, का. सं. ७।१४।८४.

१० का. सं. ७।१२।४१, तै. १।२।१।९, मा. श्रौ. सू. १।५।१।१६.

११ का. सं. ७।१२।४६-५६, तै. १।२।१।१-७, मा. श्रौ. सू. १।५।२।११-१७.

१२ तै. १।१।३।९-१२, १।२।१।४-७, मा. श्रौ. सू. १।५।२।१८.

१३ तै. १।१।६, मा. श्रौ. सू. १।५।५।५.

५ ब्राह्मौदनिक-अग्नि मे समिधाधान के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के वर्णानुसार पृथक्-पृथक् मन्त्रो का निर्देश ।[1]

इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि अग्न्याधान के इस छोटे से प्रकरण में भी मानवश्रौतसूत्र १३ ऐसे शाखान्तर मन्त्रो का प्रयोग करता है, जो उपलब्ध काठक संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण के हैं,[2] मैत्रायणी के नहीं। २ मन्त्र ऐसे हैं,[3] जो सूत्र मे शाखीय पद्धति से संकेतित होने हुये भी मैत्रायणी संहिता के नही हैं। इसके अतिरिक्त कई ऐसे मन्त्र भी सूत्र मे उल्लिखित हैं, जो बिलकुल नये प्रतीत होते हैं।

हवि सम्बन्धी अन्तर भी ध्यान देने योग्य है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण[4] मे अग्नि विष्णु, शिपिविष्ट विष्णु और अग्निसोम की कोई हवि नहीं है और ऐन्द्राग्न का एकादशकपाल पुरोडाश अवश्य है, जो अन्यत्र नहीं है।

यज्ञ प्रक्रिया सम्बन्धी इस भिन्नता के साथ ही द्रव्य-सम्बन्धी एक मुख्य भिन्नता भी उल्लेखनीय है। मैत्रायणी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण मे हिरण्य सहित ७ पार्थिव सम्भारो का विधान है,[5] किन्तु शतपथ ब्राह्मण[6] मे जल को भी सम्मिलित करके पाँच-जल, हिरण्य, ऊषा, आखुकिरि और शर्करा का ही निर्देश है, और काठक[7] भी पाँच का ही उल्लेख करती है। दूसरी ओर तैत्तिरीय ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र मे वर्णित वानस्पत्य सम्भारो का[8] मैत्रायणी, काठक और शतपथ मे कोई उल्लेख नहीं है, तथा मैत्रायणी मे निर्दिष्ट अपूप के आधान[9] का अन्यत्र विधान नहीं है।

यज्ञविधि-सम्बन्धी इन प्रमुख अन्तरो के अतिरिक्त एक ही क्रिया के लिये भिन्न भिन्न मन्त्रों और मन्त्रो के कम-अधिक होने, तथा पाठ-भेद आदि के छोटे-मोटे भेद तो कई हैं। किन्तु मूल विधि मे अधिक भिन्नता नहीं है। यद्यपि मैत्रायणी और काठक मे निर्दिष्ट द्यूतक्रीडा का समस्त प्रकरण[10] एक मुख्य भिन्नता मानी जा सकती है।

---

१ तै १।२।१।६-१२, मा श्रौ सू १।५।१।२४। यद्यपि ब्राह्मण और सूत्र के मन्त्र समान नहीं हैं।

२ इसी अध्याय के पृ० २२० की टिप्पणियाँ देखें।

३ मा श्रौ सू १।५।३।३-४

४ तै १।१।६

५ मै स १।६।३,४ तै १।१।३

६ श २।१।१

७ का स ८।२

८ तै १।१।३, मा श्रौ सू १।५।२।१८

९ मै स. १।६।५

१० मै, स १।६।११, का स ८।७

पुनराधान

इसमें नये आधान मन्त्रों की विनियोग-प्रक्रिया सम्बन्धी भिन्नता भी मिलती है। यथा —तैत्तिरीय संहिता[1] में मैत्रायणी संहितावाले[2] पहले दो आधान-मन्त्र ही हैं, जो दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि के आधान में विनियुक्त हैं,[3] और गार्हपत्य के लिए तैत्तिरीय संहिता जो चार मन्त्र देती है, उनमें से तीन मैत्रायणी के प्रथम अग्न्याधान-प्रकरण[4] में सम्भारों को छूने में विनियुक्त हैं। इसी प्रकार अन्य संहिताओं के मन्त्रों में भी अन्तर है।

विधि-सम्बन्धी मुख्य अन्तर यह है कि अन्य किसी भी संहिता में छह संतत-होमाहुतियों का कोई उल्लेख नहीं है। मानवश्रौतसूत्र[5] में वैश्वानर अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश का भी निर्देश है, जो संहिता में नहीं है।

अग्न्युपस्थान की समीक्षा

इस प्रकरण में मैत्रायणी संहिता में अपेक्षाकृत अधिक मन्त्र हैं। यथा—आहवनीयोपस्थान के उत्तरषट्क में तैत्तिरीय संहिता[6] में छह ही मन्त्र हैं, पर मैत्रायणी[7] में १० मन्त्र हैं। वाजसनेयी और काठक में ये मन्त्र ही नहीं हैं। किन्तु पुनराहवनीयोपस्थान में मैत्रायणी में ८ मन्त्र हैं, और तैत्तिरीय में १२[8]। एकाध मन्त्र का अन्तर तो अनेक स्थलों पर है।

मैत्रायणी की निम्नलिखित प्रमुख प्रक्रियायें और तत्सम्बन्धी मन्त्र काठक-संहिता के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में नहीं है—

१. आहवनीयोपासना के एक विशिष्ट मन्त्र[9] को पृतनाजित् क्षत्रिय के लिए ही निर्दिष्ट करना।[10] यह निर्देश काठक में भी नहीं है।

२. आहवनीय में समिधाधान के मन्त्र[11]। तैत्तिरीय संहिता[12] में इसका अमन्त्रक उल्लेख है।

---

१ तै. सं. १।५।३.
२ मै. सं. १।७।१।१-२.
३ तै. सं. भा. २।६३३.
४ मै. सं. १।६।१। ६-८.
६ मा. श्रौ. सू. १।६।५।१.
५ तै. सं. १।५।५।७-१२.
७ मै. सं. १।५।१।६-१७.
८ मै. सं. १।५।४।३५-४२, तै. सं. १।५।६।५-१६.
६ मै. सं. १।५।२।२०.
१० ,, १।५।८.
११ मै. सं. १।५।२।२१, का. सं. ६।६।२८.
१२ तै. सं. भा. २।६४३.

३ शत्रु-पराभव के लिए पैर से पृथ्वी को दबाने सम्बन्धी मन्त्र ।[1]

४ तीनो लोकों, पाँचो दिशाओ और धर्म-विधर्म आदि के उपासना-मन्त्र[2] इस मन्त्र का एक बडा अश काठक सहिता में भी नहीं है ।

इसके अतिरिक्त मन्त्रो की भिन्नता तथा पाठभेद और गायो के गोष्ठ मे प्रवेश, स्पर्शन आदि की क्रियाओ में छोटे वडे अन्तर भी हैं ।

उपस्थान की इस सक्षिप्त विधि में भी मानवश्रौतसूत्र अनेक शाखान्तरीय मन्त्रो और सहिता से भिन्न प्रक्रियाओ का उल्लेख करता है । इसमें विशेष उल्लेख-नीय स्थिति आहवनीयोपासना की है, जिसके मन्त्रो को सूत्र[3] विभिन्न वर्गों मे बांटकर विनियुक्त करता है, अमावस और पूर्णिमा का मन्त्र सहिता से भिन्न देता है, और क्षत्रिय-सम्बन्धी निर्देश का उल्लेख ही नही करता है । सूत्र[4] मे विनियुक्त एक मन्त्र मैत्रायणी का न होकर काठक का[5] होना भी ध्यान देने योग्य है । मैत्रायणी के मन्त्रो[6] का जो विनियोग सूत्र[7] मे वर्णित है, ब्राह्मणभाग[8] इससे भिन्न प्रक्रिया देता है ।

प्रवासोपस्थान विधि की जो परिपूर्णता मैत्रायणी सहिता मे है, वह तो अन्यत्र है ही नही । काठक सहिता[9] मे मन्त्र तो पर्याप्त हैं, पर उनके गठन और उसके ब्राह्मणभाग[10] से इन उपस्थान की प्रक्रिया पूर्ण स्पष्ट नही हो पाती है । वाजसनेयी[11] मे जाते समय और वापसी पर सिर्फ गार्हपत्य और आहवनीय की उपासना के ही मन्त्र हैं । शतपथ ब्राह्मण[12] के अनुसार प्रस्थान के समय पहले गार्हपत्योपस्थान किया जाता है । तैत्तिरीय सहिता[13] मे सिर्फ जाते समय आहवनीयोपासना के ही मन्त्र हैं, यद्यपि इन मन्त्रो की सख्या सर्वाधिक है । इसी आहवनीयोपासना के साथ तैत्तिरीय सहिता आहुति, आचमन और कपाल-मोचन आदि कई क्रियाओ का सम-

---

१ मै स १।५।१४।४३, का स ७।२।१७
२ मै स १।५।१४।४४ „ „
३ मा श्रौ सू १।६।२।४-६, मै स १।५।१
४ „ १।६।२।१७
५ का स ७।२।१५
६ मै स १।५।२।२१, २२, ३१
७ मा श्रौ सू १।६।२।८, १०
८ मै स १।५।९, १०
९ का स ७।३
१० का स ७।११
११ वा स ३।३७-३९
१२ श २।४।१।३
१३ तै स १।५।१०.

न्त्रक उल्लेख अवश्य करती है। वास्तोष्पति की आहुति और तत्सम्बन्धी मन्त्र तो मैत्रायणी[१] के अतिरिक्त अन्य किसी भी संहिता में इस प्रकरण में नहीं। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी संहिता में प्रवासोपस्थान के मन्त्र अग्न्युपस्थान का पूरा ब्राह्मण-भाग देने के उपरान्त है। यह व्यवस्था संहिता की संयोजना से पूर्णतः मेल नहीं खाती है। अत. सम्भव है कि यह प्रकरण परवर्ती परिवर्धन हो।

मानवश्रौतसूत्र में उपस्थान से अधिक भिन्न स्थिति प्रवासोपस्थान की है। इसमें भी अनेक शाखान्तरीय मन्त्र विनियुक्त हैं, जिनमें से एक काठक संहिता का है,[२] जो आहवनीयोपासना में विनियुक्त है।[3] इसके अतिरिक्त सूत्र में प्रवास के लिये जाते समय अग्नि का अरणियों पर समारोपण, सभ्य और आवसथ्य अग्नियों का जाते-आते दोनों समय उपस्थान और वापिस आकर समिधाओं का आहरण आदि अनेक ऐसी विधियाँ भी समाविष्ट हैं,[४] जो किसी भी संहिता में उल्लिखित नहीं हैं।

अग्निहोत्र की समीक्षा

इस छोटी-सी दैनिक होमविधि की मुख्य विशिष्टता यह है कि इसमें मन्त्रों का प्रयोग नगण्य है। गायत्री आदि छन्दों के समस्त चरणों वाला मन्त्र तो एक भी नहीं है। अधिकांश क्रियायें अमन्त्रक हैं। इसीलिये इस यज्ञ-विवरण में क्रिया के मन्त्र-युक्त होने का उल्लेख विशेष रूप से किया है। यद्यपि अन्य भागों में ऐसा नहीं किया गया है। वहाँ अमन्त्रक का विशेष उल्लेख है।

अग्न्याधान की तरह यह होम भी तैत्तिरीय संहिता में न होकर तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित है।

मैत्रायणी-संहिता की परिवर्धित विधि या मन्त्र निम्नलिखित हैं, जो अन्य संहिताओं में अनुपलब्ध हैं।

१. हवि-भक्षण का मन्त्र[५]।
२. हवि-सम्मर्शन में दशहोतृमन्त्र का विनियोग[६]।
३. दो गायों को दुहने का उल्लेख[७]।
४. आहुतिमन्त्र के साथ तीनों व्याहृतियों का प्रयोग[८]।

---

१ मै. सं. १।५।१३।५७-५८.
२ का. सं. ७।२।१७.
३ मा. श्रौ. सू. १।६।३।६.
४ ,, १।६।३।२-३, ७, १४, १२.
५ मै. सं. १।८।५।२४.
६ ,, १।८।५ (यह विनियोग-निर्देश चतुर्होतृ प्रपाठक में उल्लिखित है।)
७ ,, १।८।६
८ ,, १।८।५

इन ४ प्रक्रियाओं के अतिरिक्त ६ ऐसे मन्त्र और विधियां हैं, जो मैत्रायणी के अतिरिक्त सिर्फ काठक-संहिता में ही उपलब्ध हैं, अन्यत्र नहीं —

१ दुग्धपात्र को देखने का मन्त्र[1]।

२. दूध गर्म करने का मन्त्र[2]।

३. स्रुक् (हवणी) को आहुति से पूर्व और पश्चात् दर्भ पर रखने के दो मन्त्र[3]।

४. उत्तर की ओर लक्ष्य करके रुद्र-सम्बन्धी मन्त्र का पाठ[4]।

५. गार्हपत्य में समन्त्रक आहुति देना[5]।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि काठक-संहिता में अग्निहोत्र के विवरण का और इन उपर्युक्त मन्त्रों का भी क्रम काफी उलट-पुलट है, और मन्त्र पृथक् रूप से परिगणित न होते हुये ब्राह्मण भाग के साथ पूर्णतः घुले-मिले हैं।

मैत्रायणी संहिता में इस होम के छोटे-छोटे ११ मन्त्र हैं। इनमें से दो मन्त्र[6] मानवश्रौतसूत्र में उल्लिखित नहीं हैं। संहिता में इन मन्त्रों के लिये दिये गये जुहुयात् के निर्देश[7] से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ये आहुति मन्त्र हैं। पर ये आहुतियाँ कब, किस प्रसंग में दी जायें, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता है। काठक संहिता[8] में इन मन्त्रों के साथ १२ रात्रों तक आहुति देने का उल्लेख है। इन मन्त्रों से कुछ मिलते-जुलते वाजसनेयी के मन्त्रों को शतपथ ब्राह्मण में आहुतियों के वैकल्पिक मन्त्र के रूप में वर्णित किया गया है[9]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन मन्त्रों के 'मनु देवं' शब्दों से युक्त, पर भिन्न से दीखने वाले मन्त्रों को हवि-सम्मर्शन में विनियुक्त किया गया है।[10] मैत्रायणीकार को सम्भवतः काठक संहिता वाला निर्देश अभीष्ट है, क्योंकि इन मन्त्रों के व्याख्यान के बाद ही वह भी १२ रात्रों तक हर शाम को आहुति देने का निर्देश देता है।[11] सम्भवतः ये दोनों आहुतियाँ आहवनीय की मुख्य आहुतियों के बाद ही दी जाती होंगी। पर इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है।

---

१ मै सं १।८।४।१०, का स ६।७।१४

२ ,, १।८।४।१२, ,, ,,

३ ,, २।८।४।१४, १६ ,, ६।५।६.

४ ,, १।८।५।२२, ,, ६।७।१५.

५ ,, १।८।५।२६, ,, ६।८।१७

६ ,, १।८।६।२६, ३१

७ ,, १।८।६।३०, ३२

८ का. स ६।७।१५

९ वा स ३।१०, श (२।३।१।३७-३८)

१० तै २।१।५।१०.

११ मै स १।८।६।३३.

एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि मानवश्रौतसूत्र इस अति संक्षिप्त दैनिक होमविधि की प्रायः सभी क्रियाओं के लिये शाखान्तरीय अथवा नये-नये मन्त्रों का निर्देश देता है, जो इस प्रकरण में अन्य किसी भी संहिता में नहीं मिलते है। नये मन्त्रों के इस परिवर्धन के साथ-साथ सूत्र में ऐसी समन्त्रक क्रियायें भी निर्दिष्ट हैं, जिनका संहिताओं में अमन्त्रक उल्लेख भी नहीं है। यथा – दक्षिणाग्नि का परिमार्जन,[1] अग्नियों का सिंचन,[2] स्रुव में समिधा रखकर ले जाना,[3] गार्हपत्य से आहवनीय की ओर जाते समय रास्ते के मध्य में हवि को पहले नीचे, फिर ऊपर करना,[4] हवि को चाटना,[5] जल का तीन बार निःसारण,[6] दक्षिणाग्नि में आहुति,[7] और जिस गाय के दूध की हवि हो, उसको दक्षिणा में देना,[8] इत्यादि। सिर्फ हवि के पर्यग्निकरण, वर्त्मकरण, और गार्हपत्य को देखने की क्रियायें ही ऐसी हैं, जो मानवश्रौतसूत्र[9] के अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण[10] में भी हैं, यद्यपि ब्राह्मण इनको अमन्त्रक ही वर्णित करता है।

मैत्रायणी संहिता में इस होमविधि की बहुत अधिक प्रायश्चित्तियाँ भी वर्णित हैं, जो अधिकांशतः अन्यत्र नहीं हैं।

यजमान की समीक्षा

यजमान-सम्बन्धी इन मन्त्रों और कार्यों के विषय से प्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं में तत्सम्बन्धी समस्त विषय को एक ही प्रपाठक में संकलित किया गया है।[11] किन्तु काठक-संहिता[12] में दो स्थानकों में मन्त्र और दो में व्याख्यान हैं, और मन्त्र तथा व्याख्यान भी पास-पास नही है। वाजसनेयी संहिता में इस दृष्टि से यजमान के एकत्रित मन्त्र नहीं मिलते हैं, और न शतपथ एक साथ व्याख्यान देता है।

विषय-वस्तु और प्रक्रिया की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थिति यह है कि मैत्रायणी-संहिता में यह प्रकरण सबसे छोटा है। तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में

---

१ मा. श्रौ. सू. १।६।१।६.
२ ,, १।६।१।१०.
३ ,, १।६।१।२६.
४ ,, १।६।१।३१-३२.
५ ,, १।६।१।४७.
६ ,, १।६।१।४८.
७ ,, १।६।१।५२.
८ ,, १।६।१।५३.
९ मा. श्रौ. सू. १।६।१।२०, २१, ३६
१० तै. २।१।३।४,५, २।१।४।३
११ मै. सं. १।८, तै. सं. १।६।२-११.
१२ का. सं. ४।१४, ५, ३१।१५, ३२,

दर्शपूर्णमास की आधार क्रिया, प्रयाजविधि, आज्यभागो और हवि की आहुतियो, उपांशुयाज, अग्निषोमीय और इन्द्र-सम्बन्धी हवि की विशिष्ट आहुतियाँ, स्विष्टकृत् विधि, इडोपाह्वान मे प्राशित्रावदान, अनुयाजविधि और सूक्तवाक्, शयुवाक् के अनुष्ठान-काल मे यजमान द्वारा पठित तत्तत् क्रिया के अनुमन्त्रण मन्त्र दिये गये हैं। किन्तु जैसा दर्शपूर्णमासयज्ञ की तुलनात्मक स्थिति का विवेचन करते हुए विस्तार से बताया गया है कि मैत्रायणी सहिता मे इन क्रियाओ का व्यवस्थित वर्णन कहीं भी नही है। कुछ का यत्र तत्र नामोल्लेख मिलता है, और कुछ का—यथा उपांशुयाज, स्विष्टकृत्, प्राशित्रावदान और सूक्त वाक्-शयुवाक् का सहिता मे नामोल्लेख भी नही है। ऐसी स्थिति में तत्सम्बन्धी यजमान के मन्त्रो का भी सहिता मे उपलब्ध न होना वस्तुत विचारणीय है। उल्लेखनीय यह भी है कि मानवश्रौतसूत्र[1] भी तैत्तिरीय और काठक के इन मन्त्रो को पूरा का-पूरा उद्धृत करते हुए इनका विनियोग निर्दिष्ट करता है। इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि ये मन्त्र मैत्रायणी-शाखा के नहीं हैं।

इस विस्तार और सक्षेप की बडी खाई के अतिरिक्त यह अन्तर भी ध्यान आकृष्ट करता है कि जिस प्रक्रिया मे समानता है, उसके मन्त्र भी मैत्रायणी और तैत्तिरीय--काठक मे भिन्न हैं। यथा—परिधि-आधान के समय यजमान द्वारा मन्त्र बोलने का उल्लेख सर्वत्र है, पर मन्त्र भिन्न है। इसी प्रकार यजमान द्वारा अपने हवि भाग को खाने, प्रस्तर हटाने और अग्नियो की उपासना करने का निर्देश समान है, किन्तु मन्त्र अलग-अलग हैं। यद्यपि यह उल्लेखनीय है कि मैत्रायण-सहिता के प्राय सभी मन्त्र काठक मे मिल जाते हैं, किन्तु उनका सही विनियोग जानना कठिन है। तैत्तिरीय मे सिर्फ चार प्रक्रियायें ऐसी हैं, जिनके मन्त्रों मे भी साम्य है, यद्यपि पाठ-भेद उनमे भी हैं—

१ इडोपाह्वान में बर्हि पर रखे पुरोडाश का अभिमर्शन-मन्त्र[2]।
२ परिधि-विमोचन मन्त्र[3]।
३ दिशा-सम्मार्जन मन्त्र[4]।
४ विष्णुक्रमो के मन्त्र।[5]

दर्शपूर्णमास की समीक्षा

जैसा कि पहले टिप्पणी-स्थल पर कहा जा चुका है कि प्रवर से लेकर अनु-याज-विधि तक का समस्त वर्णन मैत्रायणी-सहिता में क्रमिक रूप से नहीं है अत इस विवरण के लिए सहिता मे बिखरे हुए निर्देश सकेतो को आधार माना है। यथा—

---

१ मा. श्रौ सू १।४।१।२२-२८, १।४।२,३.
२ मै स १।४।१२।६१, तै स १।६।४, तै स भा २।७०२
३ ,, १।४।१।६, १।४।५, तै स १।६।४, तै. स. भा २।७०६
४ ,, १।४।२।१२, १।४।६-७ ,, १।६।५, ,, २।७११
५ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

१. अवदान-प्रकरण का उल्लेख यजमान-ब्राह्मण[1] में है।

२. प्रयाज और अनुयाजों का हवि-अनुष्ठान से अनिवार्य सम्बन्ध है, इसी बात को सामने रखकर पुनराधान प्रकरण में प्रयाजों और अनुयाजों में आवश्यक परिवर्तन-विभक्ति—का विशद वर्णन किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त आघार और आज्यभाग आहुतियों का व्याख्यान करते हुए भी प्रयाज-यजन का संकेत यजमान-ब्राह्मण में है।[3] प्रयाज के साथ अनुयाज भी अपरिहार्य है ही।

३. आज्यभाग की दोनों आहुतियों का सव्याख्यान निर्देश भी यजमान-ब्राह्मण[4] में है।

४. "प्रत्येक हवि का याज्यानुवाक्या होता है" इस कथन के द्वारा मैत्रायणीकार इन मन्त्रों के प्रयोग को ही नहीं, अपितु हवि-अनुष्ठान की एक सुनिश्चित पद्धति का भी संकेत देता है।[5]

५. इडा के आह्वान का सामान्य उल्लेख भी मैत्रायणी संहिता में दो स्थलों पर है। एक यजमान—ब्राह्मण में है, और दूसरा गोनामिक—प्रकरण में है।[6]

६. चतुर्होतृ-प्रपाठक में प्रयाजों, अनुयाजों, सामिधेनी और हवियों के अनुष्ठान से पूर्व विशिष्ट होतृ-मन्त्रों का निर्देश है।[7]

किन्तु इन उल्लेखों के होते हुए भी यह स्थिति भी विचारणीय है कि मैत्रायणी-संहिता में इन विधियों का कोई भी व्यवस्थित वर्णन नहीं है। प्रयाज-अनुयाज के भी न तो मूल मन्त्र हैं, न उनके विभक्ति- परिवर्तित—मन्त्रों का स्वरूप वर्णित है। यद्यपि इनका व्याख्यान अनेकों स्थलों पर आया है। हवि-अवदान (अर्थात् हवि को आहुति के लिये तोड़ना या ग्रहण करना) की तो कोई भी प्रक्रिया नहीं है। इडोपाह्वान का उल्लेख तो अवश्य है, पर उसकी प्रक्रिया की कहीं चर्चा ही नहीं है। स्विष्टकृत् आहुति का तो संकेत ही नहीं है। सूक्तवाक् और शंयुवाक् का निर्देश भी कहीं नहीं है।

काठक संहिता की स्थिति प्रायः मैत्रायणी के ही समान है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[8] में आज्यभागाहुतियों का उल्लेख तो इस प्रकरण में नहीं है, किन्तु अग्नि-सम्मार्जन, इडोपह्वान, सूक्तवाक् और शंयुवाक् का सविस्तार व्याख्यान है। इनके प्रैषमन्त्र तक

---

१ मै. सं. १।४।११.

२ ,, १।७।३.

३ ,, १।४।१२.

४ ,, ,,

५ ,, १।४।११

६ ,, १।४।११, ४।२।१५

७ ,, १।९।१

८ तै. ३।३।८

यहाँ दिये गये हैं। समिधाधान के समय अनुयाजों के लिए एक समिधा रख लेने का निर्देश देते हुए तैत्तिरीय-ब्राह्मण स्पष्टतः प्रयाज-अनुयाज के अनुष्ठान का भी उल्लेख करता ही है।[1] यह भी उल्लेखनीय है कि इन विधियों की कितनी ही क्रियायें ऐसी हैं, जो तैत्तिरीय ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र में समान हैं। यथा—होता की अंगुली के दो पर्वों को घी से चुपडना,[2] पुरोडाश के चार भाग करके बर्हि पर रखना,[3] ब्रह्मा के भाग को वेद से लाना,[4] इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण[5] में तो ये सभी विधियाँ अत्यन्त विस्तारपूर्वक निर्दिष्ट हैं, और निगदानुवचन, निविल्पाठ, शान्तिकर्म, स्वस्त्ययन जप आदि ऐसी विधियाँ भी हैं,[6] जो सूत्र में भी नहीं हैं।

इस अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि इन विधियों के निर्देश ब्राह्मण या सूत्र में ही हैं, संहिताओं में नहीं। तत्सम्बन्धी मन्त्र भी संहिताओं में प्रायः नहीं मिलते हैं। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या संहिताओं का मन्त्र सकलन ही मूलतः यज्ञ-निरपेक्ष है, अथवा ये विधियाँ ही परवर्ती परिवर्धन हैं ? निश्चयात्मक उत्तर देना बहुत दुष्कर है।

तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों के वर्णन का मानव श्रौतसूत्र से साम्य होने के कारण, अन्य श्रौत ग्रन्थों में भी[7] कुछ मतभेद के साथ प्रायः इन्हीं यज्ञ-विधियों के होने से और मैत्रायणी-संहिता में भी यत्र-तत्र इनका नामोल्लेख मिल जाने से यह सम्भावना भी पर्याप्त है कि मैत्रायणीकार ने इन विधियों के व्यवस्थित प्रयोग को सुपरिचित मानकर ही वर्णित करना आवश्यक नहीं माना है। प्रयाज-अनुयाज, आज्यभाग-आहुति, प्रवर-वरण आदि के व्याख्यानों से इस सम्भावना को तथ्य का सा रूप मिल भी जाता है, और इसी आधार पर प्रत्येक यज्ञ में इस समस्त विधि का आवश्यक महत्त्व स्वीकार करते हुए ही इसको यहाँ वर्णित किया गया है। किन्तु संहिता और सूत्र के पूर्व वर्णित अन्तरों को ध्यान में रखते हुए यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन उपर्युक्त विधियों का यही अनुष्ठान-प्रकार मैत्रायणी संहिता को मान्य होगा ही, यह सन्दिग्ध है।

---

१ तै ३।३।७

२ मा श्रौ सू १।३।३।१६, तै ३।३।८।३

३ मा श्रौ सू १।३।३।२०, तै. ३।३।८।६

४ मा श्रौ सू १।३।३।२३ (सूत्र में यजमानभाग को भी लाने का उल्लेख है) तै ३।३।८।६

५ श १।५।२, १।७।२, ४, १।८।१-२

६ श १।४।२।१-२, १।६।२।५-१५, १।४।३, १।५।१।१४-२६

७ कात्यायन श्रौतसूत्र ३।२।५
श्रौत कोष में सकलित बौधायन श्रौतसूत्र, पृ. २८३-२८६

संहिता और सूत्र के अन्तर को दर्शपूर्णमास यज्ञ के उन स्थलों के प्रकाश में देखना अधिक उपयोगी होगा, जिनका वर्णन दोनों में उपलब्ध है, अथवा संहिता में होते हुए भी सूत्र में नहीं है। यथा—मैत्रायणी—संहिता में मन्त्र भाग में १ और पुरोडाश—ब्राह्मण में उपलब्ध लगभग १२ मन्त्र ऐसे हैं,[1] जिन्हें मानवश्रौतसूत्र विनियुक्त ही नहीं करता है। इसके विपरीत सूत्र में २६ के लगभग ऐसे मन्त्रों का निर्देश[2] है, जो मैत्रायणी में न होकर तैत्तिरीय, काठक या वाजसनेयी में है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि मैत्रायणी के मन्त्रों के अंश[3] भी सूत्र में भिन्न क्रम से आगे· पीछे करके विनियुक्त किये गये हैं।[4] सूत्रकार दर्भों के पवित्रीकरण का मन्त्र दूध दुहने से पूर्व करता है,[5] पर संहिता में यह हवि निकालने के बाद आता है।[6] संहिता के ब्राह्मण भाग में[7] आज्य को स्फूय-रेखा और ओदनपचनाग्नि पर रखने का उल्लेख हैं, जो सूत्र में नहीं मिलता है।[8] सूत्रकार दर्शयाग में अमावस के अपराह्ण-काल में पिण्ड-पितृयज्ञ के अनुष्ठान का निर्देश देता है,[9] जो किसी भी संहिता के ब्राह्मण में उल्लिखित नहीं है। इसके अतिरिक्त सूत्र में निर्दिष्ट कितनी ही क्रियायें और मन्त्र भी किसी संहिता या ब्राह्मण में नही मिलते हैं।

दर्शपूर्णमास-सम्बन्धी कुछ प्रमुख विधियों अथवा उनके मन्त्र अन्य संहिताओं या उनके ब्राह्मणों में उपलब्ध हैं, किन्तु मैत्रायणी संहिता में नहीं हैं। इनमें से मुख्य निम्न हैं:—

१. आज्यग्रहण से पूर्व पत्नी-संनहन अन्य सब संहिताओं में समन्त्रक विहित हैं।[10] मानव श्रौतसूत्र[11] भी काठक और तैत्तिरीय संहिताओं के मन्त्रों को उद्धृत करके इस विधि का निर्देश करता है।

---

१ मै. सं. १।१।३।६, ४।१।६, १०, ४१, ४८,५८,७६,८१,८३, ८५,८६,६१,६२.
२ मा. श्रौ. सू. १।१।१।१४, २५, ३५, ४२; १।१।३।१७; १।२।१।१५; १।२।२।२३,३४; १।२।३।१४; १।२।४।२-५,६, १८-१६, २३-२४; १।२।५। ११-१२; १४-१५; १।३।१।१८; १।३।२।७; १।३।५।१३, १७,१८,२४,२६।
३ मै. सं. १।१।३।७-१०, १।५।१२, १।१।१।११।२६-२७.
४ मा. श्रौ. सू. १।१।३।१६-१६, १।२।१।२६-२७, १।२।५।१२,१७.
५ मा. श्रौ. सू. १।१।३।१३.
६ मै. सं. ४।१।६।३६.
७ मै. सं. ४।१।१२.
८ मा. श्रौ. सू. १।२।५.
६ मा. श्रौ. सू. १।१।२.
१० तै. सं. १।१।१०, का. सं. १।१०।३१-३२, वा. सं. १।३०.
११ मा. श्रौ. सू. १।२।५।११-१२.

२. हवि-निर्वाप के समय और पुरोडाश के लिए पिष्ट हवि को लेते समय अग्नीषोमीय देवता का मन्त्र ।[1]

३ अंगारो को उठाने के लिए उपवेष—ग्रहण की आवश्यक क्रिया भी मैत्रायणी मे छूट गई है । मानवश्रौतसूत्र तैत्तिरीय और वाजसनेयी के मन्त्राश से इस क्रिया का उल्लेख करता है ।[2] यह उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी सहिता का ब्राह्मण[3] उपवेष को उत्कर में फेंकने का व्याख्यान अवश्य करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मैत्रायणीकार को यह ग्रहण-क्रिया भी अभीष्ट तो है, पर शायद अमन्त्रक ही ।

४ पिष्टलेप को स्फ्यरेखा मे डालते समय आप्त्य देवता का मन्त्र[4] । किन्तु ब्राह्मण[5] मे तत्सम्बन्धी आख्यान उपलब्ध होने से इस क्रिया की स्वीकृति तो स्पष्ट हो जाती है ।

५ धान के छिलको की समन्त्रक आहुति ।[6]

६ प्रजापति-सम्बन्धी एक आघार आहुति ।[7]

७. आघार से पूर्व और अनुयाजो से पूर्व अग्नि और परिधियो का समन्त्रक सम्मार्जन ।[8]

किन्तु इन अभावो के साथ साथ कई मन्त्र अथवा मन्त्राश और क्रियायें ऐसी हैं, जो सिर्फ मैत्रायणी मे ही हैं अन्य सहिताओ मे नही । ऐसे ६ मन्त्र सहिता के मन्त्र भाग मे हैं, और ५ स्थल ब्राह्मण-भाग में हैं । इनका विवरण इस प्रकार है—

१ 'विष्णो स्तुपो'[9] से प्रस्तर के दर्भ—स्तम्ब को छूना ।

२ 'अतिसृष्टो गवा भागो'[10] से उस स्तम्ब मे से एक तिनका निकालकर फेंक देना ।

३ 'अयुपिता योनि' से रज्जु-स्तवन ।[11]

४ "विश्वहोतुर्घामन्त्सीद"[12] से दूध दुहने के लिए बैठना । यह मन्त्र मानवश्रौतसूत्र मे भी नहीं है ।

---

१ तै स १।१।४,८ वा स १।१०,२२
२ मा. श्रौ सू १।२।२।३४, तै स १।१।७, वा सं १।१७
३ मै स ४।१।१३
४ तै स १।१।८, का स १।८, वा स १।२३, मा श्रौ सू १।२।४।३
५ मै स ४।१।६.
६ तै स १।१।१३, तै स भा १।१७४, का स १।१२।५०, वा स २।२०
७ श १।४।४, मा श्रौ सू १।३।१।५, तै ३।३।७
८ श १।४।४।१३-१५, मा श्रौ सू १।३।१।७-८, १।३।४।२, तै ३।३।७,६
६ मै स. १।१। २।४
१० ,, १।१।२।४
११ ,, १।१।२।६.
१२ मै स १।१।३।६.

५. "पीपायत्वा अदित्या रास्नासि[1]" से बछड़े को गाय के पास जाने के लिए छोड़ना और गाय की टांगों पर रस्सी बांधना।

६. "सन्सीदन्तां देवीविश:"[2] से यज्ञपात्रों को वेदि पर रखना।

७. 'मित्रस्य वश्चक्षुपा प्रेक्षे[3] से पिष्ट हवि को देखना।

८. "देवो व: सवितु:"[4] से पिष्ट हवि को पवित्र करना।

९. 'पूपा ते ग्रन्थि विष्यतु'"[5] से वर्हि की गांठ खोलना।

१०. "आपस्त्वामश्विनी"[6] से बंधी हुई वर्हि को अनुमन्त्रित करना।

११. "ऊर्जं गृह्णीत, प्रभूत्य[7] व:" से हवि निकालते समय हविष्यान्न को अनुमन्त्रित करना। यह मानवश्रौतसूत्र में भी नहीं है।

१२. पुरोडाश पक जाने पर वेदि में अमन्त्रक आहुति देना, और पुरोडाश पर अभिघारण करना[8]। मानवश्रौतसूत्र भी ये निर्देश नहीं देता है।

१३. "इदं विष्णुर्विचक्रमे"[9] —से आज्यस्थाली को प्रोक्षणी जल के उत्तर में रखना।

इन मुख्य अन्तरों के अतिरिक्त एक ही क्रिया के लिए अलग-अलग मन्त्रों का प्रयोग करना, क्रियाओं में आगे पीछे होना और पाठ-भेद जैसे छोटे-बड़े अन्य भी अनेक अन्तर हैं।

चातुर्मास्ययाग की समीक्षा

सभी संहिताओं में चातुर्मास्ययाग के संयोजन और संकलन में पर्याप्त अन्तर है। तैत्तिरीय संहिता[10] में इन समस्त पर्वयागों की हवियां और मन्त्र आदि राजूसय-याग के प्रकरण में ही निर्दिष्ट हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण[11] इसी क्रम में इनका व्याख्यान देता है। काठक संहिता में सिर्फ शुनासीरीय पर्व ही राजूसययज्ञ में वर्णित है,[12] शेप पर्व "उत्सीदन" नामक स्थानक में पुनराधान प्रकरण के बाद संकलित

---

१ मै. सं. १।१।३।१०.
२ ,, १।१।४।११.
३ ,, १।१।७।१५.
४ ,, १।१।६।१८.
५ ,, १।१।१२।३०.
६ ,, ४।१।२।१६.
७ ,, ४।१।५।२६-३१.
८ ,, ४।१।६.
९ ,, ४।१।१२।७४.
१० तै. सं. १।८।२-६.
११ तै. १।६,७.
१२ का. सं. १५।२.

हैं ।[1] मैत्रायणी संहिता की स्थिति सर्वाधिक व्यवस्थित होते हुये भी विशेष विचारणीय है । इसमे चातुर्मास्ययागो को स्वतन्त्र प्रकरण के रूप मे पृथक् प्रपाठक मे संकलित किया गया है ।[2] किन्तु इस संकलन की विशिष्टता यह है कि पहले चारो पर्वों की हवियो का निर्देशक विधि-ब्राह्मण[3] दिया गया है, और फिर पर्व-सम्बन्धी मन्त्रो को पर्वानुक्रम से रखा गया है ।[4] किन्तु अन्य संहिताओ मे हवियो के विधि-ब्राह्मण और मन्त्रो को पर्वों के अनुसार विभक्त करके पर्वों का पृथक्-पृथक् वर्णन है ।[5] किन्तु सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थिति शुनासीरीय पर्वयाग की है, जिसकी हवियों का उल्लेख संहिता के चातुर्मास्य के उपर्युक्त हवि-निर्देशक विधि ब्राह्मण मे है,[6] किन्तु व्याख्यान ब्राह्मण[7] मे शुनासीरी-पर्व का संकेत भी नही है । शुनासीरी-पर्व का व्याख्यान राजसूय के ब्राह्मण-भाग मे है ।[8] यह भी उल्लेखनीय है कि राजसूय के विधि-ब्राह्मण मे निर्दिष्ट "सीर द्वादशयोग दक्षिणोष्टारो वानड्वान्" पंक्ति[9] शुनासीरी पर्व की ही दक्षिणा प्रतीत होती है, क्योंकि इस प्रकरण मे यह दक्षिणा अनावश्यक है और तैत्तिरीय काटक संहिताओ तथा मानवश्रौतसूत्र में शुनासीरी पर्व की यही दक्षिणा निर्दिष्ट की गई है ।[10] किन्तु यह अवश्य ध्यान देने योग्य है शुनासीरी की *व्याख्या करने वाला राजसूय-ब्राह्मण*[11] *भी इस दक्षिणा का कोई उल्लेख नही करता है,* और चातुर्मास्य-प्रकरण मे किसी भी पर्वयाग की कोई दक्षिणा उल्लिखित नही है, केवल वैश्वदेव के व्याख्यान ब्राह्मण[12] में उसकी दक्षिणा का उल्लेख है ।

वाजसनेयी संहिता की स्थिति इस सम्बन्ध में यह है कि वस्तुत इस चातुर्मास्ययाग मे देवता और हवियो का ही विशिष्ट विधान है, पर्व-सम्बन्धी मन्त्र अधिक नही हैं । अत वाजसनेयी संहिता मे इस याग का कोई स्पष्ट रूप ही नहीं है, क्योंकि वाजसनेयी मे हवियो का तो कोई उल्लेख है ही नहीं, और मन्त्र भी

---

१ का स ९।३।७
२ मै स १।१०
३ ,, १।१०।१
४ ,, १।१०।२-४
५ तै स १।८।२-६, का स ९।३-७
६ मै. स १।१०।१ "आग्नेयोऽष्टाकपाल ' 'पौष्णश्चरु, वायव्या यवागू प्रतिधुग्वा, इन्द्राय शुनासीराय द्वादशकपालः सौर्य एककपाल ।"
७ मै. स १।१०।५-२०
८ ,, ४।३।३
९ मै. स २।६।२
१० तै स. १।८।७।१, का. स १५।२, मा श्रौ सू १।७।८।५
११ मै सं ४।३।३.
१२ मै. स १।१०।७

अग्न्युपस्थान मन्त्रों के साथ संकलित है[१] शतपथ ब्राह्मण[२] में चातुर्मास्य का स्वतन्त्र प्रकरण के रूप में विशद विवेचन है।

यह उपर्युक्त विवरण चातुर्मास्य की विवादास्पद स्थिति को सूचित करता है। इससे दो महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न उत्पन्न होते हैं—१. राजसूय से चातुर्मास्य का क्या सम्बन्ध है? २. चातुर्मास्य के पर्वों की संख्या कितनी है और उनमें कौन-सी विधि किस प्रकार समाविष्ट है? इसी दूसरे प्रश्न के सन्दर्भ में शुनासीरीय पर्व और पितृयज्ञ की स्थिति विशेषतः विवेचनीय हो उठती है। दोनों प्रश्नों पर निम्न प्रकार से विचार किया जा सकता है।

प्रथमतः यह तो स्पष्ट है कि चातुर्मास्ययाग राजसूययज्ञ में भी अनुष्ठित किया जाता रहा है। मैत्रायणी संहिता[3] में स्पष्टतः राजसूय में चातुर्मास्यों के यजन का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र भी ऐसा ही निर्देश देते हैं।[४] वर्षभर से अधिक चलने वाले राजसूययज्ञ में यथासमय इन चातुर्मास्यों के यजन का औचित्य युक्तिसंगत भी लगता है। किन्तु चातुर्मास्य का राजसूय से यह निर्विवाद सम्बन्ध पुष्ट हो जाने पर भी एक अन्य प्रश्न उठता है कि क्या किसी काल में चातुर्मास्य का अस्तित्व सिर्फ राजसूय में ही तो नहीं था? तैत्तिरीय संहिता में इसके राजसूय में ही उपलब्ध होने से इस अनुमान को बल मिलता है, और मैत्रायणी-काठक के राजसूय-प्रकरण में मिले शुनासीरीय पर्व के अंश भी इस बात का संकेत करते प्रतीत होते हैं कि कालान्तर में चातुर्मास्य का एक स्वतन्त्र याग बनाते समय ही उसका कुछ भाग राजसूय में रह गया होगा। यद्यपि इन दोनों संहिताओं में सिर्फ शुनासीरीय अंश मिलने से यह सम्भावना भी की जा सकती है कि इन दोनों सम्प्रदायों में राजसूय के अन्तर्गत अनुष्ठित किये जाने वाले चातुर्मास्य में ही शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान किया जाता रहा होगा, स्वतन्त्र रूप से अनुष्ठित चातुर्मास्ययाग में नहीं। मैत्रायणी संहिता का चातुर्मास्य-ब्राह्मण[५] जिस तरह सिर्फ वैश्वदेव, वरुणप्रघास और साकमेध का ही उल्लेख करता है, उससे इस अनुमान की पुष्टि की जा सकती है। किन्तु इस अनुमान के विरुद्ध सबसे प्रबल आपत्ति यही है कि शुनासीरीय पर्व की हवियां मैत्रायणी के चातुर्मास्य-प्रकरण में ही निर्दिष्ट हैं, राजसूय-प्रकरण में नहीं। इससे संहिता के मन्त्रभाग और ब्राह्मण-भाग का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। अन्य भी अनेकानेक उद्धरणों से यह व्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग के अन्तर के आधार पर संहितानुसारी किसी अन्य ब्राह्मण और

---

१ वा. सं. ३।४४-६२.

२ श. २।५-६.

३ मै. सं. ४।३।१३.

४ श. ५।२।३।२०, ५।२।४।१-४, मा. श्रौ. सू. ९।१।१।२०

५ मै. सं. २।१०।५,८.

ब्राह्मणानुसारी किसी अन्य संहिता के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है।[1] ऐसी स्थिति में उपर्युक्त अनुमान को ब्राह्मणानुसारी किसी अनुपलब्ध शाखा संहिता पर लागू किया जा सकता है।

चातुर्मास्य-सम्बन्धी दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि इस चातुर्मास्ययाग के कितने पर्व माने जाने चाहिए। सूत्र-ग्रन्थों तथा परवर्ती साहित्य में वैश्वदेव, वरुण प्रघास, साकमेध और शुनासीरो—इन चार पर्वयागों के सम्मिश्र अनुष्ठान का सामूहिक नाम "चातुर्मास्ययाग" है, क्योंकि ये पर्व चार-चार मासों के अन्तर से सत्र में सम्पन्न किये जाते हैं।

किन्तु मैत्रायणी और काठक संहिताओं[2] में चातुर्मास्य का सम्बन्ध सिर्फ पहले तीन पर्वों से ही माना गया है। चौथे शुनासीरी पर्व का उल्लेख भी नहीं किया गया है। मैत्रायणी में अन्यत्र भी इन पर्वयागों की बर्हि को तीन प्रकार से बाँधने का औचित्य बताते हुए संवत्सररूप चातुर्मास्य को तीन भागों वाला कहकर तीन पर्वों की ओर ही संकेत किया गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण[4] चातुर्मास्ययाग की फलश्रुति का रूपकात्मक व्याख्यान देते हुए इन्हीं तीन पर्वों के यजन का माहात्म्य बताता है, और इन्हें "पर्व" की संज्ञा देता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] में इनका प्रयोजन वर्णित करते हुए शुनासीरी का कोई उल्लेख नहीं है।

दूसरी ओर शुनासीरी पर्व का पूर्ववर्णित अनिश्चित स्थान भी इस पर्व की स्थिति को संदिग्ध बनाता है।

तीसरी महत्व की बात शुनासीरी-पर्व की फल प्राप्ति की है। मैत्रायणी-संहिता[6] में राजसूय-प्रकरण में इसके द्वारा चातुर्मास्यों का अतिक्रमण कर जाने वाले पशुओं की प्राप्ति, तथा वर्षा और अन्न आदि को प्राप्त करने का वर्णन है। प्रायः यही फल तैत्तिरीय ब्राह्मण[7] में वर्णित है। इस फल-वर्णन की पहली बात तो यह कि इसमें इस पर्व को स्पष्टतः चातुर्मास्यों से भिन्न कहा गया है, और दूसरी विशेष बात यह है कि यह फल चातुर्मास्यों के प्रथम तीन पर्वों के फल-क्रम से भी असम्बद्ध है। मैत्रायणी संहिता चातुर्मास्य के व्याख्यान में प्रत्येक पर्व के फल को अन्य पर्व-फल से संयुक्त करते हुए कहती है कि सर्वप्रथम प्रजापति अथवा देवों ने वैश्वदेव यज्ञ से प्रजा

---

१ देखिए तीसरे अध्याय में पृष्ठ ३९ से ४६ तक
२ मै. स १।१०।८, का स ३६।२
३ मै स १।१०।७, का स ३६।२.
४ श २।६।४
५ तै १।६।८
६ मै. स ४।३।२
७ तै १।७।१

को उत्पन्न किया ।[1] किन्तु जब वह उत्पन्न प्रजा रोगग्रस्त हुई, तो वरुणप्रघास से उसे रोग-मुक्त किया गया ।[2] प्रजोत्पत्ति और रोगमुक्ति के बाद प्रजापति ने 'वृत्र' को मारने की इच्छा की, और साकमेध द्वारा वृत्र का हनन हुआ ।[3] यही सम्बद्ध फल प्राप्ति काठक-संहिता, तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है ।[4] इस क्रमिक फल प्राप्ति की पूर्णता चतुर्थपर्व के रूप में शुनासीरी-पर्व में होनी चाहिये थी । पर सर्वत्र शुनासीरी के बदले पितृयज्ञ द्वारा ही फल की चरम-सीमा अमृत (स्वर्ग) को प्राप्त किया गया है । इस कड़ी को पूर्ण स्पष्टता से व्यक्त करते हुए मैत्रायणीकार कहता है कि 'प्रजाः सृष्ट्वांहोऽवयज्य वृत्रं हत्वा ते देवा अमृतत्वमेवा कामयन्त । स्वर्गो वै लोको अमृतत्वम् ।'[5] बिलकुल यही भाव अन्यत्र भी है ।[6] इस अमृतत्व-प्राप्ति के बाद शुनासीरी-पर्व द्वारा उपर्युक्त वर्णित अन्न-वृष्टि-पशु आदि की कामना उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर फल-प्राप्ति के क्रमिक विकास के स्पष्टतः प्रतिकूल है ।

सम्भवतः इस विसंगति को दूर करते हुए ही मैत्रायणी संहिता के विधि-ब्राह्मण[7] में पितृयज्ञ से पूर्व ही शुनासीरी-पर्व की हवियों का निर्देश किया गया है । इससे वृत्र-नाश के बाद शुनासीरी-पर्व से अन्नपशु आदि ऐहिक समृद्धि को प्राप्त करना और अन्त में पितृयज्ञ द्वारा अमृत-स्वर्ग को प्राप्त करने का क्रम पूर्ण सुसंगत हो जाता है । इस दृष्टि से चातुर्मास्य के चार पर्व तो रहते हैं, किन्तु पितृयज्ञ साकमेध का अंग होने के बदले या तो शुनासीरी-पर्व का अंग बन जाता है, अथवा चातुर्मास्य के अन्तर्भूत ही एक स्वतन्त्र-विधि ।

किन्तु यह संगति और निष्कर्ष मैत्रायणी संहिता के विधि-ब्राह्मण अर्थात् मन्त्र-भाग के अनुसार ही निकाला जा सकता है । संहिता के ब्राह्मण भाग और काठक, तैत्तिरीय आदि संहिताओं की दृष्टि से पितृयज्ञ निर्विवाद रूप से शुनासीरी से पूर्व ही अनुष्ठेय है । इसके अतिरिक्त जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मैत्रायणी और काठक के चातुर्मास्य के ब्राह्मण-भाग में शुनासीरी की चर्चा ही नहीं है, और फल-प्राप्ति की पूर्णता पितृयज्ञ द्वारा ही प्राप्त की गई है, उसके आधार पर यह अनुमान करना भी सम्भव है कि किसी-किसी सम्प्रदाय में चातुर्मास्य में वैश्वदेव, वरुणप्रघास और साकमेध के तीन पर्व ही स्वीकार्य रहे होंगे, अथवा चतुर्थ पर्व के रूप में पितृयज्ञ

---

१ मै. सं. १।१०।५, ७.

२ ,, १।१०।१०.

३ ,, १।१०।१४.

४ का. सं. ३५।२०, ३६।५,८, तै. १।६।२, ४,६, श. २।५।१।१-३, २।५।२।१-३, २।५।३।१

५ मै. सं. १।१०।१७.

६ का. सं. ३६।११, तै. १।६।८.

७ मै. सं. १।१०।१.

ही मान्य होगा। फल-प्राप्ति के क्रम मे इसे पहले तीन पर्वों से आगामी स्वतन्त्र फल का प्रदाता वर्णित किया जाना इसकी स्वतन्त्र सत्ता का द्योतक माना जा सकता है। ऐसी स्थिति मे मैत्रायणी के मन्त्रभाग और ब्राह्मण-भाग के बीच स्पष्ट मतभेद मानना पडता है, और इससे मन्त्रानुसारी किसी अन्य अनुपलब्ध ब्राह्मण के अस्तित्व के अनुमान की पुष्टि ही होती है।

इस सामान्य विवेचन के अतिरिक्त पर्वों की प्रक्रियाओ में कोई बहुत बडे मतभेद नही मिलते हैं। किन्तु कुछ विशिष्ट अन्तर उल्लेखनीय हैं —

१ वैश्वदेवपर्व और वरुणप्रघासपर्व मे वाजियाग का विशिष्ट स्थान है। मैत्रायणी सहिता[१] मे इसका निर्देश तत्तत् हवियो के विधि-ब्राह्मण मे साथ-साथ ही दिया गया है, जो तैत्तिरीय और काठक मे नही है।[२] किन्तु काठक सहिता के ब्राह्मण-भाग और तैत्तिरीय ब्राह्मण मे इसका विवरण अवश्य है।[३] किन्तु इस विवरण मे भी दिशा-सम्बन्धी आहुतियो[४] का कोई उल्लेख नही है। शतपथ में वाजियाग का नामोल्लेख ही नही है।

२ वरुणप्रघासपर्व मे मैत्रायणीकार सविता को अष्टकपाल पुरोडाश हवि का निर्देश करता है।[५] पर तैत्तिरीय सहिता, शतपथ ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र मे द्वादशकपाल पुरोडाश का विधान है।[६]

३ मैत्रायणी सहिता और शतपथ ब्राह्मण मे पितृयज्ञ के हविष्यान्न को दक्षिण की ओर से ही निकालने का विधान है।[७] किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण दक्षिण का खण्डन करते हुये उत्तर की ओर से निकालने का निर्देश देता है।[८]

४ तैत्तिरीय ब्राह्मण मे पितरों के निमित गद्दे, तकिये आदि अनेक वस्तुओं को देने का विधान है,[९] जो मैत्रायणी सहिता मे नहीं है।

५ मैत्रायणी मे त्र्यम्बक हवियाग की पुरोडाश-हवि पर अभिघारण का

---

१ मै स १।१०।१
२ तै. स. १।८।२-३, का स ९।४
३ का. स ३६।४, तै १।६।३
४ मै स १।१०।६.
५ मै स १।१०।१
६ तै स १।८।३, श २।५।२।७, मा. श्रौ सू १।७।३।२-३.
७ मै स १।१०।१७, श २।६।१।८
८ तै. १।६।८
९ तै १।६।८

विधान है, अभिघारण न करना दोष माना गया है ।[1] किन्तु शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में इसका निषेध है ।[2] काठक संहिता में यह ऐच्छिक है ।[3]

६. तैत्तिरीय संहिता में शुनासीरीय हवियों में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश और वैश्वदेव चरू भी निर्दिष्ट है,[4] जो मैत्रायणी में या अन्यत्र भी नहीं है ।

७. मानवश्रौतसूत्र चारों पर्वों में चार-चार मासों की आहुति देने का जो उल्लेख करता है,[5] वह किसी संहिता में नहीं है ।

८. मानवश्रौतसूत्र में प्रत्येक पर्व के अन्त में पूर्णमासयाग के अनुष्ठान का निर्देश करके जिन अन्य बहुत-सी क्रियाओं के विधिनिषेध का विधान है,[6] मैत्रायणी संहिता में इनमें से कोई नहीं है ।

इसके अतिरिक्त मन्त्रों के विनियोग, पाठ और क्रम आदि में भी कई छोटे-मोटे अन्तर हैं ।

अग्निष्टोम की समीक्षा

तुलनात्मक स्थिति—

अग्निष्टोमयाग के समस्त विषयवस्तु की तुलना करने से पूर्व इसके कुछ ग्रहों की विशिष्ट स्थिति पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं[7] में स्पष्टतः वर्णित है कि अग्निष्टोम-यज्ञ का अन्तिम ग्रह पात्नीवतग्रह है, किन्तु इसके बाद पाँच और ग्रहों—हारियोजन, अतिग्राह्य, षोडशी, दधि और अदाभ्य—अंशु—का भी सर्वत्र उल्लेख है । ऐसी स्थिति में यह विचारणीय हो जाता है कि अग्निष्टोम में इन ग्रहों की वास्तविक स्थिति क्या है, अथवा क्या इनका सम्बन्ध किन्हीं अन्य सोमयागों से माना जाना चाहिये । उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार क्रमशः इनकी स्थिति जानने का प्रयास किया गया है :—

१. हारियोजनग्रह—

सायण[8] स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि यही ग्रह अग्निष्टोम का अन्तिम ग्रह है । किन्तु अग्निष्टोम के सब स्तोत्रों के समाप्त हो जाने पर इस ग्रह का ग्रहण किया जाता है । इसलिये इसे अन्य ग्रहों के समकक्ष नहीं मानते हैं, और इसके पूर्ववर्ती

---

१ मै. सं० १।१०।२०

२ श. २।६।२।६, तै. १।६।१०.

३ का. सं. ३६।१४.

४ तै. सं. १।८।७.

५ मा. श्रौ. सू. १।७।२।७.

६ ,, १।७।२।२३-२५, १।७।४।५१-५२, १।७।७।१५-१६, १।७।८।८-११

७ मै. सं. ४।७।४, तै. सं. ६।५।८.

८ तै. सं. भा. २।५३९.

पात्नीवत ग्रह को ही वस्तुत अन्तिम सोमग्रह कहा गया है। वाजसनेयी सहिता[1] मे तो हारियोजनग्रह के मन्त्रो के बाद ही याग-समाप्ति सूचक समिष्टयजुष् और अवभृथ आदि विधियो के मन्त्र दिये गये हैं, उपर्युक्त अन्य ग्रहो के मन्त्र इन विधियो के बाद मे हैं। शतपथ ब्राह्मण[2] मे व्याख्यान का क्रम भी ऐसा ही है। शतपथ[3] मे हारियोजन को अतिरिक्त ग्रह कहकर ही अग्निष्टोम मे सम्मिलित किया गया है। तैत्तिरीय-सहिता के मन्त्र भाग[4] मे यद्यपि सब ग्रहो के बाद ही यज्ञ की उपसहारक विधियों—दक्षिणा, अवभृथ आदि के मन्त्र हैं, जैसा मैत्रायणी सहिता मे है। किन्तु उसका ब्राह्मण-भाग[5] वाजसनेयी की तरह हारियोजन के बाद ही इनको वर्णित करता है। मैत्रायणी और तैत्तिरीय[6] मे यह स्पष्ट उल्लेख भी है कि परिधियो को हटा लेने पर उन्नेता इस ग्रह की आहुति देता है, और परिधियाँ स्पष्टत ही यज्ञ के समाप्ति काल मे हटाई जाती हैं।[7] मानवश्रौतसूत्र[8] मे अनुयाज-यजन के बाद इस ग्रह को लेने के निर्देश से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है।

अत यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अन्तिम ग्रह के रूप मे मान्य न होते हुये भी यह ग्रह अग्निष्टोम का ही अग है।

२ अतिग्राह्यग्रह

अग्नि, इन्द्र और सूर्य के ये तीन ग्रह मानवश्रौतसूत्र[9] मे पृष्ठ्य षडहयाग का ही अग माने गये हैं, सूत्र के अग्निष्टोम[10]-प्रकरण मे इनका कोई उल्लेख नही है। किन्तु तैत्तिरीय सहिता[11] मे अग्निष्टोम, पृष्ठ्य और विश्वजित् सर्वपृष्ठ तीनों मे इनके ग्रहण का स्पष्ट निर्देश है, और उक्थ्य मे ग्रहण का स्पष्ट निषेध। शतपथ ब्राह्मण[12] में इन्हे पृष्ठ्य षडह् और विश्वजित् सर्वपृष्ठ मे ही प्रयुक्त करने का निर्देश है। इन सबसे भिन्न मैत्रायणी-सहिता[13] मे इतना ही उल्लेख है कि जहाँ पृष्ठों का प्रयोग हो,

---

१ वा स. ८।११-३२
२ श ४।४।३, ४।५।२
३ श ४।४।२।३
४ तै. स. १।४।२८-४२
५ ,, ६।५।६-११, ६।६।१
६ मै स ४।७।४, तै स ६।५।६
७ देखिये पाँचवे अध्याय का पृष्ठ १०७
८ मा श्रौ. सू. २।५।४।२
९ मा श्रौ सू ७।२।२। १६-२६
१० ,, २।३-५
११ तै. स. ६।६।८
१२ श ४।५।४।१३-१४
१३ मै स. ४।७।३.

वहीं इन ग्रहों की आहुति दी जाये। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी संहिता में षडहयाग या विश्वजित् सर्वपृष्ठ का नाम कहीं भी नहीं है। अतः पृष्ठों के उल्लेख से मैत्रायणीकार का संकेत पृष्ठ्य षडहयाग की ओर हो, यह अनुमान किया तो जा सकता है, पर यह सम्भावना अधिक है कि इससे अग्निष्टोम में ही प्रयुक्त किन्हीं पृष्ठों की ओर संकेत किया गया है।

इन ग्रहों के याग के विषय में जैसी विविधता है, वैसी ही इनके सवनों और क्रम के विषय में भी है। तैत्तिरीय संहिता[1] किसी सवन का उल्लेख ही नही करती है, मैत्रायणी संहिता[2] में प्रातः सवन में इनके ग्रहण का निर्देश है, पर किस ग्रह के आगे-पीछे लें, यह उल्लेख नहीं है। शतपथ ब्राह्मण[3] में और भी स्पष्टता से व्यक्त है कि इन्हें प्रातः सवन में आग्रायणग्रह के बाद और माध्यंदिन-सवन में उक्थ्य के बाद लेना चाहिए। किन्तु सायण[4] एक कल्प-सूत्र के द्वारा शतपथ ब्राह्मण के सिर्फ प्रातः सवन वाले निर्देश का उल्लेख करते हैं। मानवश्रौतसूत्र[5] में भी सिर्फ प्रातः सवन का ही उल्लेख है।

इस ग्रह के मन्त्रों की स्थिति यह है कि इनके ग्रहण-मन्त्र तो सब संहिताओं के मन्त्र-भाग में हैं[6], पर भक्षण-मन्त्र सिर्फ वाजसनेयी-संहिता[7] में हैं। मैत्रायणी-संहिता के ब्राह्मण-भाग[8] में ही भक्षण के साथ-साथ होम मन्त्र भी हैं। तैत्तिरीय संहिता और काठक संहिता के ब्राह्मण-भागों[9] में भी भक्षण-होम मन्त्र नहीं हैं।

३. षोडशीग्रह

यद्यपि सोमयागों के अवान्तर भेदों के प्रकरण[10] में अग्निष्टोम से इसकी एकाध भिन्न विधि पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि यह स्वतन्त्रयाग न होते हुए भी अग्निष्टोम का ही एक विशिष्ट प्रकार है। किन्तु इन परवर्ती ग्रहों के साथ इसके मन्त्रों की स्थिति होने के कारण यह पुनर्विचार की श्रेणी में आ जाता है।

मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिता[11] में राजन्य के षोडशीग्रह को अग्निष्टोम में

---

१ तै. सं. ६।६।८.
२ मै. सं. ४।७।३.
३ श. ४।५।४।६-७.
४ तै. स. भा. २।५,६४.
५ मा. श्रौ. सू. ७।२।२.
६ मै. सं. १।३।३१-३३, का. सं. ४।११.
तै. सं. १।४।२८-३०, वा. सं. ८।३८-४०.
७ वा. सं. ८।३८-४०
८ मै. सं. ४।७।३।६
९ तै सं. ६।६।८, का. सं. ३०।७।३५.
१० देखिए पंचम अध्याय का पृष्ठ १४६.
११ मै. सं. ४।७।६, तै. सं. ६-६।११.

लेने का उल्लेख होने से यह ग्रह अग्निष्टोम का भी अग सिद्ध होता है, किन्तु साथ ही ब्राह्मण अथवा पशुकामी के इस ग्रह को अतिरात्र मे लेने का निर्देश देने से[1] और पूर्ववर्णित भिन्नताओ के कारण अग्निष्टोम से इसकी पृथकता भी दिग्दर्शित करवाई गई है। शतपथ-ब्राह्मण[2] मे इसका उल्लेख ही अग्निष्टोमविधि की पूर्ण समाप्ति के लिए किया गया है। तैत्तिरीय सहिता के ब्राह्मण-भाग[3] मे भी अग्निष्टोम की समाप्ति के बाद ही व्याख्यात है, और उक्थ्य मे इसका सर्वथा निषेध है। अत सायण[4] भी इसे अग्निष्टोम से पृथक् मानते हैं।

इसके सवन-सम्बन्ध मे मैत्रायणी और तैत्तिरीय सहिताओ[5] में इसे तीनो सवनो मे ग्राह्य माना है, किन्तु शतपथ[6] में कहा गया है कि यह प्रात और माध्यदिन सवनो मे आग्रायणग्रह के बाद लिया जाना चाहिये। सायण सिर्फ प्रात सवन का उल्लेख करते हैं। और मानवश्रौतसूत्र[7] मे षोडशीयाग मे भी सिर्फ तृतीय सवन मे ही उक्थ्यग्रह के बाद इसे लेने का विधान किया गया है।

इस ग्रह का मैत्रायणी और काठक मे एक-एक मन्त्र है, वाजसनेयी मे दो और तैत्तिरीय सहिता मे ५ वैकल्पिक मन्त्र दिये गये हैं।[8]

४. दधि ग्रह—

इस ग्रह के मन्त्र मैत्रायणी-सहिता के मन्त्र भाग में षोडशी-ग्रह के बाद हैं।[9] किन्तु काठक में ये मन्त्र ब्राह्मण-भाग मे हैं, पर इनका ब्राह्मण नही है।[10] तैत्तिरीय-सहिता के अन्य प्रकरण मे ही इसके मन्त्र व ब्राह्मण है।[11] वाजसनेयी में इस ग्रह की चर्चा ही नही है।

मानवश्रौतसूत्र मे यह ग्रह सोम-सवन से भी पहले निर्दिष्ट है।[12] तैत्तिरीय

---

१ मै स. ४।७।६, तै. स ६।६।११
२ श. ४।५।३
३ तै स. ६।६।११
४ तै. स. भा २।५५६
५ मै स ४।७।६, तै स ६।६।११
६ श ४।५।३।७-८
७ मा श्रौ सू. २।५।१।१८
८ मै. स. १।३।३४, का स ४।११।६९-७०., वा स ८।३३-३४, तै स १।४ ३८-४२
९ ,, १।३।३५
१० का स ३०।५।१६
११ तै स. ३।५।८-९
१२ मा श्रौ सू २।३।२।२९-३४

संहिता में इसे ग्रहों में ज्येष्ठ कहा गया है ।[१] सम्भवतः इसीलिये सायण भी इसको प्रथम ग्रह कहते हैं ।[२] मैत्रायणी-संहिता के ब्राह्मण में दधिग्रह के बारे में सिर्फ एक पंक्ति मिलती है "तयोः (अदाभ्यांशवोः) वा एष रसो यद्दधि, यत् दध्ना जुहोति स्वेनेवैनौ रसेन शमयति" यह पंक्ति भी आगामी अदाभ्य—अंशु ग्रह के व्याख्यान के अन्त में दी गई है ।[३]

इस संक्षिप्त परिचय से निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना सरल नहीं है। यद्यपि इतना स्पष्ट है कि इसे अग्निष्टोम के अतिरिक्त किसी अन्य याग का अंग नहीं माना गया है ।

५. अदाभ्य-अंशु ग्रह—

इस ग्रह के मैत्रायणी-संहिता के मन्त्र-भाग में अग्निष्टोम-प्रकरण के अन्तिम ग्रह-मन्त्र हैं ।[४] काठक में ये ब्राह्मण-भाग में है[५] तैत्तिरीय संहिता में अन्य प्रपाटकों में बिखरे हुये हैं,[६] यद्यपि इनका ब्राह्मण अग्निष्टोम के ही प्रकरण में मिलता है ।[७] वाजसनेयी संहिता[८] में यद्यपि ये मन्त्र अग्निष्टोम-प्रकरण में अन्त में ही हैं। किन्तु शतपथ ब्राह्मण अग्निष्टोम-प्रकरण[९] में जिस अंशुग्रह का उल्लेख करता है, वह अमन्त्रक ही विहित है । और संहिता के मन्त्रों का सव्याख्यान निर्देश शतपथ में बहुत बाद में "सर्व प्रायश्चितविधायक" प्रकरण में दिया गया है ।[१०]

मन्त्रों के स्थान-निश्चय की तरह ही इसका याग-सम्बन्ध भी अस्पष्ट है। मानवश्रौतसूत्र[११] में यह ग्रह सिर्फ वाजपेय याग के प्रातः सवन में ही निर्दिष्ट है। शतपथ[१२] अमन्त्रक अंशु ग्रह को वाजपेय के साथ-साथ राजसूय, विश्वजित् सर्वपृष्ठ और सब सत्रों में ग्राह्य मानता है, समन्त्रक ग्रह-व्याख्यान में किसी भी यज्ञ का नामोल्लेख नहीं किया गया है पर उसे तीनों सवनों में ग्राह्य कहा है ।[१३] सायण[१४] इसे

---

१ तै. सं. ३।५।९.
२ तै. सं. भा. २।५।३९.
३ मै. सं. ४।७।७
४ मै. सं. १।३।३६.
५ का. सं. ३०।६.
६ तै. सं. ३।१।६, ३।३।३.
७ ,, ६।६।९-१०.
८ ,, ८।४७-५०.
९ श.४।६।१.
१० श. ११।५।९.
११ मा. श्रौ. सू. ७।१।१।२०-३३.
१२ श. ४।६।१।१५
१३ ,, ११।५।९।७.
१४ तै. सं. भा. २।५।३९.

अग्निष्टोम के ही प्रात सवन मे गृहीत मानते हैं, किन्तु इसे नित्य न मानकर अग्निष्टोम से इसके अपरिहार्य सम्बन्ध का निषेध भी करते हैं। मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं[1] मे किसी भी याग अथवा सवन का उल्लेख नहीं किया गया है। काठक संहिता में अवश्य प्रात सवन का उल्लेख है।[2] वस्तुत यह अनुल्लेख इस ग्रह का अग्निष्टोम का अग होना ही द्योतित करता है।

मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं मे इस ग्रह को सोम की "अतिमोक्षिणीतनु" कहा गया है।[3] इसके आशय को स्पष्ट करते हुये सायण[4] कहते हैं कि यह अदाभ्यग्रह सोमसवन के लिये सोम को खोलने से पूर्व लिया जाता है। इस प्रकार इस ग्रह के बाद ही सोम को मुक्त करते हैं। अशुग्रह के लिये सायण कहते हैं कि यह एक बार अभिषुत हुये सोम से एक बार ही लिया जाना चाहिये। यही बात उक्त दोनों संहिताओं में भी कही गई है। किन्तु दोनो संहिताओं के व्याख्यान से ऐसा भी प्रतीत होता है कि यह ग्रह सोम को प्रताडित किये जाने के प्रायश्चित स्वरूप लिया जाता है। निश्चय ही यह प्रायश्चित-भावना परवर्ती चिन्तन की उपज है। बहुत सम्भव है कि पहले यह ग्रह-क्रमानुसार अग्निष्टोम के अन्त मे ही लिया जाता होगा, पर बाद मे इसका स्थान पहला कर दिया गया।

इस प्रकार उपर्युक्त पाचो ग्रहो मे से हारियोजन ग्रह और दधिग्रह तो असन्दिग्ध और अपरिहार्य रूप से अग्निष्टोम का ही एक अग है, शेष तीनो ग्रह अग्निष्टोम के भी अग हैं, और अन्य यागों के भी हैं। अनुयाज-यजन के अनन्तर गृहीत हारियोजन ग्रह तो स्पष्टत यज्ञ-समाप्ति का सूचक है। अत इसके बाद आने वाले इन चारो ग्रह को अग्निष्टोम मे पहले प्रयुक्त करना मन्त्र-क्रम की प्रामाणिकता को खण्डित करता है, और जबकि अन्य सभी ग्रहो का क्रम मन्त्र-क्रम के अनुरूप हो, तो यह क्रम भग और भी खटकता है। अत यह मानना युक्ति सगत होगा कि ये चारों ग्रह अग्निष्टोम के परवर्ती परिवर्धन हैं। इनके मन्त्रो के सयोजन की अव्यवस्था इस विचार को पुष्ट करती है। यदि यह मानें कि अन्य सोमयागों मे विनियुक्त होने के कारण ही इन्हें बाद मे रखा गया होगा, तो सिर्फ अग्निष्टोम मे ही विनियुक्त दधिग्रह को भी बाद मे रखने का औचित्य कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? इसके अतिरिक्त ग्रहों को दो स्थानों पर प्रयुक्त करने की सहज व्यवस्था मन्त्रों को पुनरुक्त करके करना ही संहिताओं विशेषत मैत्रायणी संहिता की परम्परा रही है। अग्निचितियाग में ही अनेकों मन्त्रो को आवश्यकतानुसार कई बार आवृत किया गया है। यथा—'नक्तोषासा

---

१ मै स ४।७७, तै स ६।६।६-१०

२ का स ३०।७

३ मै स ४।७।७, तै. स. ६।६।६-१०.

४ तै स भा. २।५६७

समनसा— मन्त्र भिन्न-भिन्न कार्यों में विनियुक्त करने के लिये चार वार आवृत्त किया गया है[1]। संहिता में पुनरावृत्त मन्त्रों की संख्या ७० के लगभग है।

अतः इन ग्रहों को परवर्ती विकास का एक स्पष्ट प्रमाण माना जा सकता है।

पांच ग्रहों के ही इस व्यापक मतभेद के आधार पर इस विस्तृत अग्निष्टोम-याग की नानाविधियों पर अनेकों मतभेदों की सहज ही कल्पना की जा सकती है। उन सभी अन्तरों को यहाँ समेट सकना सम्भव नहीं है। कुछ मुख्य और स्पष्ट अन्तरों को निम्न प्रकार से संकलित किया जा सकता है—

(क) संयोजन की भिन्नता—

उपर्युक्त पांच ग्रहों के अतिरिक्त भी ४ ग्रह-सम्बन्धी प्रकरणों के संयोजन में पर्याप्त भिन्नता है :—

१. मैत्रायणी और काठक संहिता में प्रतिनिग्राह्य अर्थात् द्विदेवत्यग्रह के होम-मन्त्र इनके ग्रह-मन्त्रों के साथ[2] हैं, यद्यपि दोनों के मन्त्र-पाठ में पर्याप्त अन्तर है। पर तैत्तिरीय संहिता[3] में ये होम-मन्त्र अन्य काण्ड में 'पवमानग्रहों की व्याख्या' प्रकरण के अन्तर्गत हैं। वाजसनेयी में ये मन्त्र ही नही हैं।

२. इसी तरह शुक्रामन्थीग्रह के होम-मन्त्र भी तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में हैं, किन्तु संहिताओं में[5] ग्रह-मन्त्रों के साथ हैं।

३. उक्थ्यग्रह के माध्यंदिन और तृतीय-सवन के मन्त्र मैत्रायणी-संहिता के ब्राह्मण-भाग में हैं,[6] किन्तु काठक के मन्त्र भाग में ही हैं।[7] शतपथ[8] में इन मन्त्रों को चरकाध्वर्युओं के मन्त्र कहकर उद्धृत किया गया है, वाजसनेयी के नहीं। पर इसमें भी तृतीय सवन के मन्त्र नहीं हैं। तैत्तिरीय-संहिता में ये मन्त्र कहीं भी नहीं हैं।

४. आदित्य ग्रह में दही मिलाने के मन्त्र मैत्रायणी के ब्राह्मण में हैं,[9] पर अन्य तीनों संहिताओं के मन्त्र-भाग में ही यथास्थान हैं।[10]

---

१ मै. सं. २।७।८.६४, २।७।६, २।७।१६।२२८, २।१०।६।६१.

२ मै. सं. १।३।६, का. सं. ४।२।१३.

३ तै. सं. ३।२।१०.

४ तै. १।१।१.

५ मै. सं. १।३।१२- का. सं. ४।४, वा. सं. ७।१२-१५.

६ मै. सं. ४।६।५.

७ का. सं. ४।६ (यह भी उल्लेखनीय है कि मा. श्रौ. सं. (२।४।३) में निर्दिष्ट इन मन्त्रों का पाठ काठक से अधिक मिलता है।

८ श. ४।२।३।१५-१७। शतपथ के मन्त्र भी काठक के निकट हैं।

९ मै. सं ४।६।६।६०-६२

१० तै. सं. १।४।२२।५, का. सं. ४।१०।५८-५६, वा. सं ८।५.

(ख) मैत्रायणी सहिता के विशिष्ट मन्त्र और क्रियाये, जो अन्य सहिताओ मे नही हैं —

१ सोम शकट की उत्तरी धुरी को छूकर जप करना और गाडी को ऊपर उठाना ।[1]

२ उत्तरवेदि मे डाले गये सम्भारो का समन्त्रक अभिमर्शन[2]

३ दीक्षा सस्कारो मे समन्त्रक वाक्-विमर्जन ।[3]

४ अग्नीषोमीय पशुयाग मे पर्यग्निकरण के बाद पशु को यूप से खोलने-सम्बन्धी एक समन्त्रक आहुति ।[4]

५ पशु-सज्ञपन के बाद यजमान द्वारा मन्त्र-जप ।[5]

५ मृत पशु की रशना को समन्त्रक खोलना और रखना[6] ।

७ वपा को काटने, प्रोक्षित करने, समेटने, तापने आदि क्रियाओं मे विनियुक्त छोटे-छोटे अनेक मन्त्राश ।[7]

८ पन्नेजल नामक जलो को समन्त्रक रखना[8] ।

९ ध्रुव ग्रह में अभिचार-मन्त्रो का प्रयोग ।[9]

१० *आदित्य-ग्रह को यजमान द्वारा समन्त्रक पकडना ।*[10]

११ आदित्य ग्रह की समन्त्रक आहुति[11] ।

१२ अतिग्राह्यग्रह के होम और भक्षण के मन्त्र ।[12]

१३ द्विदेवत्यपात्रो के रखने मे आभिचारिक-प्रयोग ।[13]

(ग) अन्य सहिताओ मे उपलब्ध मन्त्र या क्रियायें, जो मैत्रायणी मे नही हैं ।

---

१ मै स १।२।६।४१,४२ (यह सिर्फ का स २।७।३९ में है ।)
२ ,, १।२।८।५९ (,, ,, ,, २।९।४८ ,,)
३ मै स १।२।३।२२ (इस क्रिया के लिये वा स ४।११ मे एक अन्य मन्त्र *अवश्य है ।)*
४ मै स १।२।१५।१०२ (मा श्रौ सू १।८।३।२३ मे ये आहुतियाँ तीन हैं ।
५ ,, १।२।१५।१०५-१०७
६ ,, १।२।१५।१०८
७ ,, १।२।१६
८ ,, १।३।१।१५ (अन्य शाखाओ मे यह क्रिया अमन्त्रक है ।)
९ ,, ४।६।६
१० ,, १।३।२६।७४
११ ,, १।३।२६।७५
१२ ,, ४।७।३।९ (वा स ८।३८-४० मे भक्षण-मन्त्र अवश्य है)
१३ ,, ४।६।२ (का स २७।५।१७ मे इसका कुछ वर्णन है ।)

यथा—

१. यज्ञशाला-निर्माण के बाद उसमें प्रथम बार समन्त्रक प्रवेश।[१]

२. मेखला में समन्त्रक गांठ लगाना।[२]

३. सोमक्रयणी गाय के पद चिह्न का समन्त्रक परिलेखन।[३]

४. खरीदे हुये सोम को गाड़ी पर रखने के लिए कृष्णाजिन को गाड़ी में समन्त्रक बिछाना।[४]

५. सोमवाहक गाड़ी में बैलों को समन्त्रक जोड़ना।[५]

६. उपरव-निर्माण के बाद अध्वर्यु—यजमान का संवाद-मन्त्र।[६]

७. अभिषवण फलकों पर ग्रावाणों को समन्त्रक रखना।[७]

मैत्रायणी संहिता में अनुपलब्ध ऐसी विधियों या मन्त्रों की संख्या तो बहुत अधिक होगी, जो सिर्फ किसी एक संहिता में हैं। यथा—उपरवों में आहुति देने का निर्देश सिर्फ तैत्तिरीय संहिता है[८], और वपा पर आहुति का मन्त्र सिर्फ वाजसनेयी में।[९]

(घ) मन्त्र-सम्बन्धी अन्तर—उपर्युक्त दोनों स्थितियों से भिन्न ऐसी स्थिति भी अनेकों क्रियाओं की है, जो सब संहिताओं में हैं, किन्तु उनके मन्त्र अलग-अलग हैं। यथा—

उपरवों का अभिमर्शन-मन्त्र[१०], औदुम्बरी शाखा का स्थापनमन्त्र[११], हविर्धान-शकटों का प्रवर्तन-मन्त्र[१२] दक्षिण-हविर्धानमण्डप में सोम रखने के लिए गमन-मन्त्र[१३] इत्यादि।

---

१ वा. सं ४।१, का. सं. २।४।२१, तै. सं. १।२।३।२१.
मा. श्रौ. सू. २।१।१।६। (यद्यपि मन्त्र का स्थान सर्वत्र अलग-अलग है।)

२ वा. सं. ४।१०, श. ३।२।१५, का. सं. २।३।१२.

३ तै. सं. १।२।५।६, तै सं. भा. १।२५७, का. सं. २।५।
मै. सं. (३।७।७) में यह अमन्त्रक उल्लिखित है।

४ वा. सं. ४।३०, का. सं. २।६।३५, तै सं. १।२।८।७, मा. श्रौ. सू. २।१।४।२०.

५ वा. सं. ४।३३, तै. सं. १।२।८।८, का. सं. २।७।६, मा. श्रौ. सू. २।१।४।२७.

६ तै. सं. १।३।२।४-६, का. सं. २।११।६१, श. ३।५।४।१६-१७, मा. श्रौ. सू. २।२।३।११.

७ तै. सं. १।३।२।२०, का. सं. २।११।६१, वा. सं. ५।२५, मा.श्रौ.सू. २।३।१।२१.

८ तै. सं. १।३।२, तै. सं. भा. १।३५६.

९ वा. सं. ६।१६, श. ३।८।२।२२.

१० मै. सं. १।२।१०।७३-७४, वा. सं. ५।२४, श. ३।५।४।१५.
तै. सं. १।३।२।७।१०, तै. सं. भा. १।३५७.

११ मै. सं. १।२।११।७६ (वा. सं. ५।२७, तै. सं. १।३।१।१०-११, का सं. २।१२।६२ में इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति बिल्कुल भिन्न है)

१२ मै. सं. १।२।९।६२, का. सं. २।१०।५३, तै. सं. १।२।१३।६.

१३ मै. सं. १।२।१३।८६, तै. सं. १।३।४।५, तै. सं. भा. १।३७३.

एक ही क्रिया के लिए मन्त्रो की अधिकता-न्यूनता का अन्तर भी पर्याप्त है। यथा—मैत्रायणी-सहिता मे उपलब्ध ध्रुवग्रह के दो मन्त्र[1] काठक और तैत्तिरीय मे नही है। सरस्वतीय ग्रह के मन्त्र मैत्रायणी मे ५ काठक मे ४, वाजसनेयी मे और तैत्तिरीय मे ३ हैं।[2] षोडशीग्रह के मन्त्र तैत्तिरीय मे ५, वाजसनेयी में दो और मैत्रायणी तथा काठक मे १-१ ही है।[3]

मन्त्रों के पर्याप्त पाठ भेद के कारण छोटे-छोटे मन्त्राशो और तत्सम्बन्धी क्रिया मे तो और भी अधिक अन्तर मिलता है।

(ङ) क्रियाओ और प्रकरणो के पौर्वापर्य मे भिन्नता—सहिताओ के मन्त्र-क्रम के आधार पर यज्ञ-क्रियाओं के पौर्वापर्य मे भी बहुत अन्तर लगता है। यथा—मैत्रायणी सहिता मे दीक्षा-काल में यजमान को कृष्णाजिन पर चढाने से पूर्व वस्त्र से ढक देने का मन्त्र है,[4] किन्तु तैत्तिरीय और वाजसनेयी सहिताओं मे कृष्णाजिन पर चढाकर मेखला बाध देने के बाद यह आच्छादन मन्त्र आता है।[5] काठक मे तो यह मन्त्र कृष्णाविषाणा को भी अनुमन्त्रित करने के बाद हैं।[6] मैत्रायणी सहिता में हविर्धान-मण्डप निर्माण के प्रकरण मे सर्वप्रथम हविर्धान-शकट के अक्षो पर अनुलेपन का मन्त्र हैं,[7] किन्तु तैत्तिरीय और काठक मे आहुति-मन्त्र के बाद यह अनुलेपन-मन्त्र है,[8] और वाजसनेयी सहिता मे हविर्धानों की वर्त्तनियो मे आहुति देने के बाद यह मन्त्र दिया गया है।[9] इस प्रकार के स्थल कई हैं।

इन छोटी क्रियाओ के आगे-पीछे होने के साथ-साथ नि सन्देह यह विशेष उल्लेखनीय है कि पौर्वापर्य एक स्थल पर पूरे प्रकरण मे ही कर दिया गया है। यथा—मैत्रायणी सहिता मे पहले उपरवो के निर्माण मन्त्र हैं,[10] फिर औदुम्बरी शाखा-स्थापन व सदस्-मण्डप-निर्माण[11] और उसके बाद उपरवो के प्रोक्षण आदि और उन पर अधिषवण-फलक रखने के मन्त्र हैं[12]। मानवश्रौतसूत्र इसी क्रम से इन कार्यों का करने का निर्देश देता है।[13]

---

१ मैं स १।३।१५।४८-४६
२ मैं. स १।३।१६-२३, का स ४।८।३४-४१, वा स ७।३५-३८ तै स १।४।१७।१६
३ तै. स १।४।३७ ४२, वा स ८।३३-३४, मैं स १।३।३४, का स. ४।११।६६९
४ मैं स. १।२।२।१४, ३।६।६
५ तै स १।२।२।१०, तै स भा. १।२२१, वा. स ४।१०, श ३।२।१।१७
६ का स २।३।१२
७ मैं स. १।२।६।६०
८ तै. स. १।२।१३।२, का. सं. २।१०।५२.
९ वा स ५।१७, श ३।५।३।१३-१४
१० मै. स १।२।१०
११ ,, १।२।११।७५।७६
१२ ,, १।२।११।८०
१३ मा श्रौ सू. २।२।३

किन्तु तैत्तिरीय संहिता में औदुम्बरी-शाखा और सदस्-निर्माण का प्रकरण पहले हैं,[1] उपरव-निर्माण का वाद में।[2] काठक और वाजसनेयी में उपरव-निर्माण के वाद ही उनके प्रोक्षण और फलक स्थापन आदि के मन्त्र दिये गये हैं,[3] और शाखा व सदस्-सम्बन्धी मंत्र वाद में हैं।[4] दो स्थलों पर ऐसा पौर्वापर्य विलकुल भिन्न प्रकरणों में किया गया है। अग्नि-मन्थन के मन्त्र मैत्रायणी और वाजसनेयी[5] में आतिथ्येष्टि-प्रकरण में है, किन्तु तैत्तिरीय और काठक में अग्नीषोमीय-पशुयाग में हैं।[6] दक्षिणा-होम के मन्त्र मैत्रायणी और तैत्तिरीय में तृतीय-सवन में सब ग्रहों के अन्त में[7] है, पर काठक और वाजसनेयी में ये माध्यंदिन-सवन में विहित है।[8] उल्लेखनीय यह है कि स्वतः मानवश्रौतसूत्र भी माध्यंदिन-सवन में दक्षिणा मन्त्रों को विनियुक्त करता है।[9]

इस समस्त भिन्नता और मतभेद के होते हुये भी प्रमुख सभी विधियाँ सव संहिताओं में मान्य हैं। किन्तु मानवश्रौतसूत्र में इस यज्ञ का जो विशद और क्रमिक कलेवर वर्णित है वह मैत्रायणी-संहिता के मन्त्र और वर्णन से काफी भिन्न है। यद्यपि संहिता के प्रायः सभी मन्त्र सूत्र में विनियुक्त है। किन्तु सूत्र अनेकानेक नये मन्त्रों और विधियों के समावेश से और संहिता के मन्त्र-क्रम को परिवर्तित करके कुछ भिन्न स्वरूप उपस्थित करता है। सूत्र और संहिता की ऋत्विज्-वरण सम्बन्धी भिन्नता का वर्णन किया जा चुका है।[10] पूर्ववर्णित अतिग्राह्य षोडशी, दधि और अदाभ्य अंशु ग्रहों के सम्बन्ध में भी संहिता और सूत्र में पर्याप्त मतभेद स्पष्ट है।[11] इनके अतिरिक्त मैत्रायणीकार ऐन्द्रवायव, मित्रावरुण और आश्विन ग्रह-मन्त्रों के वाद ही इनके होम-मन्त्र देता है,[12] किन्तु सूत्रकार इन्हें वहुत वाद में विनियुक्त करता है।[13]

---

१ तै. सं. १।३।१.
२ ,, १।३।२.
३ का. सं. २।११, वा. सं. ५।२२-२५
४ का. सं. २।१२, वा. सं. ५।२६-३०.
५ मै. सं. १।२।७।४८-५२, वा. सं. ५।२-४, श. ३।४।१।२०-२६
६ तै. सं. १।३।७।४-१४, का. सं. ३।४।१८-२०.
७ मै. सं. १।३।३७, तै. सं. १।४।४३.
८ का. सं. ४।८। वा. सं. ७।४१-४८, श. ४।३।४.
९ मा. श्रौ. सू. २।४।५.
१० देखिये पांचवें अध्याय के पृष्ठ ११७ की टिप्पणी।
११ ,, ,, इसी अध्याय के पृष्ठ २३९ से २४३ तक
१२ मै. सं. १।३।६
१३ मा. श्रौ. सू. २।३।८.

यही स्थिति उक्थ्य-ग्रह के मन्त्रो की है जो मैत्रायणी मे आग्रायणग्रह के बाद है, किन्तु सूत्र मे प्रात सवन की अन्तिम विधि के रूप मे है।[1] शुक्रामन्थिन् ग्रह के होम-मन्त्र भी सूत्र मे भिन्न स्थल पर हैं।[2] दक्षिणाहोम के लिये भी ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार सूत्रकार उसे माध्यदिन-सवन मे निर्दिष्ट करता है, जबकि संहिता के अनुसार यह विधि तृतीय-सवन मे विहित है। मैत्रायणी संहिता मे अग्निष्टोम के ही अगभूत पश्वेकादशिनी-पशुयाग[3] की विधि सूत्र के अग्निष्टोम-प्रकरण मे न होकर अन्य प्रकरण मे कौकिली-सौत्रामणी याग के बाद पात्नीवतग्रह के पुन प्रयोग के साथ निर्दिष्ट है।[4] शतपथ मे यह याग अग्नीषोमीय पशुयाग के बाद वर्णित है।[5]

ये उद्धरण समस्त प्रकरण के स्थान परिवर्तन के ही हैं। मन्त्रो या मन्त्राशो के परिवर्तन या पौर्वापर्य के स्थल भी कई हैं। किन्तु विशेष उल्लेखनीय यह है कि सूत्र मे अनेको शाखान्तरीय मन्त्रो के विनियोग है। इनमे से ८-१० मन्त्र उपलब्ध संहिताओ के हैं। यह इसी प्रकरण के "ग" भाग मे वर्णित उद्धरणो से भी स्पष्ट हो जाता है।[6] सूत्रकार परिप्लवा, आधवनीय और पूतभृत् नामक जिन सोम पात्रो का का बहुधा उल्लेख करता है, इनमे से कोई नाम मैत्रायणी संहिता मे कही नही आया है। इसके अतिरिक्त सूत्र की अनेको छोटी-छोटी क्रियायें और निर्देश ऐसे हैं, जिनका संहिता मे परोक्ष संकेत भी नही हैं। ऐसी इन सभी प्रक्रियाओ को छोडकर इस याग को अधिकाधिक संहितानुकूल ही रखने का प्रयास किया है। संहिता और सूत्र के कई अन्तरो को साथ-साथ टिप्पणियो मे भी प्रदर्शित किया गया है।

वस्तुत यज्ञ की विशदता के अनुसार मतभेदो की सख्या का अधिक होना भी स्वाभाविक ही है।

वाजपेययाग की समीक्षा

इस याग के सम्बन्ध मे पहली समस्या यह है कि मैत्रायणी-संहिता का ब्राह्मण-भाग ऐसा कोई सकेत नही देता है, जिससे यह जाना जाये कि इस याग की विशिष्ट विधियाँ प्रकृतियाग के किस स्थल और काल मे अनुष्ठेय है। यद्यपि एक उल्लेख[7] से यह पूर्ण स्पष्ट है कि संहिताकार को इस याग मे तीनो सवनो का अनुष्ठान मान्य है। सम्भवत, इस विषय को सर्वज्ञात मानकर ही अनुल्लिखित रहने दिया होगा। अत यहाँ इस विषय मे शतपथ ब्राह्मण और मानवश्रौतसूत्र को विधान मान्य कर लिया गया है। केवल पशुयाग को इन ग्रन्थो के आधार पर न रखकर मैत्रायणी संहिता के ब्राह्मण भाग के आधार पर रखा है, क्योकि इस अगयाग के देवता और

---

१ मै स १।३।१४
२ मा. श्रौ सू. २।४।४
३ मै स ४।७।८-६
४ मा, श्रौ सू ५।२।१२
५ श ब्रा मा ३।२६८.
६ देखिये पृष्ठ २४६
७ मै स १।११।६

उनके लिये आहूत पशु का प्रयोजन अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडिशी और अतिरात्र जैसे अन्य सोमयागों के फलों को प्राप्त कर लेना ही वर्णित है[1]। और यह प्रयोजन मुख्य-विधि के बाद ही प्राप्त करने योग्य प्रतीत होता है। अन्यत्र मन्त्रक्रम को ही मान्य किया गया है।

सोमयाग के विकृतियाग 'वाजपेय' की विशिष्ट-विधि अन्य विकृतियागों से संक्षिप्त है। किन्तु इस यज्ञ के मन्त्र-क्रम में जितना उलट-फेर है, सम्भवतः उतना अन्यत्र नहीं है। मैत्रायणी-संहिता का क्रम न केवल अन्य संहिताओं से भिन्न है, अपितु मानवश्रौतसूत्र से भी अलग है।

सामान्यतः इस यज्ञ की विशिष्ट विधियाँ छह हैं—रथारोहण, रथ-दौड़, यूपारोहण, अन्नहोम, अभिषेक और अतिग्राह्य एवं प्राजापत्य ग्रह-कर्म। किन्तु इनमें से अन्नहोम और अभिषेक के अतिरिक्त चारों विधियों के मन्त्र-क्रम और मानवश्रौतसूत्र के विनियोग-क्रम में इतनी अधिक भिन्नता है कि उनका अनुष्ठय-काल भी अलग-अलग पड़ जाता है। मन्त्र-क्रमों की भिन्नता का विवरण इस प्रकार है—

(१) मैत्रायणी संहिता और मानवश्रौतसूत्र में रथारोहण और रथ-दौड़ के मूल मन्त्रों के क्रम में तो साम्य है। किन्तु इस प्रकरण की मुख्य भिन्नता उज्जिती मन्त्रों और १३ आहुति मन्त्रों के क्रम की है। इन दोनों प्रकार के मन्त्रों का एक पूरा अनुवाक[2] संहिता के वाजपेययज्ञ वाले प्रपाठक में सबसे अन्त में—ब्राह्मण-भाग की भी समाप्ति पर रखा गया मिलता है, जबकि तैत्तिरीय और वाजसनेयी संहिताओं में ये मन्त्र अभिषेक-मन्त्र के बाद आते हैं,[3] और काठक संहिता में अतिग्राह्य-प्राजापत्य ग्रह-सम्बन्धी मन्त्रों के बाद हैं।[4] वस्तुतः मैत्रायणी-संहिता में इस अनुवाक को परवर्ती परिवर्धन माना जा सकता है। इसी से ये समस्त मन्त्र प्रकरण के अन्त में रखे मिलते हैं। यदि इस अनुवाक को वाजपेय-मन्त्रों के अन्तिम चौथे-अनुवाक के बाद ब्राह्मण-व्याख्यान से पूर्व ही रख दिया जाये, तो मैत्रायणी का क्रम काठक के समान हो जायेगा।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय समस्या है कि मैत्रायणी-संहिता का ब्राह्मण[5]-भाग उज्जिती-मन्त्रों के वाचन का स्पष्ट उल्लेख मानवश्रौतसूत्र[6] के क्रमानुसार ही रथारोहण-काल में करता है, किन्तु आहुतियों का कोई उल्लेख वहाँ नहीं है। इससे तीन स्थितियों की सम्भावना का अनुमान किया जा सकता है:—पहली

---

१ मै. सं. १।११।६.
२ ,, १।११।१०.
३ तै. सं. १।७।११, वा. सं ९।३१-३४.
४ का. सं. १४।८.
५ मै. सं. १।११।७.
६ मा. श्रौ. सू. ७।१।२।२८.

स्थिति मन्त्र-क्रम के अनुसार यह होगी कि मैत्रायणी की एक शाखा में किसी काल मे ये दोनो ही कार्य-उज्जिती मन्त्रपाठ और आहुतियाँ—नही रहे होगे। दूसरी स्थिति ब्राह्मण-भाग के निर्देशानुसार सिर्फ उज्जिती मन्त्रो के प्रयोग की रही होगी। तीसरी स्थिति मे ही दोनों विधियाँ मान्य बनी होगी तभी समस्त अनुवाक जोडा होगा। यही तीसरी स्थिति सूत्र-काल की है। मैत्रायणी सहिता मे उज्जिती-मन्त्रो मे पाये जाने-वाले इन तीन प्रकारो मे से वाजसनेयी और तैत्तिरीय मे सिर्फ एक प्रकार का ही उपलब्ध होना इस स्थिति विकास की पुष्टि कर सकता है।

(२) मानवश्रौतसूत्र मे सर्वाधिक उलट-फेर मैत्रायणी-सहिता के मन्त्र १।११।३।१६ के भागो का है। इस लम्बे मन्त्र से क्रमश दुन्दुभि-अनुमन्त्रण, रथ-विमोचनीय आहुति, नैवार चरू को अश्वो को सुंघाना, अश्वों का सम्मार्जन और यूपारोहण की पाच मुख्य क्रियायें सम्पन्न की जाती हैं। यूपारोहण मे भी मन्त्र-क्रमानुसार क्रमश पत्नी-सम्वाद, यूप पर चढना, १३ आहुतियाँ देना, खारी मिट्टी का यजमान पर फेंकना और स्वर्ग प्राप्ति की भावना से युक्त मन्त्र-जाप की विधियाँ की जाती हैं।

किन्तु मानवश्रौतसूत्र[1] के निर्देशानुसार इन विधियो का क्रम इस प्रकार है—पत्नी-सवाद, यूप पर चढना, स्वर्ग प्राप्ति सम्बन्धी मन्त्र-जप, १३ आहुतियाँ, मिट्टी को फेंकना, रथों की वापसी-सम्बन्धी आहुति,[2] दुन्दुभि-अनुमन्त्रण, रथविमोचनीय आहुति, नैवार चरू को सुंघाना और अश्व-सम्मार्जन। इससे एक तो यह स्पष्ट होता है कि सूत्र यूपारोहण को पहले और अनुमन्त्रण आदि क्रियाओं को बाद मे निर्दिष्ट करता है, दूसरे सूत्र की यूपारोहण-प्रक्रिया मे भी क्रम-भिन्नता है।

मानवश्रौतसूत्र का यह समस्त क्रम अन्य किसी सहिता के मन्त्र-क्रम के अनुरूप नही बैठता है। किन्तु सूत्र का जप-मन्त्राश को आहुति और मिट्टी-प्रक्षेपण से पूर्व देना अवश्य ही काठक-सहिता[3] के मन्त्रपाठ के समान है। अन्य सब क्रियाओ का क्रम तैत्तिरीय, वाजसनेयी और काठक सहिताओ मे अपनी-अपनी विशिष्ट भिन्नता लिये हुये हैं। यथा—दुन्दुभि-अभिमन्त्रण का मन्त्र तैत्तिरीय और वाजसनेयी मे रथ दौड से पूर्व आता है।[4] वाजसनेयी सहिता मे अश्वो को रथ मे जोते जाते समय ही नैवार चरू सुंघाया जाता है[5]। तैत्तिरीय सहिता[6] मे यह सुंघाने का मन्त्र मैत्रायणी-सहिता के

---

१ मा श्रौ सू ७।१।३।१-१८

२ मै स (१।११।३।१५, १।११।७, मे यह आहुति रथ-घोड की तुरन्त समाप्ति पर दी जाती है।

३ का स १४।१

४ तै स १।७।८, वा. स ६।११, श. ५।१।५।६-१२

५ वा. स. ६।१६, श. ५।१।४।१५.

६ तै. स १।७।८

मन्त्र-क्रम के अनुसार है, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में वाजसनेयी संहिता के क्रमानुसार उल्लेख है।

(३) अतिग्राह्य और प्राजापत्य ग्रहों का ग्रहण मानवश्रौतसूत्र प्रातः सवन में में करता है[2]। किन्तु मैत्रायणी संहिता में इनके मन्त्र अभिषेक मन्त्र के बाद आते हैं। अतः संहिता के अनुसार इन ग्रहों को माध्यंदिन-सवन में ग्रहण करने का आशय स्पष्ट होता है[3]।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि संहिता का ब्राह्मणभाग प्राजापत्य ग्रहों का उल्लेख तो रथ-संस्कार से भी पूर्व सूत्र के क्रमानुसार ही करता[4] है, किन्तु अतिग्राह्य ग्रहों का संहिता के मन्त्र-क्रमानुसार[5]।

काठक और तैत्तिरीय संहिताओं[6] में ये ग्रहमन्त्र मैत्रायणी-संहिता के क्रमानुसार हैं, पर वाजसनेयी[7] में मानवश्रौतसूत्र के अनुसार। वाजसनेयी में सिर्फ अतिग्राह्यग्रहों के मन्त्र है, प्राजापत्य-ग्रहों के नहीं।

इस समस्त विविधता से मैत्रायणी-संहिता के वैशिष्टय का बोध तो होता ही है। इस यज्ञ की विधियों के अधिक जन-प्रचलित होने की पुष्टि भी हो सकती है।[8] क्योंकि जनप्रचलित क्रियाओं का विभिन्न वर्गों में प्रयोग होने से उनके क्रम में अधिक आगे-पीछे होना स्वाभाविक ही है।

विविध प्रकरणों में विशेष क्रम-भिन्नता के इस विवरण के अतिरिक्त एक अन्य उल्लेनखनीय विषय यह भी है कि संक्षिप्त-सी यज्ञ विधि में भी मानवश्रौतसूत्र अनेकों ऐसे मन्त्र उद्धृत करता है, जो मैत्रायणी संहिता के न होकर अन्य संहिताओं के हैं। इनमें भी तैत्तिरीय-संहिता के मन्त्र अधिक हैं। यह निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायेगा :—

१. रथ की ओर जाते समय बोला जाने वाला मन्त्र[9]।

२. रथ को अभिमन्त्रित करना।[10] सूत्र इस मन्त्र को शाखान्तरीय पद्धति से

---

१ तै. १।३।६.

२ मा. श्रौ. सू. ७।१।१।४०-४४.

३ मै. सं. १।११।४।२६-३३.

४ ,, १।११।६.

५ ,, १।११।६

६ का. सं. १४।३, तै. सं. १।७।१२.

७ वा. सं ९।२-४.

८ वै. प. द. २।४१९.

९ मा. श्रौ. सू. ७।१।२।२९, तै. सं. १।७।७.

१० ,, ७।१।२।३०, ,, १।७।७.

ही उद्धृत करता है। श्री सायण ने इस मन्त्र से रथ-अश्वों के सम्मर्शन का उल्लेख किया है।[१]

३ अश्व की लगाम थामने और उसे चलाने के मन्त्र[२]। यह उल्लेखनीय है कि सूत्र इन दोनों मन्त्रो का उल्लेख शाखीय संक्षिप्त विधि से ही करता है।

४ यजमान के यूप से उतरते समय हिरण्य और वस्ताजिन पर पैर रखने का मन्त्र[३]। सूत्र के 'हिरण्यमसि' की जगह तैत्तिरीय संहिता में 'अमृतमसि' पाठ अवश्य है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मैत्रायणी-संहिता का ब्राह्मण[४] भी सूत्र-निर्दिष्ट मन्त्रो का व्याख्यान देता है।

५ यूप से उतरने का मन्त्र[५]। इसी मन्त्र का एक अंश मानवश्रौतसूत्र[६] चौकी पर बैठे यजमान को अनुमन्त्रित करने में भी पुनः देता है। उल्लेखनीय यह है कि शतपथ ब्राह्मण[७] इस मन्त्र से चौकी पर वस्ताजिन बिछाकर यजमान को उस पर बिठाने का ही निर्देश देता है, यूप से उतरने का नहीं।

६ प्राजापत्य सोम और सुरा ग्रहो को लाने का मन्त्र[८]।

अन्य संहिताओ मे उपलब्ध इन मन्त्रो के अतिरिक्त दो मन्त्र ऐसे भी हैं, जिन्हे मानवश्रौतसूत्र शाखीय पद्धति से उद्धृत करता है,[९] पर वे मन्त्र मैत्रायणी के अग्निचिति प्रकरण मे हैं[१०], वाजपेय-प्रकरण मे नही।

वाजपेय मे अंशु-अदाभ्यग्रह के प्रयोग के विषय भी मैत्रायणी और मानवश्रौत-सूत्र मे स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे पहले ही विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है।[११]

श्री चिन्नस्वामी शास्त्री ने दो प्रकार के वाजपेय का उल्लेख किया है, एक आप्त वाजपेय, दूसरा कुरु वाजपेय।[१२] पर वहाँ दिया गया विवरण सर्वांश में न संहिता से मिलता है, न सूत्र से।

---

१ तै सं भा २।८०३.
२ मा. श्रौ सू १।१।२।३४-३५, तै स १।७।८।
३ „ ७।१।३।१६, „ १।७।९।
४ मै स १।११।८
५ मा श्रौ सू ७।१।३।१५, वा स ९।२२
६ „ ७।१।३।१८
७ श ५।२।१।२५
८ मा श्रौ सू ७।१।३।३०, वा स ९।४, श ५।१।२।१८
९ „ ७।१।१।३५-३६
१० मै स २।१३।५।२१, २।१३।९।६६
११ देखिये इसी अध्याय के पृष्ठ २४२, २४३
१२ य त प्र, पृ ८६

राजसूययाग की समीक्षा

राजसूय अग्निष्टोम का विकृतियाग है। स्वतः मैत्रायणी संहिता[1] अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्ययागों के अतिरिक्त अन्य सब यज्ञों को 'सौम्योऽध्वरः' कहकर सोमयागों की श्रेणी में रखती है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि संहिता वाजपेय की तरह समस्त राजसूय प्रकरण में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं देती है कि इस विकृतियाग की कौन-सी विधि प्रकृतियाग के किस स्थल पर अनुष्ठित की जानी चाहिये। समय का उल्लेख सूत्रग्रन्थों या शतपथ ब्राह्मण में ही मिलता है। अतः उन्हीं में वर्णित समय को स्वीकार किया गया है। राजसूय में अग्निष्टोम की तरह ही तीनों सवनों का यथाविधि अनुष्ठान संहिता को मान्य है. इसकी पुष्टि तीनों सवनों में प्रयुक्त किये जाने वाले सामों और स्तोमों के सम्बन्ध में दिये गये संहिता के विशेष निर्देशों से भी की जा सकती है।[2]

किन्तु यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि इस विशिष्ट यज्ञ की संख्या-बहुल और जटिल विधियों में मूलतः साम्य ही है, यद्यपि इसके ३ स्थल विचारणीय हैं।

सर्वप्रथम चातुर्मास्ययाग का राजसूय के अंग रूप में विधान करना उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में विशद विवेचना चातुर्मास्य के समीक्षा-प्रकरण में की जा चुकी है।[3] वस्तुत. तैत्तिरीय संहिता में चातुर्मास्य का स्वतन्त्र अस्तित्व न होना, काठक में सिर्फ शुनासीरी पर्व का राजसूय में मिलना, मैत्रायणी के राजसूय में शुनासीरी-पर्व की सिर्फ दक्षिणा का होना और ब्राह्मणों में राजसूय में समस्त चातुर्मास्य के अनुष्ठान का विधान करना—इत्यादि ऐसे विचारणीय तथ्य हैं, जिनसे संहिताओं के गठन पर ही नहीं, यज्ञ-विकास के स्वरूप पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

दूसरा स्थल है राजसूय की विशिष्ट-विधि 'दशपेय' नामक अवभूत सोमयाग का। यह विधि तैत्तिरीय-संहिता में राजसूय की मूल विधि के मन्त्रभाग में ही निर्दिष्ट है।[4] किन्तु मैत्रायणी और काठक के मन्त्रभाग में इसका कोई संकेत नहीं है।[5] यद्यपि मैत्रायणी का ब्राह्मण-भाग इस विधि का संक्षिप्त व्याख्यान करता है।[6] यह यह सम्भावना की जा सकती है कि इस अंश को व्याख्यानपरक मानकर मैत्रायणी-संहिता के संकलनकर्ता ने मन्त्रभाग में सम्मिलित न किया हो, क्योंकि मैत्रायणी के गठन में मन्त्र और विधिभाग को व्याख्यान-भाग से पृथक करके रखने की स्पष्ट वृत्ति लक्षित होती है। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण विधि के विषय में विधि-भाग में कुछ भी संकेत

---

१ मै. सं. १।६।५.
२ मै. सं. ४।४।१०.
३ देखिए इसी अध्याय पृष्ठ २३२ से २३६ तक
४ तै. सं. १।८।१८.
५. मै. सं. २।६।१३, का. सं. १५।६.
६. मै. सं. ४।४।७.

न देना आश्चर्यजनक, है, यद्यपि इसी राजसूय-प्रकरण मे अनुमति-निऋति के यजन[1] और अपमार्गहोम[2] के बारे मे दिये गये निर्देश ब्राह्मण-शैली मे ही हैं। वस्तुत जैसा विविध ब्राह्मण-व्याख्यानो[3] से स्पष्ट है कि इस विधि मे मन्त्र-सम्बन्धी या हवि-सम्बन्धी कोई परिवर्तन नही है, सोमपान के प्रकार और दीक्षा मे १२ पुण्डरीको की माला का प्रयोग ही इस अगयाग का वैशिष्ट्य है। ऐसी स्थिति मे इस विधि को स्पष्टत परिवर्ती परिवर्धन माना जा सकता है। साथ ही यह अनुमान करना भी नितान्त निराधार नहीं माना जा सकता है कि सहिता के मन्त्रभाग को ही प्रामाणिक मानने वाले मैत्रायणीयो के किसी सम्प्रदाय मे इस दशपेय का अनुष्ठान ही नहीं किया जाता होगा। काठक सहिता के राजसूय-प्रकरण[4] मे भी इसका उल्लेख न होने से इसी अनुमान की पुष्टि की जा सकती है। यद्यपि यह भी उल्लेखनीय है कि काठक-सहिता मे राजसूय का सिर्फ मन्त्रभाग ही है, ब्राह्मण भाग नही।

तीसरा महत्वपूर्ण प्रसग सौत्रामणी को भी राजसूय के अगयाग के रूप मे वर्णित करने का है। तैत्तिरीय सहिता[5] मे चातुर्मास्य की तरह सौत्रामणी का उल्लेख भी केवल राजसूय के प्रकरण मे है। वाजसनेयी सहिता[6] भी राजसूय के प्रकरण मे सौत्रामणी के मन्त्र देती है। शतपथ ब्राह्मण के सायणभाष्य[7] मे इसे 'चरक सौत्रामणी' का नाम दिया गया है। सौत्रामणी का अन्य प्रकार 'कौकिली सौत्रामणी' का विवरण तैत्तिरीय सहिता के बदले तैत्तिरीय ब्राह्मण[8] मे है, जहाँ पूर्वोक्त चरक सौत्रामणी के मन्त्र भी उपलब्ध हैं।[9] किन्तु मैत्रायणी और काठक सहिताओ मे राजसूय के प्रकरण मे सौत्रामणी का सकेत भी नही है[10]। इन दोनो सहिताओ मे चरक सौत्रामणी के मन्त्र काम्य इष्टियो के प्रकरण मे हैं,[11] और कौकिली सौत्रामणी के लिए पृथक अध्याय है।[12] वाजसनेयी में भी कौकिली के अलग अध्याय हैं।[13] मानवश्रौतसूत्र[14] भी राजसूय के उपसहार में सौत्रामणी के अनुष्ठान का निर्देश देता है। किन्तु काम्येष्टि मे वर्णित

---

१ मै स २।६।१
२ मै स २।६।३
३ मै स ४।४।७ श ५।४।५।३-५, तै १।८।२
४ का स १५।१-१०
५ तै स १।८।२१
६ वा स. १०।३१-३४
७ श. ब्रा भा ५।१६३
८ तै. २।६
९ त २।६।१
१० मै. स. २।६,४।४, का स १५.
११ मै स. २।३।८, का स १२।६
१२ ,, ३।११ ,, ३८
१३ वा स १९, २०
१४ मा श्रौ सू ९।१।५।४९

चरक-सौत्रामणी के प्रसंग में मैत्रायणी और काठक दोनों ही राजसूय से अभिषिक्त यजमान के क्षीण हुए बल को पुनः पाने के लिए सौत्रामणी-अनुष्ठान का निर्देश अवश्य देती है।[1] इससे यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यत्र राजसूय में सौत्रामणी की जो स्थिति अपरिहार्य है, वह मैत्रायणी व काठक में काम्य अर्थात् ऐच्छिक है।

इन तीन विशिष्ट प्रकरणों के अतिरिक्त सत्यदूत हविर्याग के बाद वर्ष भर तक अग्निहोत्र के अनुष्ठान का निर्देश देना[2] भी मैत्रायणीसंहिता की एक उल्लेखनीय विशिष्टता है। इसी के कारण राजसूययाग का समय सवा साल के बदले सवा दो साल तक हो जाता है। यद्यपि मैत्रायणी संहिता में ऐसा कोई संकेत नही है जिससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो सकता हो कि केशवपनीययाग इस अग्नि-होत्र अनुष्ठान की अवधि की समाप्ति पर होना चाहिए, और इस अवधि में दाड़ी-मूंछ आदि कटवाने का निषेध है। किन्तु केशवपनीय याग की सार्थकता और उपयोगिता के लिए ये दोनों बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं। अन्यथा राजसूय की प्रधान-विधि तक अनेक बार दीक्षा-विधि का अनुष्ठान होते रहने से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यजमान के कौन से बाल 'केशवपनीय' में काटने योग्य होंगे, क्योकि दीक्षा काल में ही समस्त बालों का साफ करवाना आवश्यक है। अतः उपर्युक्त दोनों बातों को स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। किन्तु अन्यत्र भी इसका कोई समर्थित साक्ष्य न मिलने से निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। मानवश्रौतसूत्र में सत्यदूत हविर्याग के बाद ही केशवपनीयाग का उल्लेख है।[3] यदि मैत्रायणी संहिता की भी यही स्थिति मानी जाये, तो केशवपनीयाग के बाद वर्ष भर तक अग्निहोत्र करना होगा। यह बात भी मैत्रायणी के निर्देश के अनुकूल प्रतीत नहीं होती है।

इस प्रकरण-भेद के अतिरिक्त विभिन्नता के कुछ अन्य पहलू भी हैं, जिन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

मैत्रायणी-संहिता में ही उपलब्ध विधियाँ या मन्त्र—

१. अनुमति-हवि के यजन के बाद वल्मीक वपा को खोदकर समन्त्रक आहुति देना और उसके छिद्र को समन्त्रक ढक देना।[4] यह काठक संहिता में भी है।[5]

२. 'इन्द्रस्य योनिरसि' से अभिषेक काल में कृष्णविषाणा को अनुमन्त्रित करना।[6]

---

१ मै. २।४।१, का. सं. १२।१०.

२ मै. सं. ४।४।६.

३ मा. श्रौ. सू. ६।१।५४२.

४ मै. सं. २।६।१.

५ का. सं. १५।१.

६ मै. सं २।६।११।२६.

३ यजमान द्वारा अपनी पत्नी को प्रत्यचा देना ।[1]

४. रथ के उतरने पर यजमान द्वारा दो मन्त्रो का जप करना।[2] ये मन्त्र भी काठक मे हैं ।[3]

मैत्रायणी सहिता मे अनुपलब्ध मन्त्र, विधि या निर्देश—

इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि ये मन्त्र आदि मानवश्रौतसूत्र में भी मिल जाते हैं ।

१ निऋति की आहुति देने से पूर्व एक अन्य आहुति का विधान ।[4]

२ अनुमति-यजन से पूर्व एक आहुति का समन्त्रक विधान[5] ।

३ त्रिपयुक्त हवियो मे अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम और सोम की तीन हवियो का एक अन्य वर्ग ।[6] यह हवि-वर्ग मानवश्रौतसूत्र मे नही है ।

४ अभिषेक के बाद शुन शेप के आख्यान-वाचन का निर्देश ।[7]

५ राजसूय की समस्त विधि के बाद द्वि-रात्र सोमयाग के अनुष्ठान का निर्देश[8]। मैत्रायणी सहिता का अग्निहोत्र-अनुष्ठान सम्भवत इसी का समानान्तर विधान है ।

६ मित्र-बृहस्पति की वेदि, बर्हि, इध्म आदि के भी स्वयकृत होने का निर्देश ।[9]

७ यजमान द्वारा अभिषेक से पूर्व दधि-भक्षण ।[10]

८ यजमान द्वारा जूते पहनते समय बोला जाने वाला मन्त्र ।[11]

मैत्रायणी के ब्राह्मण-भाग मे इसी क्रिया के लिये अन्य मन्त्र हैं ।[12]

---

१ मै. स ४।४।५

२ ,, २।६।१२।३३-३४

३ का स १५।८।२०-२१

४ तै स १।८।१।३, मा श्रौ सू ९।१।१।११

५ ,, १।८।१ ,, ९।१।१।१४

६ ,, १।८।८, श ५।२।५।९-१२

७ मा श्रौ सू ९।१।४।३, तै १।७।१०

८ ,, ९।१।५।४६, १।८।१०, का स १५।१०, पर श (५।५।३।५) मे अतिरात्र का निर्देश है ।

९ तै स १।८।९, का स १५।५, मा श्रौ सू ९।१।२।६

१० मा श्रौ सू ९।१।३।७, तै १।७।६
(यद्यपि सूत्र वस्त्र पहनने से पूर्व खाने का उल्लेख करता है, पर ब्राह्मण बाद मे)

११ तै सं १।८।१५।१, मा. श्रौ सू ९।१।४।७

१२ मै स ४।४।६।६

९. यजमान को मंगलवाची नामों से पुकारने का मन्त्र ।[1]

मैत्रायणी में यह क्रिया तो विहित है,[2] पर तत्सम्बन्धी मन्त्र नहीं हैं ।

१०. मैत्राबार्हस्पत्य हवि की श्वेतवर्णा गाय की वैकल्पिक दक्षिणा ।[3]

कुछ प्रमुख विधियों का शुक्ल यजुर्वेदीय शाखा में न होना—

राजसूय की यह उल्लेखनीय विशिष्टता है कि कृष्ण शाखाओं में पाई जाने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण विधियों का वाजसनेयी संहिता या शतपथ ब्राह्मण में कोई उल्लेख ही नहीं है ।[4] यथा—

१. अनुमतियाग के बाद जिन पांच विशेष हविर्यागों का विधान मैत्रायणी आदि में है,[5] उनमें से आदित्य और अग्नि के दो हविर्याग शतपथ में नहीं हैं ।[6]

२. देविकाहविर्याग ।[7]

३. रत्नि-हवियों के बाद की इन्द्र-सम्बन्धी दो हवियां[8] । शतपथ इनके बदले सोम-रुद्र की एक सर्वथा भिन्न हवि का निर्देश करता है[9] ।

४. अवभृथ के बाद की तीन आहुतियां[10] ।

५. सत्यदूत हविर्याग[11] ।

इस स्थिति के बिलकुल विपरीत यह भी उल्लेखनीय है कि संसृप-हवियों के मन्त्र केवल वाजसनेयी-संहिता में ही हैं ।[12]

(घ) यज्ञ-प्रक्रिया के क्रम में अन्तर—

१. मैत्रायणी में क्रमशः इन्द्रतुरीय इष्टि, अपमार्गहोम और पंचेध्मीयहोम की विधियां की जाती हैं । किन्तु तैत्तिरीय संहिता में पंचेध्मीयहोम-पंचावत्तीय-पहले हैं, अपामार्ग बाद में । शतपथ में सर्वप्रथम पंचेध्मीय-पंचवातीय-का निर्देश है, तदनन्तर क्रमशः इन्द्रतुरीय और अपामार्गहोम का ।[13]

---

१ तै. सं. १।८।१६।१८-२०, मा. श्रौ. सू. ९।१।४।२६.

२ मै. सं. ४।४।६।८.

३ मा. श्रौ. सू. ९।१।२।१४, का. सं. १५।५, तै. १।७।३.

४ मा. श्रौ. सू. ९।१।५।४०, का. सं. १५।९.

५ मै. सं. २।६।१, तै. सं. १।८।१, का. सं. १५।१.

६ श. ५।२।३।६-८.

७ मै. सं. २।६।४, तै. सं. १।८।८, का. सं. १५।३.

८ मै. सं २।६।६, तै.सं. १।८।९।२, का. सं. १५।४.

९ श. ५।३।२।१-२.

१० मै. सं २।६।१३।४४, तै. सं. १।८।१६।२१-२३, का. सं. १५।८।२९.

११ ,, २।६।१३, ,, १।८।१९, ,, १५।९.

१२ वा. सं. १०।३०, श. ५।४।५।२.

१३ मै. सं. २।६।३, तै. सं १।८।७, श. ५।२।४।४-२०.

२ मैत्रायणी मे अभिषेचनीय की दीक्षणीयेष्टि में मित्र की चरु-हवि से पहले यजन होता है बृहस्पति की से बाद मे। पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में विपरीत क्रम को उचित माना है।[1]

३ मैत्रायणी मे जल-ग्रहण से पूर्व ही मरुतों के तीन पुरोडाशों को बनाने के लिये कपालोपधान का मन्त्र आता है, किन्तु तैत्तिरीय सहिता मे यजमान को सज्जित करके उसके दिशाओं को विजित कर लेने के बाद यह मन्त्र दिया गया है।[2]

४ मैत्रायणी और काठक मे राजपुत्र के साथ दी जाने वाली प्रजापति की आहुति द्यूत-क्रीडा के बाद दी जाती है। पर तैत्तिरीय और वाजसनेयी में यह अभिषेक के तुरन्त बाद विजय-अभियान से भी पूर्व देने का विधान है।[3]

५ मैत्रायणी मे प्रयुज् हविर्याग दोनों पशुयागो और सत्यदूत-हविर्याग से पूर्व अनुष्ठेय है, किन्तु तैत्तिरीय सहिता मे पशुयाग और सत्यदूत हवियों के बाद वर्णित है। शतपथ का क्रम मैत्रायणी के अनुकूल है।[4] यद्यपि यह भी ध्यान रखने योग्य है कि शतपथ में सत्यदूत हविर्याग है ही नही।

उपर्युक्त विवेचन से राजसूययज्ञ के विषय मे सामान्य भेदो पर पर्याप्त प्रकाश पडते हुये भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ की मूलविधियों मे जटिलताओ के बावजूद भी समानतायें कम नहीं है।

अश्वमेध यज्ञ की समीक्षा

अश्वमेध यज्ञ की स्थिति के विषय में जैसा पहले कहा जा चुका है कि इसके मन्त्र तैत्तिरीय और वाजसनेयी सहिताओं में बिखरे हुये हैं, और मैत्रायणी व काठक में एक साथ सकलित हैं। इसमे भी विशेष उल्लेखनीय यह है कि काठक का सकलन तैत्तिरीय के अनुरूप है, और मैत्रायणी का वाजसनेयी के निकट। यह और भी विचारणीय है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अधिकांश व्याख्यान-क्रम-मैत्रायणी के मन्त्र-क्रम के समान है।

मैत्रायणी सहिता मे अश्वमेध-सम्बन्धी मन्त्र पाच प्रपाठकों मे सकलित हैं। एक प्रपाठक मे यज्ञ की मुख्य विधि के मन्त्र हैं।[5] अगले दो प्रपाठको में ग्राम्य और आरण्य पशुओं के देवता-सम्बन्धी विशिष्ट विधानों के द्योतक हैं।[6] चौथे प्रपाठक में

---

१ मै सं २।६।६, तै १।७।३

२ ,, ,, तै स १।८।१३

३ मै स २।६।१२।४१,४३, का स १५।८।२७-२८, तै स. १।८।१४।१२ वा स १०।, श ५।४।२।६।

४ मै स २।६।१३, तै स १।८।२०, श ५।५।२

५ मै स ३।१२

६ ,, ३।१३-१४

अश्वांग-परिकल्पित आहुतियों के मन्त्र और सर्वपृष्ठ एवं मृगारेष्टि की हवियों का निर्देश है।[१] पाचवें प्रपाठक[२] के पांचों अनुवाकों का विवरण पहले दिया जा चुका है।[३] मैत्रायणी संहिता में इन पहले चार प्रपाठकों के क्रम के समान ही वाजसनेयी संहिता में एक साथ चार अध्यायों में अश्वमेध के मन्त्र हैं।[४] पांचवें प्रपाठक में जिस प्रकार यज्ञ की आगे-पीछे अनुष्ठित अनेक विधियों के मन्त्रों को क्रम का ध्यान न करते हुये एक साथ रख भर दिया गया है, उसी प्रकार वाजसनेयी संहिता में भी इन विधियों के मन्त्रों का कोई क्रम नहीं है। अन्तर सिर्फ इतना है कि मैत्रायणी में ये मन्त्र एक प्रपाठक में एकत्रित तो हैं, किन्तु वाजसनेयी संहिता में ये अलग-अलग अध्यायों में बिखरे मिलते हैं।[५]

दूसरी ओर तैत्तिरीय संहिता में अश्वमेध के मन्त्र अनेक अन्य यज्ञों के बीच-बीच में तीन काण्डों—चौथे, पांचवें और सातवें काण्डों तक में फैले हुये हैं। यद्यपि तैत्तिरीय संहिता के चौथे काण्ड में मुख्यतः अग्निचितियाग के मन्त्र हैं, किन्तु इसी काण्ड के तीन प्रपाठकों के कुछ अनुवाकों में अश्वस्तोमीय, शस्त्र और याज्यापुरोनुवाक्या के मन्त्र दिये गये हैं।[६] इसी तरह पांचवें काण्ड में प्रधानतः अग्निचितियाग का ही ब्राह्मण है, पर इस काण्ड के प्रत्येक प्रपाठक के अन्त में अश्वमेध के पशु-सम्बन्धी मन्त्र या ब्राह्मण-भाग आदि हैं।[७] सातवें काण्ड की स्थिति भी पांचवें की तरह ही है, जहां प्रत्येक प्रपाठक के अन्तिम दस अनुवाकों में अश्वमेध की मुख्य-विधि के मन्त्र हैं।[८] काठक संहिता में "पंचग्रन्थ" के नाम से संगठित संहिता के अन्तिम भाग में अश्वमेध के जिन मन्त्रों को १३ वचनों में संकलित किया गया है, उनका पाठ और क्रम तैत्तिरीय संहिता के समान है। यद्यपि तैत्तिरीय संहिता के सप्तम काण्ड के पांच प्रपाठकों में आये मन्त्र काठक संहिता के प्रथम पांच अनुवचनों में ही संगृहीत हैं,[९] चौथे काण्ड के मन्त्र छठे अनुवचन[१०] में और पाँचवें काण्ड के पशु-निर्देश सबसे अन्त

---

१ मै. सं. ३।१५.

२ ,, ३।१६.

३ देखिए तीसरे अध्याय का पृष्ठ ३१।

४ वा. सं. २२-२५.

५ ,, २५।२४-३६, २६।१-११, २३।५-६, २६।३७-४४, ५२-५४, २४।८-६.

६ तै. सं. ४।४।१२, ४।६।६-६, ४।७।१५.

७ ,, ५।१।११, ५।२।११-१२, ५।३।१२, ५।४।१२, ५।५।११-१४, ५।६।१२-२३, ५।७।११-२६.

८ ,, ७।१।११-२०, ७।२।११-२०, ७।३।११-२०, ७।४।१२-२२, ७।५।११-२५.

९ का. सं. (पंचम ग्रन्थ) वचन १-५.

१० ,, ,, ,, ६.

मे दिये गये हैं।[१] किन्तु यह पौर्वापर्य-क्रम प्रकरणो के गठन में ही हैं, मन्त्र-क्रम मे नही।

सकलन की इस उपर्युक्त भिन्नता से यह स्पष्ट हो जाता है कि अश्वमेध-सम्बन्धी अन्तर वस्तुत तैत्तिरीय और मैत्रायणी सहिताओ के मध्य मे है, और यह अन्तर केवल सकलन-भिन्नता तक ही सीमित नही है, दोनो मे मन्त्रो आदि का भी पर्याप्त अन्तर है। मैत्रायणी मे मन्त्र कम हैं। तैत्तिरीय सहिता मे,[२] आये क्रमश: उद्‌द्रावहोम, पूर्वहोम, पूर्वदीक्षाहोम, ऋतुदीक्षा, सावित्रहोम, अश्वमेधाग पर्याप्तिहोम, आप्ति-आप्तहोम, परियानमन्त्र, क्षपाहोम, व्याप्यहोम, सततीहोम, प्रयुक्तिहोम, अश्वमेधाग अन्नहोम, शरीरहोम, अश्वानुमन्त्र, सन्नतिहोम और यजमान द्वारा बुलवाये जाने वाले आदि अनेको मन्त्र मैत्रायणी सहिता मे नही है, न ही इन विधियो के लिये किन्ही स्थानापन्न मन्त्रो का विधान है। यद्यपि तैत्तिरीय के उद्‌द्रावहोम, पूर्वहोम और पूर्वदीक्षाहोम के कुछ मन्त्र मैत्रायणी के अन्नहोममन्त्रो[३] से मिलते-जुलते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी-सहिता मे अन्नहोम के सख्यावाची मन्त्रो के सात स्वाहाकारो का एक छोटा सा अनुवाक है,[४] किन्तु तैत्तिरीय सहिता मे ये ही सख्यामन्त्र २० अनुवाको मे हैं,[५] जिनमे प्रत्येक सख्या का सविस्तर उल्लेख है। मैत्रायणी सहिता मे अश्वमेध का ब्राह्मण-भाग न होने से यह अनुमान लगाना कठिन है कि मैत्रायणीकार को यह सक्षेप ही अभीष्ट है, अथवा एक एक सख्या-मन्त्र को तत्सम्बन्धी अन्य सख्याओ के प्रतिनिधि अथवा प्रतीक रूप मे लेकर समस्त सख्या-मन्त्रो का ही प्रयोग मान्य है।

तैत्तिरीय सहिता के मन्त्र-क्रम से बहुत भिन्न और मैत्रायणी के अनुकूल पडने वाला तैत्तिरीय ब्राह्मण का व्याख्यान क्रम भी एक उल्लेखनीय पहलू है। यथा—तैत्तिरीय सहिता मे अश्व-रशना को बाँधने वाले मन्त्र के बाद अश्व के कान मे बोला जाने वाला मन्त्र है।[६] किन्तु मैत्रायणी सहिता ने इन दो मन्त्रो के बीच मे कुत्ते को मारने, स्नान के बाद अश्व का अनुमन्त्रण करने और अश्वचरितो की आहुतियाँ देने वाले तीन मन्त्र और भी हैं,[७] और यही स्थिति तैत्तिरीय ब्राह्मण की है,[८] जबकि

---

१ वा स (पचम ग्रन्थ) वचन ७-१३

२ तै स ७।१।११-१८,२०, ७।२।११-१३, ७।४।१२-१४, १६-१७, २१-२२, ७।५।११-१२, १६, २३-२४ (एक-एक अनुवाद मे एक-एक विधि के मन्त्र हैं।)

३ मै. स ३।१२।७-१०

४ ,, ३।१२।१५

५ तै स ७।२।११-२०

६ ,, ७।१।११ १२.

७ मै स ३।१२।१-३।३-५

८ तै ३।८।३-४, ६-६.

तैत्तिरीय संहिता में कुत्ते को मारने का मन्त्र अगले प्रपाठक में है,[1] और अन्य मन्त्र भी वाद में हैं ।[2] अन्य अनेक स्थलों पर ऐसा साम्य मिलता है । वैश्वदेव-आहुतियों के मन्त्रों का व्याख्यान-क्रम भी तैत्तिरीय ब्राह्मण में मैत्रायणी के मन्त्र-क्रम के समान ही हैं,[3] यद्यपि मन्त्रपाठ तैत्तिरीय संहिता के अनुरूप है ।[4] वस्तुतः मैत्रायणी-संहिता के अश्वमेधीय मन्त्रों के प्रथम १५ अनुवाकों का क्रम तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूर्णतः समान है ।[5] इसके वाद तैत्तिरीय ब्राह्मण तैत्तिरीय-संहिता के मन्त्रक्रम के अनुसार भी पुनः व्याख्यान देता है,[6] यह एक उल्लेखनीय वात है । इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण का मन्त्रपाठ तो सर्वत्र तैत्तिरीय संहिता के अनुरूप रहता ही है जैसा वैश्वदेव-प्रकरण ऊपर कहा जा चुका है । और जो मन्त्र मैत्रायणी में नहीं हैं, उनका व्याख्यान तो तैत्तिरीय संहिता के ही क्रमानुसार है ।

संक्षेपतः तैत्तिरीय संहिता में अश्वमेध के मन्त्रों की अत्यन्त अस्त-व्यस्त स्थिति, काठक में प्रकरणों का भिन्न गठन और तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी क्रम-भिन्नता को देखते हुये यह अनुमान करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि वस्तुतः तैत्तिरीय संहिता में अश्वमेध के मन्त्रों का गठन यज्ञविधि के आधार पर नहीं किया गया है, अपितु अश्वमेध के समस्त मन्त्र परवर्ती परिवर्धन है, जिसमें अन्य किसी वात का ध्यान न रखते हुये मन्त्रों को संकलितमात्र कर दिया गया है । अथवा यह भी सम्भव है कि इन मन्त्रों का पहले अश्वमेध में प्रयोग ही न होता होगा । क्योंकि इसी सम्वन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहये कि तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध के कुछ मन्त्रों को दो वार भिन्न-भिन्न क्रियाओं के साथ व्याख्यात किया गया है ।[7]

मैत्रायणी संहिता का अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित संयोजन इसके आदित्य सम्प्रदाय से सन्वन्ध और इसके परवर्तित्व का परिचायक माना जा सकता है, और इसका संक्षेपीकरण मैत्रायणी-सम्प्रदाय की सरल यज्ञ-पद्धति को संकेतित करता प्रतीत होता है ।

इस संकलन-संयोजन के वाद दूसरा मुख्य प्रश्न अश्वमेध के सोमयाग होने का है । मैत्रायणी-सम्प्रदाय की दृष्टि में अश्वमेध सोमयाग है, यह मैत्रायणी संहिता के एक कथन से स्पष्टतः अनुमानित किया जा सकता है, जहां यज्ञों का वर्गीकरण करते

---

१ तै. सं. ७।४।१५।१-२.

२ ,, ७।१।१४, १९.

३ मै. सं. ३।१२।५, तै. ३।८।१०-११.

४ तै. सं. ७।३।१५.

५ मै. सं. ३।१२।१-१५, तै. ३।८।१-१६.

६ तै. ३।८।१९, १७.

७ श. १३।१।६।१-२ = १३।४।२।१५-१७, १३।२।१९ = १३।५।२।१-१०
१३।२।६।९-१७ = १३।५।२।१२-२२, तै. ३।८।९ = ३।८।१७

हुए अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य के अतिरिक्त अन्य सब यज्ञो को 'सौम्य अध्वरो की श्रेणी मे डाला गया है[1]। इसके अतिरिक्त दो महिम ग्रहो के कारण भी इसका सोमयागीय होना सिद्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध[2] स्तोम सम्बन्धी विविध निर्देशो से भी इसकी पुष्टि की जा सकती है। किन्तु सूत्रग्रन्थो के अतिरिक्त ये निर्देश कही भी अन्यत्र नहीं मिलते हैं कि इस याग की विशिष्ट विधि को मूल सोमयाग मे कहाँ कैसे जोडकर अनुष्ठित करना चाहिए। तैत्तिरीय सहिता के कुछ गौण स्थलो को छोडकर अश्वमेध का ब्राह्मण सहिताओ मे है ही नही। अत उनमे इस निर्देश के मिल पाने का तो प्रश्न ही नहीं है। पर उल्लेखनीय यह है कि शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण भी इस विषय मे मौन हैं। एक स्थल पर ये दोनों ब्राह्मण महिमग्रहों का ग्रहणकाल अवश्य बताते हैं कि एक ग्रह वपाहोम से पूर्व और दूसरा बाद मे लिया जाता है।[3]

किन्तु इन प्रमाणो के अस्पष्ट और अपूर्ण होते हुए भी परम्परा मे अश्वमेध का सोमयागीय स्वरूप निर्विवाद रूप से सर्वत्र मान्य है। किन्तु यह शोध का एक महत्वपूर्ण विषय है कि प्रारम्भ मे अश्वमेध का क्या स्वरूप था, और सोमयाग का वर्तमान रूप इसे कब और किस प्रकार मिला। यद्यपि डा कीथ के मतानुसार यह प्रारम्भ से ही सोमयाग था।[4] किन्तु जिस प्रकार प्रारम्भ मे इस यज्ञ का यजमान केवल राजा ही नही था,[5] और इस यज्ञ मे अभिषेक-क्रिया का भी अभाव था[6], उसी प्रकार इस सम्भावना से भी विमुख नही हुआ जा सकता है कि प्रारम्भ मे यह सोमयाग की समस्त विधियों से ही अनुष्ठित नही किया जाता होगा, क्योकि हम स्पष्टत देखते हैं कि अश्वमेध के प्रयोजन को स्पष्ट करने मे सोमयागीय प्रक्रियायें सहायक नही, अपितु बाधक ही प्रतीत होती है। सम्भावना की जा सकती है कि प्रारम्भ में इसका स्वरूप केवल वैचारिक स्तर पर सृष्टि के गतिमय काल-तत्त्व की व्याख्या तक अथवा जड को चेतन से सयुक्त करने की प्रक्रिया करने तक ही सीमित होगा।[7] किन्तु यज्ञ के कर्मकाण्डिक प्रभाव की अभिवृद्धि के साथ-साथ यह क्रमश याज्ञिक क्रियाओं में व्यक्त होता हुआ सोमयाग से आ जुडा हो, और राजा के दैवीय अश वाले विचार ने इसे राजा से सम्बद्ध कर दिया होगा।

अब तीसरा महत्त्वपूर्ण पहलू इस यज्ञ विधि की अनेक क्रियाओ को मान्य करके

---

१ मै स १।६।५

२ श १३।३।२-३, १३।५।१.

३ श १३।५।२।२३, १३।५।३।७, तै. ३।६।१०.

४ वै. ध द २।४२८

५ देखिए चौथे अध्याय में पृष्ठ ६७.

६ देखिए इसी अध्याय में पृष्ठ २६५.

७ देखिए चौथे अध्याय में पृष्ठ ७०-७१

उनका क्रम निर्धारण करने का है। संहिता का अश्वमेध-ब्राह्मण न होने से यह विषय विशेष जटिल हो गया है। किन्तु अन्य साक्ष्यों के आधार पर जिन विधियों को स्वीकार्य माना है, उनमें से निम्न पाँच स्थल विशेषतः उल्लेखनीय हैं—

(१) स्नान के लिए अश्व को ले जाते समय यजमान के फुफेरे भाई को आगे-आगे और एक दासी पुत्र तथा चतुरक्ष कुत्ते को पीछे-पीछे ले चलने का निर्देश मानवश्रौतसूत्र में है।[१] किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में दासी-पुत्र के स्थान पर ममेरे भाई को ले चलने का उल्लेख[२] है। मैत्रायणी संहिता में इसके लिए कोई मन्त्र नहीं है, पर कुत्ते को मारने के समय जपने का मन्त्र[३] होने से इस समस्त विवरण को सूत्र के अनुसार ले लिया है। पर बहुत सम्भव है कि मैत्रायणियों को तैत्तिरीय ब्राह्मण वाला उल्लेख ही मान्य हो, अथवा शतपथ के समान[४] कुत्ते के अतिरिक्त अन्य किसी के भी न जाने का विचार ही स्वीकार्य हो।

(२) अन्नहोमविधि का क्रम-निर्धारण भी अस्पष्ट है। मानवश्रौतसूत्र[५] में यह यह विधि दीक्षा, यूप-निर्माण और अग्निष्टोम के अनुष्ठान के बाद निर्दिष्ट है। किन्तु शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों[६] में ब्रह्मा द्वारा सम्पादित पूर्वोक्त उख्याग्नि-उपासना और इस अन्नहोम के बीच में अन्य किसी विधि को अनुष्ठित करने का कोई संकेत नहीं है, और सब संहिताओं[७] में प्राजापत्य सम्बन्धी दो विशिष्ट सोमग्रहों के ग्रहण-मन्त्र भी इस अन्नहोम के बाद आते हैं। अतः यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि ये दोनों सोमग्रहों अग्निष्टोमीय सोमसवनविधि के मध्य में ही लिये जा सकते हैं। यद्यपि मानवश्रौतसूत्र[८] इन ग्रहों को अग्निष्टोम से अगले दिन उक्थ्य-अनुष्ठान में ही ग्रहण करने का उल्लेख करता है। किन्तु अन्य किसी साक्ष्य से इसका कोई संकेत नहीं मिलता है, अतः संहिताओं और शतपथ आदि से समर्थित इस क्रम को अधिक युक्तिसंगत मानकर रखा गया है।

इस यज्ञ के उपर्युक्त दो विशिष्ट सोमग्रहों का स्थान निर्धारित करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके ग्रहण-मन्त्रों का स्थान सर्वत्र भिन्न-भिन्न है। मैत्रायणी संहिता में ये ग्रहमन्त्र अन्नहोम के तुरन्त बाद आते हैं।[९] तैत्तिरीय और काठक

---

१ मा. श्रौ. सू. ९।२।१९.
२ तै. ३।८।४.
३ मै. सं. ३।१२।१।२.
४ श. १३।१।२-९.
५ मा. श्रौ. सू. ९।२।२९-३१.
६ श. १३।२।१, तै. ३।८।१५.
७ मै. सं. ३।१२।१६-१७, तै. सं. ७।५।१६-१७, वा. सं. २३।१-२.
८ मा. श्रौ. सू. ९।२।३।१-६.
९ मै. सं. ३।१२।१६-१७.

संहिता मे ये अश्व-सम्बन्धी सब संस्कारो और उसकी अलंकरणविधि के बाद है[१]। वाजसनेयी संहिता का क्रम मैत्रायणी के अनुरूप है[२]। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में एक ग्रह को ब्रह्मोद्य-प्रकरण के बाद वपाहोम मे पूर्व और दूसरे को वपाहोम के बाद ग्रहण और हुत करने का उल्लेख है[३]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी वपाहोम से पूर्व और पश्चात् इनकी आहुति का विधान है[४]। सायणाचार्य तैत्तिरीय संहिता के अपने भाष्य मे केवल मन्त्र-विनियोग ही देते हैं, क्रम का वहाँ कोई उल्लेख नही है[५]। और जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मानवश्रौतसूत्र इन्हें उक्थ्य-अनुष्ठान मे गृहीत मानता है[६]। इस विभिन्न स्थिति मे सर्वाधिक मान्य विधि यही प्रतीत होती है कि अश्वहोमविधि के अगले दिन से सोमयागीय दीक्षा, वेदि और यूप निर्माण आदि विविधो को यथापूर्व प्रारम्भ करके सुत्यादिन मे वाजपेय और राजसूय की तरह ही इस अश्वमेध मे भी माध्यंदिन-सवन के माहेन्द्र ग्रह से पूर्व इन दोनो ग्रहो का यथाविधि ग्रहण किया जाता होगा, और एक ग्रह की आहुति वपाहोम से पूर्व दी जाती होगी, और दूसरे की बाद मे माहेन्द्र-के साथ। किन्तु निर्णायक रूप से कुछ कहना सम्भव नही है।

अभिषेक-क्रिया का तो इस यज्ञ मे अस्तित्व ही विवादास्पद प्रतीत होता है। यह क्रिया शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे उल्लिखित नहीं है। मैत्रायणी संहिता मे या अन्य संहिताओ मे भी इस विधि का सूत्रनिर्दिष्ट मन्त्र नही है। किन्तु मानवश्रौतसूत्र के अनुसार[७] अभिषेक के तुरन्त बाद पठित आप्री मन्त्रो के मैत्रायणी संहिता[८] मे उपलब्ध होने से इस विधि को वर्णित तो किया है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण मे इन आप्री मन्त्रो को पर्यंग्य पशुओ आदि का याज्यापुरोनुवाक्या कहा गया है,[९] और तैत्तिरीय संहिता मे ये मन्त्र अश्व के प्रयाजयाज्या मन्त्रो के रूप में उल्लिखित है[१०]। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणीसंहिता मे ये मन्त्र उस प्रपाठक मे संकलित हैं, जो अश्वमेध-मन्त्रो का अव्यवस्थित परिशिष्ट-सा है।[११] अतः इस बात की अधिक सम्भावना है कि मैत्रायणी सम्प्रदाय मे भी ये मन्त्र प्रयाज-याज्या आदि के ही होगे, अभिषेक-विधि का कोई स्थान न होगा। कालान्तर मे जब अश्वमेध का सम्बन्ध सिर्फ

---

१ तै स ७।५।१६-१७, का स ५।५।११-१२
२ वा स २३।१-२
३ श २३।५।२।२३, १३।५।३।७
४ तै ३।६।१०
५ तै. स. भा ८।२७४३
६ मा श्रौ सू ६।२।३।१-६
७ ,, ६।२।५।६
८ मै स ३।१६।२
९ श १३।२।२।१४-१५
१० तै स ५।१।११, पृ २३८।
११ देखिए तीसरे अध्याय मे पृष्ठ ३१

राजा से जोड़ा गया होगा, तभी सूत्रग्रन्थों में इस अभिषेक-विधि का निर्देश मान्य किया गया होगा।

विशिष्ट मन्त्र आदि से रहित अनूबन्ध्या पशुयाग का निर्देश करना तो स्पष्टतः ब्राह्मण-भाग का ही विषय है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में भी 'नवसौरी' गायों के यजन का उल्लेख होने से मानवश्रौतसूत्र[2] का यह विधान ले लिया है। यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण में इनका उल्लेख स्वतन्त्र रूप से न होकर समस्त पशु-समूहों के अंगरूप में ही है।

गठन-संयोजन सम्बन्धी व्यापक अन्तर और ब्राह्मण-भाग के अभाव में यज्ञ-विधि की अनिश्चित स्थिति के विवेचन के बाद जब यज्ञ की मूल-विधि सम्बन्धी अवस्थिति की पर्यालोचना करने लगते हैं, तब भी ब्राह्मण के बिना इसका सम्यक् विश्लेपण सम्भव नहीं हो पाता है। मन्त्रक्रम और गठन में बहुत अन्तर होने के कारण यज्ञविधि के पौर्गपर्व-क्रम में अन्तर होना तो स्वाभाविक ही है, और उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अन्तर पर्याप्त है। अतः मन्त्रों के आधार पर मैत्रायणी संहिता में यज्ञ-विधि के परिवर्धन के दो प्रसंग ही विशेषतः उल्लेखनीय हैं—

अश्व को बांधने के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा लेने का मन्त्र[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में में भी यह मन्त्र है, पर वहां यह अनुज्ञा रशना-ग्रहण से पूर्व विहित है।[4]

अश्व-प्रोक्षण के मन्त्र भी मैत्रायणी के साथ-साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही है।[5] पर इसमें भी मैत्रायणी संहिता और इस ब्राह्मण के क्रम में भिन्नता है। संहिता में यह मन्त्र रशना-बांधने के तुरन्त बाद है, किन्तु ब्राह्मण इसे कुत्ते को मारने और अश्व के स्नान के बाद देता है।

इन दो स्थलों के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय परिवर्धन नहीं है। सर्वत्र संक्षेपीकरण या क्रम-विपर्यय ही मुख्यतः है। तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध अनेकों मन्त्रों के मैत्रायणी में अभाव को तो ऊपर वर्णित किया ही गया है। इसके अतिरिक्त अश्व की त्वचा के छेदन का मन्त्र तो अन्य सभी संहिताओं में है, पर मैत्रायणी में नहीं है।

संहिताओं के इस विभेद के अतिरिक्त मानवश्रौतसूत्र के साथ भी पाई जाने वाली ३ भिन्नतायें उल्लेखनीय हैं—

मैत्रायणी संहिता में 'अभिधा असि—' मन्त्रांश पहले है, और ब्रह्मा से अनुज्ञा लेने वाला मन्त्रांश ब्रह्मन्नश्वं मन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासं तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेनराध्नुहि, बाद में है।[6] किन्तु मानवश्रौतसूत्र[7] के अनुसार अनुज्ञा

---

१ तै. ३।६।१०।२.
२ मा. श्रौ. सू ६।२।५।२६.
३ मै. सं. ३।१२।१।२.
४ तै. ३।८।३.
५ मै. सं. ३।१२।१।२, तै. ३।८।७.
६ ,, ३।१२।१।२.
७ मा. श्रौ. सू. ६।२।१।१६-१८.

लेने के बाद 'अभिधा असि—' मन्त्र से अश्व के रशना बाधी जाती है। संहिता के मन्त्र-क्रम के अनुसार यह विनियोग उचित प्रतीत नही होता है कि बाधने का मन्त्र पहले हो, और अनुज्ञा का बाद में। अत संहिता के अनुसार 'अभिधा असि—' मन्त्र रशना-बन्धन में न होकर रशना के अनुमन्त्रण मे विनियुक्त करना अधिक उचित होगा। शतपथ ब्राह्मण ऐसा ही विनियोग-व्याख्यान देता भी है।[1] इस तरह सूत्र न केवल मन्त्रक्रम को उलटता है, अपितु विनियोग-क्रिया भी भिन्न बताता है।

मैत्रायणी संहिता मे अश्वचरितो की पचास आहुतियो वाला मन्त्र पहले है,[2] और अश्व को अनुमन्त्रित कर राजपुत्रो को सौंप देने वाला मन्त्र बाद में है[3]। किन्तु मानवश्रौतसूत्र इस मन्त्र को क्रम उलट देता है,[4] और इस परिवर्तन का परिणाम यह भी होता है कि संहिता के अनुसार जो आहुतियाँ सामान्य-विधि के अन्तर्गत आती हैं, सूत्र के अनुसार वे सावित्रेष्टि का अग बन जाती हैं।

मैत्रायणी संहिता मे 'दधिक्राव्णो अकारिषम्—' मन्त्र सूचिका-भेदन मन्त्रो के बाद है[5]। किन्तु मानवश्रौतसूत्र इसे भेदन से पूर्व संगमन की समाप्ति पर जप मे विनियुक्त करता है। शतपथ ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण, और सायणकृत तैत्तिरीय-संहिताभाष्य[6] मे भी यह और इसके साथ के चार मन्त्र[7] अश्व-संगमन मे ही विनियुक्त हैं, यद्यपि मानवश्रौतसूत्र सिर्फ इसी एक मन्त्र को उद्धृत करता है।[8] किन्तु संहिता का मन्त्र-क्रम इसमे बाधक है, क्योंकि अश्वशरीर के छेदन के बाद संगमन का तो प्रश्न ही नही उठता है। संहिता-ब्राह्मण की साक्षी न होने से इस विषय मे निर्णायक रूप से कुछ कहना तो सम्भव नही है, पर सूत्र के अनुसार जप मे विनियुक्त इस और अन्य चार मन्त्रो को संगमन-समाप्ति पर नही, अपितु शरीर-छेदन की समाप्ति पर जप में विनियुक्त मानना संहिता के मन्त्र-क्रम के अनुकूल होगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि मानवश्रौतसूत्र के संस्कृत संस्करण के सूत्र ९।२।३।१९ मे मैत्रायणी के ३।१३।१।२-५ के जिन उपर्युक्त चार मन्त्रो का कोई उल्लेख नही है, सूत्र के अंग्रेजी-अनुवाद[9] मे ये चारो मन्त्र विनियोगक्रिया सहित मिल जाते हैं।

---

१ श १३।१।२।१-३
२ मै. स ३।१२।३
३ ,, ३।१२।४
४ मा श्रौ सू ९।२।१।२९-३१, ९।२।२।३
५ मै स ३।१३।१।१
६ श. १३।२।८।५, १३।२।९, १३।५।२, तै. ३।९।७, तै. स भा ८।२६९०
७ मै स ३।१३।१।२-५
८ मा श्रौ सू ९।२।४।१५-१६.
९ मा श्रौ सू ९।२।३।२९ का अ. अ, पृ २६२.

इसके अतिरिक्त मानवश्रौतसूत्र में अश्व की ग्रीवा में निष्क बांधना,[1] अश्व-पुच्छ को पकड़कर पवमान-स्थल की ओर जाना,[2] अभिषेक से पूर्व और पश्चात् ७-७ समन्त्रक आहुतियां देना,[3] देविकाहवियों से यजन[4] आदि अनेकों ऐसे निर्देश है, जिनका अन्य कोई भी अवान्तर साक्ष्य नहीं है। इसलिए ऐसी विधियों को विवरण में नहीं लिया गया है।

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल विधि-सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण भिन्नता न होने पर भी—(तैत्तिरीय संहिता में अधिकता से पाई जाने वाली कुछ विधियो के अतिरिक्त)—अश्वमेध का संहिताओं में उपलब्ध स्वरूप परवर्ती चित्रण से पर्याप्त भिन्न है। मैत्रायणी संहिता का स्वरूप सूत्रग्रन्थों के अधिक निकट है, और यह इसके परिवर्तितत्व का एक स्पष्ट प्रमाण है।

सौत्रामणीयाग की समीक्षा

इस याग के सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि इस याग को सोमयाग कहा जाये या नहीं। यद्यपि इसके पयोग्रह और सुराग्रहों को सोम-स्थानीय मानकर ही उनकी उपासना का विधान है,[5] और इस दृष्टि से इसे सोमयागों की श्रेणी में रखना भी सम्भवतः अयुक्तियुक्त न होगा। किन्तु शतपथ ब्राह्मण[6] स्पष्ट कहता है कि यह इष्टि और पशुबन्ध—इन दोनों वर्गो का याग है। मानवश्रौतसूत्र[7] में इसे इष्टि के रूप में ही उल्लिखित किया गया है।

यह याग दो प्रकार का है—चरक सौत्रामणी और कोकिली सौत्रामणी। यद्यपि ये नाम संहिता या ब्राह्मणों में नहीं हैं और इनके अन्तर को कही भी वर्णित नहीं किया है, किन्तु मानवश्रौतसूत्र में प्रथम को सोमवामी के लिये और द्वितीय को सोमातिपवित के लिये निर्दिष्ट करके किंचित् प्रयोजन-भिन्नता का संकेत दिया गया है।[8] यज्ञ-विधि को देखते हुये निम्न अन्तर भी पाये जाते हैं :—

(१) चरक सौत्रामणी में तीन देवता—इन्द्र, सरस्वती और अश्विनी तथा इनकी क्रमशः तीन पशु-हवियां—ऋषभ, मेषी और अज हैं। किन्तु कोकिली में इन्द्र और इन्द्र वयोधस् के दो ऋषभों द्वारा अन्य भी दो पशुयाग होते हैं, और इस तरह इसमें पांच देवता और पांच पशु-हवियां हो जाती हैं।

---

१ मा. श्रौ. सू. ९।२।३।७
२ ,, ९।२।३।८
३ ,, ९।२।५।५
४ ,, ९।२।५।३५.
५ मै. सं. ३।११।६, का. सं. ३८।१, वा. सं. १९।७२-७९, तै. २।६।२.
६ श. १२।७।२।२१.
७ मा. श्रौ. सू. ५।२।४।१, ५।२।११।१.
८ ,, ,, ५।२।११।२.

(२) चरक सौत्रामणी मे सुरा मे दूध, पशु-लोम और दो प्रकार के सत्तु नही मिलाये जाते हैं।

(३) चरक मे उपहोम, अभिषेक और पाँच विशिष्ट आहुतियाँ भी समाविष्ट नही हैं, जो कौकिली का अपरिहार्य अग हैं।

वस्तुत चरक सौत्रामणी एक अत्यन्त सक्षिप्त-सी विधि है जो तैत्तिरीय सहिता और शतपथ ब्राह्मण मे राजसूय के अगरूप मे ही वर्णित है,[१] मैत्रायणी तथा काठक सहिताओ मे यह काम्येष्टि प्रकरणो मे समाविष्ट है,[२] और राजसूययाजी के लिये भी इसके अनुष्ठान का स्पष्ट निर्देश है।[३] यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों मे सिर्फ चरक सौत्रामणी के ही मन्त्र और ब्राह्मण दोनो हैं,[४] कौकिली के सिर्फ मन्त्र ही हैं।[५] तैत्तिरीय सहिता मे कौकिली सौत्रामणी के मन्त्र नही हैं, अपितु तैत्तिरीय ब्राह्मण मे ही इसके मन्त्र और व्याख्यान दोनों साथ साथ हैं।[६]

इस व्यवस्था से यह अनुमान करना भी अयुक्तिसगत न होगा कि प्रारम्भ मे चरक सौत्रामणी की स्थिति राजसूय अगयाग के रूप मे ही रही होगी। इसका स्वतन्त्र अनुष्ठान और इसी की विधियो मे कुछ परिवर्धन करके कौकिली सौत्रामणी नाम से एक नये स्वतन्त्र याग का जन्म परवर्ती विकास के क्रमिक सोपान होगे।[७] इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि मानवश्रौतसूत्र यद्यपि चरक और कौकिली का पृथक्-पृथक् विवरण देता है,[८] किन्तु राजसूय मे अनुष्ठित करने का निर्देश देते हुये केवल "सौत्रामणी" शब्द का ही प्रयोग करता है,[९] उसके साथ किसी भी विशेषण का सकेत नही देता है। इससे इस सम्भावना को भी बल मिलता है कि प्राचीन और पूर्वप्रयुक्त होने के कारण "सौत्रामणी" शब्द चरक-सौत्रामणी को ही द्योतित करता होगा।

मैत्रायणी सहिता मे पृथक् प्रकरण के रूप मे सकलित मन्त्रो के आधार पर यहाँ कौकिली सौत्रामणी का यज्ञ-विवरण ही दिया गया है। किन्तु इसके मन्त्रों के सम्बन्ध मे दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि चरक सौत्रामणी के ७ मन्त्र

---

१ तै स १।८।२१, श ५।५।४, तै १।८।५, ६
२ मै स २।३।८, क स १२।६
३ ,, २।३।१ ,, १२।१०
४ ,, २।३।८-६, २।४।१-२, का स १२।६-१२
५ मै स ३।११, का स ३७।१८,३८
६ तै २।६
७ इस सम्बन्ध मे दूसरे अध्याय का पृष्ठ २० और इसी अध्याय का पृष्ठ २५५ भी देखिये।
८ मा श्रौ सू ५।२।४, ११
९ ,, ६।१।५।४६

तो कौकिली में पुनरावृत्त किये गये हैं।[1] किन्तु उनका क्रम भिन्न है, जिनका स्पष्ट आशय विनियोग की भिन्नता से है।[2] शेष ५ मन्त्रों की स्थिति दो प्रकार की है। एक तो यह कि कौकिली सौत्रामणी में उनका विनियोग ही मैत्रायणीकार को मान्य न हो, तीन मन्त्र इस कोटि में जाते हैं।[3] और दूसरी यह कि वे मन्त्र दोनों यागों में एक समान विधि में प्रयुक्त होने के कारण अनुल्लिखित रहने दिये गये होंगे। दो मन्त्र इसी कोटि के हैं,[4] जिनको सुरा-सन्धान और ग्रह-ग्रहण में विनियुक्त किया है, और ये दोनों ही कार्य कौकिल याग में भी अनिवार्य है, भले ही इनके मन्त्र इस याग-प्रकरण में न दिये गये हों। काठक-संहिता के कौकिली-सौत्रामणी-मन्त्रों में इन दोनों की आवृत्ति[5] से इस विचार की पुष्टि होती है। इसीलिये कौकिली याग का विवरण देते हुये उन सभी आवश्यक विधियों को भी लिया गया है, जिनके मन्त्र यहाँ नहीं हैं, पर चरक से घनिष्ट सम्बन्ध होने का कारण जिनकी आवश्यकता अपरिहार्य है। पर ऐसी विधियाँ सुरा-उत्पवन तक ही हैं।

मन्त्रों के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात क्रम के सम्बन्ध में है। मैत्रायणी संहिता में इस यज्ञ के मन्त्रों के १२ अनुवाक हैं। इनमें से ७ अनुवाकों में आप्री, प्रयाज याज्यानुवाक्या आदि के मन्त्र संकलित[6] हैं, और कुल पांच अनुवाकों में मूल यज्ञ-विधि के मन्त्र हैं।[7] इन पांच में भी एक अनुवाक में सोमस्थानीय ग्रहों के उपस्थान-मन्त्र ही हैं।[8] इस तरह सिर्फ चार अनुवाकों के मन्त्र-क्रम को ही यज्ञविधि के क्रम में उपयोगी और अपरिवर्तनीय माना जा सकता है।[9] शेष अनुवाकों में तो याग-सम्बन्धी याज्यानुवाक्या-मन्त्रों को एकत्रित भर ही किया गया है, जिसमें यज्ञ-विधि का क्रम ध्यान में नहीं रखा गया है, अन्यथा उत्पवन और ग्रह-ग्रहण के मन्त्रों[10] से पूर्व ही ग्रहहोम के याज्या मन्त्रों और[11] और अनुयाज के प्रैष मन्त्रों[12] का क्या औचित्य हो सकता है? किन्तु फिर भी सबसे पहले और सबसे अन्त में अनुष्ठित

---

१ मै. सं. २।३।८।३७-४०, ४२-४४, ३।११।७।५०-५२,५५,६०, ३।११।१०।१०२.
२ इसी अध्याय के पृष्ठ २७२ देखिये।
३ मै. सं. २।३।८।४५-४७.
४ मै. सं. २।३।८।३६, ४१.
५ का. सं. ३७।१८।५१, ५६.
६ मै. सं. ३।११।१-५, ११-१२.
७ ,, ३।११।६-१०.
८ ,, ३।११।६.
९ ,, ३।११।७-१०.
१० ,, ३।११।७।५१-५५.
११ ,, ३।११।४।३३-३५.
१२ ,, ३।११।५.

किये जाने वाले ऐन्द्र पशुयागों के इन्हीं मन्त्रों को इसी क्रम से रखकर[1] यज्ञानुसारी मन्त्र संकलन की पद्धति को ही सामने रखा गया प्रतीत होता है। काठक संहिता और तैत्तिरीय व शतपथ ब्राह्मणों में मूलविधि के मन्त्र पहले हैं, और याज्यानुवाक्या आदि के मन्त्र बाद में हैं। अतः मूल यज्ञविधि के चार अनुवाकों के अतिरिक्त शेष मन्त्रों के क्रम में सूत्रकार के निर्देश को ही प्रामाणिक माना गया है।

मैत्रायणी संहिता में इस याग के दो मन्त्रों को[2] छोड़कर एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जो अन्यत्र न मिलते हों। अपितु तैत्तिरीय ब्राह्मण में पशुत्रय आदि के पृथक्-पृथक् प्रयाजप्रैष और अनुयाजप्रैषों आदि के १२ अनुवाक हैं,[3] जबकि मैत्रायणी में सात ही हैं।[4] अतः कहा जा सकता है कि इस यज्ञ में मैत्रायणी-सम्प्रदाय के द्वारा कोई विशेष परिवर्तन-परिवर्धन नहीं किया गया होगा। मूल-विधि के मन्त्र-क्रम के आधार पर कुछ विधियों के क्रम में अथवा मन्त्र-विनियोग की भिन्नता के आधार पर यज्ञविधि में सामान्य-सा अन्तर किया जा सकता है। इस प्रकार के अन्तर भी २-३ है —

(१) मैत्रायणी संहिता में ग्रहहोम के बाद क्रमशः अभिषेक, उपहोम और पितृहोम का अनुष्ठान किया जाता है।[5] किन्तु काठक संहिता और तैत्तिरीय व शतपथ ब्राह्मणों में यह क्रम दो स्थान पर भिन्न है। इनमें पितृहोम उपहोम से पूर्व है और अभिषेक सबसे अन्त में है।[6]

(२) मैत्रायणी में जो तीन आहुतियाँ समिष्ट यजुषों से पूर्व आहवनीय में ही देने का उल्लेख है,[7] तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों के अनुसार में अवभृथ-जल में दी जाती हैं।[8]

(३) अवभृथ स्नान में विनियुक्त मैत्रायणी संहिता का एक मन्त्र ऐसा है,[9] जो अन्यत्र नहीं मिलता है। किन्तु इसका स्थानापन्न अन्य मन्त्र वहाँ उपलब्ध है।[10]

---

१ मै स ३।११।१,११-१२
२ मै स ३।११।३६-३७
ये दोनों मन्त्र का स (३८।६।१०९-११०) में भिन्न क्रम से हैं। किन्तु सूत्र या ब्राह्मणों में इनका कोई भी संकेत न होने से इनका विनियोग जान पाना सम्भव नहीं है।
३ तै २।६।७-१८
४ मै स ३।११।१-५, ११-१२
५ ,, ३।११।८, ९, १०
६ का स ३८।२।१३-२६, ३८।३,४, तै २।६।३,४,५, श १२।८।१, १२।८।१, १२।८।३।१४, १८-३०
७ मै स ३।११।१०।१०५-१०७, मा श्रौ सू ५।२।११।२५
८ श १२।९।२।१-४, तै २।६।६, तै ब्रा भा २।६२६
९ मै स ३।११।१०।११०, मा श्रौ सू ५।२।११।३७
१० का स ३८।५।६२, वा स २०।१६, तै २।६।६

इस सामान्य-से अन्तर की अपेक्षा विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि प्रथम ऐन्द्र पशुयाग में मानवश्रौतसूत्र शास्त्रीय पद्धति से एक मन्त्र का प्रारम्भिक अंशमात्र देकर जिस छह मन्त्रों वाले अनुवाक की ओर संकेत करता है,[1] वह मैत्रायणी संहिता में न मिलकर काठक-संहिता में मिलता है।[2]

इस याग में मानवश्रौतसूत्र द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित दो मन्त्रों का मैत्रायणी-संहिता के इस याग के मन्त्र-क्रम के अनुसार न होना, अपितु मैत्रायणी के चरक सौत्रामणी के मन्त्र-क्रम के अनुकूल पड़ना भी विशेष उल्लेखनीय है—मैत्रायणी के 'नाना हि वाम्[3]—' को मानवश्रौतसूत्र[4] सुराग्रह के भक्षण में विनियुक्त करता है। किन्तु मैत्रायणी के मन्त्रक्रमानुसार यह मन्त्र पयोग्रह के ग्रहणमन्त्र के तुरन्त बाद और ग्रहहोम-मन्त्रों से पूर्व आता है। अतः होम से पूर्व भक्षण की प्रक्रिया ही सम्भव न होने के कारण सूत्र-निर्दिष्ट विधि मान्य की ही नहीं जा सकती है। इसके अतिरिक्त सूत्र इस प्रकरण में सुराग्रह-ग्रहण के लिये कोई भी मन्त्र निर्दिष्ट नहीं करता है, और शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के सायणभाष्य में उद्धृत सूत्र के अनुसार यही मन्त्र सुराग्रहण में विनियुक्त भी है,[5] जो मैत्रायणी के क्रमानुसार भी उचित प्रतीत होता है। यहां यह भी ध्यान रखने योग्य है कि संहिता के चरक-सौत्रामणी प्रकरण में इस मन्त्र का और इसके पूर्ववर्ती मन्त्र का जो क्रम है[6] वही मानवश्रौतसूत्र के चरक-प्रकरण में भी है,[7] जहां ये दोनों मन्त्र क्रमशः पयस् और सुरा के ग्रह-भक्षण में विनियुक्त हैं। चरक-प्रसंग में सूत्र-संहिता का यह साम्य कौकिली में परिवर्तित हो गया है।

सूत्र तो चरक के समान यहां एक दूसरे मन्त्र ३।११।७।५ को भी ग्रह-भक्षण में विनियुक्त करता है, पर मैत्रायणी संहिता इस कौकिली में इस मन्त्र को भक्षण के बदले ग्रहण में विनियुक्त करती प्रतीत होती है। भक्षण के लिये संहिता में अन्य मन्त्र हैं,[8] जिनका मानवश्रौतसूत्र इस कौकिली-प्रकरण में उल्लेख ही नहीं करता है,[9] पर चरक में पयोग्रह-भक्षण में देता है।[10] मैत्रायणी के अनुसार चरक में यह मन्त्र पयोग्रह-भक्षण में ही है, पर यहां सुराग्रह-भक्षण में हो गया है।

---

१ मा. श्रौ. सू. ५।२।११।६.
२ का. सं. ३८।७।८२-८७.
३ मै. सं. ३।११।७।५५.
४ मा. श्रौ. सू. ५।२।११।२३.
५ श. १२।७।३।१४, तै. ब्रा.,भा. २।६०५.
६ मै. सं. २।३।८।४२-४३.
७ मा. श्रौ. सू. ५।२।४।२६.
८ मै. सं. ३।११।७।६०, श. १२।८।१।५, तै. २।६।३.
९ मा. श्रौ. सू. ५।२।११.
१० मा. श्रौ. सू. ५।२।४।२६.

इस विवरण से सूत्र और संहिता के अन्तर पर ही नही, संहिता के चरक और कौकिली के मन्त्र-विनियोग की भिन्नता पर भी प्रकाश पड़ता है।

एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि मानवश्रौतसूत्र इस कौकिली सौत्रामणी के प्रधान पशुयाग और पशुपुरोडाश के तीनो देवताओ का जिस विधि से उल्लेख करता है, वह अन्यत्र नही है। सूत्रकार प्रत्येक पशु-हवि और पशुपुरोडाश के देवता तीनो को ही रखता है, सिर्फ देवताओ के पौर्वापर्य मे अन्तर करके उन्हें तीन वर्गों में रख देता है।[1] इस ग्रन्थ मे वर्णित विधि मे सूत्रकार का यह विवरण ही लिया गया है, यद्यपि तैत्तिरीय-शतपथ मे प्रत्येक हवि-पुरोडाश का एक-एक देवता ही माना है। यही सम्भावना अधिक है कि मैत्रायणी-सम्प्रदाय को भी मानवशाखा की यह सामूहिक देवता-प्रणाली ही स्वीकार्य होगी। क्योकि इनके याज्या-पुरोनुवाक्या मन्त्रो[2] मे एक साथ तीनो देवताओ के नाम आते हैं।

प्रवर्ग्य की समीक्षा

प्रवर्ग्य विषय मे प्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतन्त्रयाग है अथवा सोमयागो की एक विशिष्ट विधिमात्र है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये संहिताओ और ब्राह्मणो मे इसकी स्थिति को समझना आवश्यक है।

तैत्तिरीय और काठक संहिताओं मे प्रवर्ग्य का कोई संकेत भी नहीं मिलता है। मैत्रायणी संहिता मे प्रवर्ग्य का पूर्णत स्वतन्त्र प्रकरण है,[3] किन्तु इसमे मन्त्रभाग ही है, ब्राह्मण नही है। वाजसनेही संहिता मे भी प्रवर्ग्य के मन्त्र[4] हैं, और शतपथ ब्राह्मण इसका विशद विवरण स्वतन्त्र रूप से देता है।[5] मानवश्रौतसूत्र मे प्रवर्ग्य का पृथक प्रकरण है।[6] यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि प्रवर्ग्य के मन्त्र और उसका अनुष्ठान-प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी उपलब्ध नहीं है, अपितु तैत्तिरीय आरण्यक में यह सब मिलता है।[7]

अब यह उल्लेखनीय है कि मानवश्रौतसूत्र में प्रवर्ग्य के अग्निष्टोम और अग्निचिति यागों मे उपसद्-विधि के साथ ही अनुष्ठित करने के अनेकश निर्देश हैं।[8] किन्तु शतपथ ब्राह्मण मे सिर्फ अग्निष्टोम मे ही उपसद्-विधि से पूर्व प्रवर्ग्यानुष्ठान

---

१ मा श्रौ सू ५।२।११।१८-३२
२ मै स ३।११।४।२४-२६, ३३-३५
३ ,, ४।६
४ वा स ३६-३८
५ श १४
६ मा श्रौ सू ४
७ तै आ ४-५
८ मा श्रौ सू २।२।१।१४।४२, २।२।२।२, ६।१।५।२६, ६।२।१।१, ८,२२, २८, ६।२।४।१५, २१

का निर्देश है ।[१] अन्य संहिताओं में उपसद्-विधि की स्थिति सोमयाग की एक अंगभूत विधि के रूप में ही है ।[२] प्रवर्ग्य-सम्बन्धी आख्यानों में इसको सोमयाग का सिर ही कहा गया है, और इसका फल भी स्वतन्त्र न होकर सोमयाग के फल को पूर्णतासहित प्राप्त करवाना ही है ।[३]

इन दो स्थितियों से यह अनुमान करना असंगत न होगा कि प्रवर्ग्य का अनुष्ठान एक परवर्ती परिवर्धन है, जो प्रारम्भ में एक स्वतन्त्र विधि के रूप में अनुष्ठित किया जाता होगा, किन्तु कालान्तर में इसे सोमयाग का अंग बनाकर ही अनुष्ठित करने का विधान बना दिया गया होगा । क्योंकि परवर्ती काल में यह सोमयाग की एक विधिमात्र के रूप में ही उल्लिखित मिलता है ।[४] मैत्रायणी संहिता में सोमयागीय उपसद्-विधि के साथ प्रवर्ग्य का नामोल्लेख भी न मिलने[५] से इस अनुमान की पुष्टि होती है । डा० कीथ के मतानुसार भी यह मूलतः एक स्वतन्त्र याग है ।[६]

प्रवर्ग्य की स्थिति के इस विवेचन के बाद अब यज्ञ-विधि सम्बन्धी विशिष्टताओं का अवलोकन करना उचित होगा । किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि मैत्रायणी संहिता में प्रवर्ग्य के मन्त्र ही हैं, ब्राह्मणभाग नहीं । अतः विनियोग-क्रिया के लिए पूर्णतः मानवश्रौतसूत्र, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक पर ही निर्भर रहना पड़ता है । इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मानवश्रौतसूत्र सामान्यतः संहिता के मन्त्रक्रमानुसार ही मन्त्रों का विनियोग देता है । किन्तु कुछ प्रसंगों पर सूत्र संहिता के मन्त्र को बहुत परिवर्तित करके भी देता है, और एक प्रकरण के मन्त्रों को सूत्र में प्रायः अछूता-सा छोड़ दिया गया है । इनमें से निम्न तीन प्रसंगों पर सूत्र का विनियोग अमान्य-सा लगता है—

(१) प्रथम प्रसंग घर्म के उद्वासन का है । इसमें मैत्रायणी के सात मन्त्रों[७] को मानवश्रौतसूत्र[८] ने बहुत उलट-पुलट कर दिया है । यथा— मन्त्र १७१ वें के अंश 'चतुः सक्तिकृतस्य ....' को सूत्रकार ने चौकी को एक पुरुषाकृतियुक्त खर-प्रदेश पर रखने में विनियुक्त किया है,[९] और १७२वें मन्त्र को उस प्रदेश पर मिट्टी बिछाकर आकृति

---

१ श. ३।४।४।१.

२ मै. सं. १।२।७, ३।८।१-२, तै. सं. १।२।११ का. २।३, का. सं. २।८।४६ वा. सं. ५।८.

३ देखिए इसके लिए चौथे अध्याय के पृष्ठ ७५, ७६.

४ तै. आ. भा. १।२२४, य. त. प्र., पृ. ६२.

५ मै. सं. ३।८।१-२.

६ तै. सं. अं. अ., पृ १२३.

७ मै. सं. ४।६।१०।१७१-१७७.

८ मा. श्रौ. सू. ४।४।१४-२०.

९ मा. श्रौ. सू. ४।४।१८.

बनाने की क्रिया मे निर्दिष्ट किया गया है।[1] स्पष्टत इन दोनो मे से १७२वें मन्त्र की क्रिया पहले और १७१वें मन्त्र की बाद में होती है। अत यहाँ सूत्र के विनियोग-क्रम को मान्य करना कठिन है। दूसरी ओर यह भी उल्लेखनीय है कि तैत्तिरीय आरण्यक में इन मन्त्रो का क्रम[2] मैत्रायणी के अनुकूल है, अत आरण्यक के सायण-भाष्य में दिया गया इनका विनियोग उचित लगता है।[3] अत इन मन्त्रों के विनियोग को तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार ही लिया गया है।

(२) दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थिति सहिता के इस प्रकरण के अन्तिम अनुवाक की है।[4] सहिता के अनुसार यह अनुवाक यजमान द्वारा व्रतो को स्वीकार करने के बाद पडता है। किन्तु मानवश्रौतसूत्र[5] इस अनुवाक को घर्महोम के बाद और घर्मोद्वासन से पूर्व देता है, और वहाँ भी इस अनुवाक के १७ मन्त्रो का क्रम बहुत आगे-पीछे है। स्थान और क्रम का इतना अधिक विपर्यय सम्भवत सहिता-सूत्र की भिन्न यज्ञ-विधि का द्योतक माना जा सकता है। किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक इन्ही मन्त्रों को मैत्रायणी के क्रमानुसार अन्त मे ही देता हुआ उसे शान्ति-पाठ में विनियुक्त करता है।[6] यही विनियोग-क्रिया मैत्रायणी-सहिता के अनुकूल प्रतीत होती है।

(३) तीसरा प्रकरण प्रायश्चित-मन्त्रो का है। मैत्रायणी सहिता मे प्रायश्चित के आठ मन्त्र और चार व्याहृतियाँ हैं।[7] मानवश्रौतसूत्र इनमे से केवल तीन मन्त्र और व्याहृतियो का उल्लेख करता है।[8] किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक मे ये सब मन्त्र एक ही अनुवाक मे उपलब्ध हैं।[9] यद्यपि वहाँ क्रम भिन्न है। पर प्रायश्चित की पृथक्-पृथक् क्रिया मे क्रम का विशेष महत्त्व भी नही है। अत इस सम्बन्ध मे भी तैत्तिरीय आरण्यक के सायणभाष्य में उद्धृत विनियोग[10] को स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त मैत्रायणी के पाँच अन्य मन्त्रों[11] को भी मानवश्रौतसूत्र[12] क्रम-

---

१ मा श्रौ म ४।४।१४
२ तै आ ४।११।३-४.
३ तै आ भा १।३०१
४ मै स ४।६।२७
५ मा श्रौ सू ४।३।४१-४८
६ तै आ ४।४२, तै आ भा १।३४५
७ मै स ४।६।१२।१६४-२०५
८ मा श्रौ सू ४।४।३८-३६
६ तै आ ४।२०
१० तै आ भा १।३२६ २६
११ मै स ४।६।३।५३-५४, ४।६।७।१००, ४।६।८। १२६-१२७
१२ मा श्रौ सू ४।२।१६, ४।३।६, २७

परिवर्तन के साथ निर्दिष्ट करता है। किन्तु इस क्रम-परिवर्तन से क्रिया-विधि के पौर्वापर्य में ही अन्तर पड़ता है, विनियोग-विधि में नहीं। विधियों की इस पौर्वापर्य-भिन्नता में रौहिण-पुरोडाश का यजन और कुछ सामगानों का उल्लेख आवश्यक है।

संहिता के मन्त्र-क्रम के अनुसार रौहिण-पुरोडाश की आहुतियाँ घर्महोम से पूर्व दी जाती हैं, पर सूत्र के अनुसार घर्महोम के साथ ही प्रतिप्रस्थाता द्वारा इनकी आहुतियों का निर्देश है।[1] बहुत सम्भव है कि मैत्रायणीकार को भी घर्म और पुरोडाश की आहुतियाँ साथ-साथ ही मान्य हों। पर तैत्तिरीय आरण्यक के प्रवर्ग्य-ब्राह्मण में भी घर्माहुति से पूर्व पुरोडाश-यजन का उल्लेख है।[2] इस रौहिण-पुरोडाश का पुनः अनुष्ठान घर्महोम और समिधाहोम के बाद महावीर को खर पर रखने के अनन्तर किया जाता है, इसमें संहिता और सूत्र एकमत हैं। पर इस पुनः अनुष्ठान के जो मन्त्र मैत्रायणी में हैं,[3] मानवश्रौतसूत्र उनका उल्लेख नहीं करता।[4] इसके अतिरिक्त सूत्र इस पुनर्यजन से पूर्व अनेक अन्य क्रियाओं के अनुष्ठान का भी निर्देश देता है।

साम-गानों में वार्पाहर, इष्टाहोत्रीय, श्येत और वामदेव्य के चार विशेष साम हैं। इनमें श्येत साम का क्रम संहिता-सूत्र दोनों में समान है। वामदेव्य के क्रम में सिर्फ एक आहुति का अन्तर है। संहिता के अनुसार[5] यह साम आहुति के बाद गाया जाता है और सूत्र के अनुसार[6] आहुति से पूर्व। शेष दो की स्थिति भिन्न है। संहिता के निर्देशानुसार घर्मोद्वासन-काल में महावीर को उत्तरवेदि के नये उत्तरीय खर-प्रदेश में रखकर जलसिंचन करके और महावीर की उपासना करने के बाद पहले वार्पाहर साम गाया जाता है,[7] और पुनः उपासना करके लौटते समय इष्टाहोत्रीय साम गाते हैं।[8] किन्तु मानवश्रौतसूत्र के अनुसार वार्पाहर को जल का उपस्पर्शन करके और इष्टाहोत्रीय को जल का सिंचन करके गाने का विधान है।[9]

इस क्रम-विपर्यय के अतिरिक्त संहिता और सूत्र में दो अन्य प्रकार के भी उल्लेखनीय अन्तर हैं। प्रथम प्रकार के अन्तर में मानवश्रौतसूत्र द्वारा ऐसे मन्त्रों को विनियुक्त करना है, जो उद्धृत शाखीय पद्धति से हैं, पर मैत्रायणी संहिता के प्रवर्ग्य-प्रकरण में न होकर अन्य यागों के प्रकरण में है।

---

१ मै. सं. ४।९।८।१२६-१२७. मा. श्रौ. सू. ४।३।२७.
२ तै. आ. ५।७।४२.
३ मै. सं. ४।९।९।१५५.
४ मा. श्रौ. सू. ४।३।४४.
५ मै. सं. ४।९।११।१६०.
६ मा. श्रौ. सू. ४।४।३६.
७ मै. सं. ४।९।११।१८३.
८ ,, ४।९।११।१८७.
९ मा. श्रौ. सू. ४।४।२४।२५.

यथा—

मानवश्रौतसूत्र द्वारा उद्धृत 'दधिक्राव्णो अकारिषम्'[1] संहिता के अग्न्युपस्थान और अश्वमेध-प्रकरण[2] में, 'परित्वा गिर्वणो गिर'[3] संहिता के अग्निष्टोम में[4] और 'समुद्रस्य त्वावकया ..' एवं 'हिमस्य त्वा जरायुणा'[5] संहिता के अग्निचिति प्रकरण[6] में ही हैं।

दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि मानवश्रौतसूत्र द्वारा शाखीय पद्धति से ही निर्दिष्ट होते हुये भी ११ मन्त्र[7] मैत्रायणी संहिता में कहीं भी नहीं हैं। ऐसे मन्त्रों का अनुपात सम्भवतः प्रवर्ग्य-प्रकरण में ही सर्वाधिक है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन ग्यारह मन्त्रों में से तीन मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में उपलब्ध हैं,[8] और एक मन्त्र वाजसनेयी संहिता में है,[9] जिसे शतपथ ब्राह्मण सूत्रानुसार ही विनियुक्त भी करता है।[10]

इन दोनों अन्तरों द्वारा इन मन्त्रों से निर्दिष्ट क्रियाओं का अन्तर भी सामने आता ही है।

इसके अतिरिक्त अन्य भी तीन स्थल ऐसे हैं, जहाँ सूत्र उन मन्त्रों को उद्धृत करता है, जो तैत्तिरीय आरण्यक में ही मिलते हैं।[11]

यह भी उल्लेखनीय है कि मानवश्रौतसूत्र मैत्रायणी संहिता के इसी प्रकरण में एक बार ही आये एक मन्त्र 'गायत्री छन्द प्रपद्ये'[12] को तीन बार[13] और 'नमो

---

१ मा श्रौ सू. ४।१।६
२ मै स १।५।१।७, ३।१३।१५.
३ मा श्रौ सू ४।२।२८
४ मै स १।२।१।१७९
५ मा श्रौ सू ४।४।२०
६ मै स २।१६।१।२-३
७ मा श्रौ सू ४।१।११,१४, ४।२।२६, ३१,३३,३४,३५, ४।३।१६, २१,२२, ३१
८ „ ४।१।१४=तै आ ४।२।५
„ ४।२।२६= „ ४।५
„ ४।३।३१= „ ४।१०।३ "अमुष्मैत्वा ."
९ मा श्रौ सू ४।२।३५=वा स ३४।२६
१० श १४।१।३।३३
११ मा श्रौ सू ४।३।३३, ४६=तै आ ४।१०।३
„ ४।३।३० = „ ४।१०।२
„ ४।३।३६ = „ ४।१०।५
१२ मै स ४।६।२।४०
१३ मा श्रौ स ४।१।६, ४।२।८, ४।५।२.

वाचे नमो[1] ··· को छह् बार[2] विनियुक्त करता है। अन्य किसी स्रोत से इस बार-बार के विनियोग की पुष्टि नहीं होती है।

इसके अतिरिक्त सूत्र द्वारा निर्दिष्ट अनेकों अमन्त्रक क्रियाओं में से कितनी और कौनसी क्रियायें संहिताकार को भी मान्य होंगी, ब्राह्मण-भाग के अभाव में यह जान पाना कठिन है। किन्तु उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि इस प्रवर्ग्य-प्रकरण में सूत्र यद्यपि संहिता के प्रायः सभी मन्त्रों को निर्दिष्ट तो करता है, किन्तु उनके क्रम में अन्तर होने के साथ-साथ अनेकों नये मन्त्रों[3] का प्रयोग दोनों के बीच के अन्तर को और भी विशेषता से व्यक्त करता है।

संहिता और सूत्र के इस अन्तर के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में मैत्रायणी की सामान्य स्थिति पर भी एक दृष्टिपात करना उचित होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है कि प्रवर्ग्यविधि एक परवर्ती परिवर्धन है, और इस अवस्था में मैत्रायणी संहिता की स्थिति मध्यवर्ती है। इसमें एक ओर तो ऐसे ७०-८० के लगभग मन्त्र हैं,[4] जो वाजसनेयी संहिता में इस विधि में उपलब्ध नही हैं, और दूसरी ओर प्रायश्चित-प्रकरण से सम्बन्धित तैत्तिरीय आरण्यक में पाये जाने वाले बीस अनुवाकों के मन्त्र[5] मैत्रायणी संहिता में नहीं मिलते हैं। वाजसनेयी संहिता के प्रायश्चित-मन्त्र सर्वथा भिन्न हैं।[6]

इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी के इष्टकहोत्रीय, श्यैत और वामदेव्य सामों का शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक में कोई निर्देश नहीं हैं। दूसरी ओर तैत्तिरीय आरण्यक यजमान-पत्नी द्वारा महावीर-दर्शन का स्पष्ट निषेध करता है[7] किन्तु मैत्रायणी आदि में यह दर्शन विहित है।[8]

इसके अतिरिक्त पाठ-भेदों, मन्त्र-विनियोगों और मन्त्र-गठन आदि के अन्तर भी पर्याप्त हैं, जिनका परिगणन यहाँ सम्भव नहीं है।

---

१ मै. सं. ४।९।२।३९.

२ मा. श्रौ. सं. ४।१।३१, ४।३।३९, ४।५।१२, ४।६।६, ४।७।९, ४।८।३.

३ देखिए पिछले पृ० पर टिप्पणी ७.

४ मै. सं. ४।९।१।१४, २४, २७-२९, ३२, ३४-३६, ३८, ४।९।२।३९-४२.
४।९।३।५१, ५३-५४, ४।९।५।६९, ७२-७४, ४।९।५।७७-८४,
४।९।७।१०५, १०७, ११२, ४।९।९।१३२, १५२, ४।९।१०।१५६-१५८,
१७२-१७५,
४।९।११।१७८-१८२, ४।९।१४-१६।२०८-२१२, ४।९।१७।२१३-२१५,
४।९।१९-२६।२२०-२४२.

५ तै. आ. ४।१, १३-१६, २२-२३, २६-२८, ३०-३९.

६ वा सं. ३९।१-४, श० १३।३।२

७ तै. आ. ५।६।३९.

८ मै. सं. ४।९।६।९८, मा. श्रौ. सू. ४।२।३७, श. १४।१।४।१६.

गौनामिक की समीक्षा

इस याज्ञिक-विधि की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि यह विधि अन्य किसी संहिता या ब्राह्मणग्रन्थ में नहीं मिलती है। केवल सृष्टि-सम्बन्धी आख्यान का कुछ प्रारम्भिक भाग[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे है[2]। किन्तु वहाँ यह आख्यान चतुर्होतृप्रकरण के अर्थवाद के रूप मे है।

मैत्रायणी संहिता मे इस विधि के एक एक मन्त्र के बाद साथ-साथ ही उसका विनियोग और व्याख्यान दिया गया है। यह स्थिति संहिता के अन्य यज्ञों की मन्त्र-ब्राह्मण स्थिति से भिन्न है। अन्य यज्ञो के समस्त मन्त्र एक साथ देने के बाद ब्राह्मण-भाग दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रायणी संहिता और मानवश्रौतसूत्र मे अन्य यज्ञविधियो की अपेक्षा इस यज्ञविधि मे अधिक साम्य है। इस यज्ञ के अन्यत्र न पाये जाने की स्थिति मे ये दोनों तथ्य इस विधि की अत्यधिक परवर्तिता को ही सूचित करते प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार मैत्रायणी और मानवश्रौतसूत्र मे उपलब्ध इस संक्षिप्त यज्ञ-विधि का तुलनात्मक क्षेत्र भी सीमित रह जाता है। सूत्र संहिता के सभी मन्त्रों को निर्दिष्ट करता है, और इस प्रकरण में सूत्र कोई नया विधि-मन्त्र नहीं देता है। किन्तु सूत्र में उल्लिखित कुछ निर्देश संहिता मे नहीं है। पर ऐसे निर्देश सूत्रों की कुल संख्या नौ ही है।[3] इसके अतिरिक्त नौ सूत्रों के आधे निर्देश भी संहिता में अनुल्लिखित हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—तद्दशप्रतिषेधमित्यपरे,[4] अरण्ये अधीतं,[5] पुरस्तात् प्रतीचीमवस्याप्याधस्तात् दर्भानास्तीर्य,[6] चतुष्पथे अगम[7] योय आगच्छेत्तस्मै तस्मै दद्यात्,[8] पण्णा चतसृणा वा। पुंस स्त्रिय इति व्यत्यासमृम,[9] दधि घृतेन ममृज्य,[10] अपराह्णे गोष्टासु गतासु,[11] अमुष्य चेत्यवभृथे[12]।

यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ निर्देश और विधियाँ तो संहिता और सूत्र मे मे समान हैं, पर उनके कुछ शब्दो या मन्त्रों में भिन्नता अथवा परिवर्धन है। शब्दों की

---

१ मैं स ४।२।१

२ तै २।३।८

३ मा श्रौ सू ९।५।५।१,२,४,१३,१७, ९।५।६।२५-२८

४ मा श्रौ सू ९।५।५।५

५ ,, ९।५।५।६

६ ,, ९।५।५।७

७ ,, ९।५।५ १२

८ ,, ,,

९ ,, ९।५।६।८

१० ,, ९।५।६।१३

११ ,, ९।५।६।१९.

१२ ,, ९।५।६।२३

ऐसी स्थिति के सिर्फ तीन स्थल हैं—सूत्र के 'भिन्नेन[१]' और प्रमुक्तवत्सायाः[२] शब्द संहिता के तत्सम्बन्धी स्थल पर नहीं हैं[3]। और संहिता के 'अदानीयाय'[४] की जगह सूत्र में 'अदीक्षणीयाय'[५] आता है। मन्त्रों के परिवर्धन-स्थल केवल दो हैं—संहिता में गाय का एक ही सम्बोधन-मन्त्र 'पुण्यं प्रशस्तम्'[६] है, पर सूत्रकार 'भद्रं भद्रम्, भद्रं कल्याणम्' के दो अन्य सम्बोधन मन्त्र भी देता है[७]। एक अन्य स्थल पर भी सूत्र में उल्लिखित 'धेनुं धेनुं' मन्त्र[८] संहिता में नहीं हैं।[९]

एक विशेष उल्लेखनीय स्थिति यह भी है कि सूत्रकार आठ स्थान पर 'उत्तरो निगदे व्याख्यातम्, या व्याख्यातम्' कहकर कुछ विधि-विस्तार को अनुल्लिखित छोड़ देता है। इनमें से छह स्थलों पर संहिता में सूत्रानुसारी क्रम से ही विधि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध हो जाता है।[१०] एक स्थल पर संहिता में सम्भवतः वैकल्पिक ऋषभ के स्वरूपों का औचित्यमात्र व्यक्त किया गया है।[११] शेष एक प्रसंग में भी संहिता में किसी विधि का उल्लेख न होकर व्याख्यानमात्र ही मिलता है।[१२] सूत्रकार इन दोनों स्थलों पर इन व्याख्यानों का ही संकेत करना चाहता है, अथवा किसी ऐसी विधि को उल्लिखित करता है, जो संहिता में हो ही नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

इसके अतिरिक्त इस यज्ञ-विधि में कोई भिन्नता नहीं मिलती है।

---

१ मा. श्रौ. सू. ९।५।५।५.
२ „ ९।५।६।१४.
३ मै. सं. ४।२।१, ४।२।१०।७४.
४ „ ४।२।८.
५ मा. श्रौ. सू. ९।५।५।२७.
६ मै. सं. ४।२।८।४२.
७ मा. श्रौ. सू. ९।५।५।२६.
८ „ ९।५।६।६.
९ मै. सं. ४।२।९.
१० मा. श्रौ. सू. ९।५।५।१४ = मै. सं. ४।२।४.
„ ९।५।५।२५ = „ ४।२।७
„ ९।५।६।१ = „ ४।२।८।५०-५५.
„ ९।५।६।४ = „ ४।२।८।५८-६०.
„ ९।५।६।९ = „ ४।२।९।६५.
„ ९।५।६।२३ = „ ४।२।१३.
११ मा. श्रौ. सू. ९।५।६।२४ = मै. सं. ४।२.
१२ „ ९।५।५।९ = „ ४।२.

अग्निचितियाग की तुलनात्मक समीक्षा

इस याग के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम विचारणीय बात यही है कि यह एक स्वतन्त्र विधि है अथवा सोमयाग के अनुष्ठान के लिए नानाविध इष्टकाओ के आधान द्वारा पक्षीविशेष की आकृति में उभारी गई उत्तरवेदि के निर्माण से सम्बन्धित होकर सोमयाग का अग मात्र है। श्री चिन्नस्वामी शास्त्री के अनुसार यह अग्निचिति सोमयाग के अनुष्ठान के लिए एक वैकल्पिक उत्तरवेदि से भिन्न और कुछ नही है।[1] इसी मे समस्त सोमाहुतियो का यजन किया जाता है। मानवश्रौतसूत्र[2] भी इस चिति मे अग्निष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र जैसे सोमयागो के समस्त अनुष्ठान का निर्देश करते हुए इसे सोमयागो का यजन-स्थल ही मानता प्रतीत होता है। इस तरह इन दोनो के अनुसार अग्निचिति की स्थिति तत्वत अग्न्याधान-विधि के समान है।

शतपथ ब्राह्मण मे इसी चिति प्रकरण मे सोमक्रय[3], सोमसवन के प्रारम्भ में बोले जाने वाले प्रातरनुवाक-मन्त्रो के पाठ[4], सोम का अभिषव करके आहुति[5] देने और सोमभक्षण[6] का स्पष्ट उल्लेख अवश्य मिलता है। किन्तु इससे भी यह सुस्पष्ट नही होता है कि शतपथकार को यहाँ सोमयाग की समस्तविधि ही मान्य है।[7]

किन्तु सहिताओ मे तो सोम का इतना-सा भी उल्लेख नही मिलता है। अत सहिताओ के वर्णन से अग्निचिति और सोमयाग के अविभाज्य सम्बन्ध की पुष्टि नहीं होती है।

मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक सहिताओ मे इष्टकाधान से पूर्व कुछ पत्थरो को चारो दिशाओ से चुनकर उत्तरवेदि मे डालने[8] और अग्निरूप इष्टकाओ को उत्तरवेदि मे लाने[9] का वर्णन अवश्य है। किन्तु इससे यही स्पष्ट होता है कि यह अग्नि-

---

१ य त प्र (पृ ६७) मे याज्ञिक-सम्प्रदायो के दो विभिन्न मतो का उल्लेख करते हुए श्री शास्त्रीजी कहते हैं कि एक पक्ष के अनुसार यह चिति-विधि प्रत्येक सोमयाग मे अनिवार्य है, पर दूसरे पक्ष के मतानुसार इसका प्रयोग ऐच्छिक है।

२ मा श्री सू ६।२।६।७

३ श ६।२।२।२८

४ श ६।४।४।१

५ ,, ६।४।४।८

६ ,, ६।४।४।६

७ श (६।५।१।१६-२०) मे अग्निचिति के अन्त मे समिष्टयजुषों के प्रकरण मे सभी सवनो आदि का उल्लेख अवश्य हुआ है। किन्तु यह उल्लेख विधियों के अनुष्ठान-निर्देश के लिए न होकर सिर्फ समिष्टयजुषों के अर्थवाद पर बल देने के लिए ही प्रतीत होता है।

८ मै स ३।२।५, तै स ५।२।५, का स २०।६, श ७।३।१।२७

९ ,, ,,

चयन उत्तरवेदि वाले स्थल पर ही किया जाता होगा,[1] और इसी कारण इस चिति-स्थल को भी उत्तरवेदि का नाम दिया गया। मैत्रायणी संहिता में इस चिति को अग्नि की 'उत्तरवर्ती चिति' का नाम भी दिया गया है।[2] इससे सोमयागीय उत्तरवेदि से इसका स्पष्ट पार्थक्य भी द्योतित होता है। इस अग्निचयन को 'उत्सन्नयज्ञ'[3] कहकर इसको एक स्वतन्त्र यज्ञ के रूप में स्पष्टतः स्वीकार भी किया प्रतीत होता है।

दूसरी ओर मैत्रायणीकार[4] यज्ञों का वर्गीकरण करते हुये इस अग्निचिति का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह इसे 'सौम्य अध्वर' की श्रेणी का मानता है। किन्तु इस वर्गीकरण का आधार सम्भवतः दोनों की कुछ विधियों और अनुष्ठानकाल की अवधि की समानता भी हो सकता है। दीक्षणीयेष्टि और पश्वेकादशिनी पशुयाग दोनों में अनुष्ठेय है, और सोमयागीय अहीन और सत्र की तरह यह याग भी तीन दिन से लेकर सालभर तक चलता है।

किन्तु इस सम्बन्ध में मैत्रायणी-संहिता में आया एक वाक्य विशेष महत्वपूर्ण और विचारणीय है। समस्त चयनविधि के अनन्तर अग्नि को संयुक्त करने के बाद कहा गया है कि तस्मिन् युक्ते सर्वं हव्यं समाधीयते।[5] इसी प्रकरण में ऐसा ही उल्लेख तैत्तिरीय और काठक संहिताओं में भी है। यहाँ सम्भावना हो सकती है कि इस वाक्य द्वारा अग्निष्टोम की समस्त हवियों को ही इस चित्याग्नि में आहुत करने का निर्देश दिया गया है। मानवश्रौतसूत्र[6] भी इसी स्थल पर अग्निष्टोम की नाना विधियों के अनुष्ठान का उल्लेख करता है। इस सम्भावना की पुष्टि एक अन्य प्रकरण से भी की जा सकती है, जहाँ अग्निचितियाग में यज्ञायज्ञिय स्तोत्र को गाने का विधान करते हुये इसे यज्ञ की मात्रा रूप अग्निष्टोम से अधिक कहा गया है[7]। इससे अग्निष्टोम के मूल स्तोत्रों का प्रयोग स्वतः ही विधानसम्मत माना जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता[8] में अग्नियोग के पांच मन्त्रों का प्रयोग बताते हुये यह भी उल्लेख है कि ३ मन्त्रों से प्रातः सवन में अग्नि का सम्मर्शन करे, और २ से यज्ञायज्ञिय

---

१ मा. श्रौ. सू. (६।१।१।२-३) में स्पष्टतः षोडशी के अतिरिक्त अन्य सोमयागों में उत्तरवेदि चुनने का निर्देश है। सत्र और अहीन सोमयागों में सावित्र नाचिकेत नामक अग्निचिति का विधान है। पर मैत्रायणी संहिता में यह नाम नहीं मिलता है।

२ मै. सं ३।३।२, ३।४।८.

३ मै. सं. ३।२।६. तै. सं. ५।३।१, का. सं. २०-१०.

४ ,, १।६।५.

५ ,, ३।४।४.

६ मा. श्रौ. सू. ६।२।६।६-१७.

७ मै. सं. ३।४।४, तै. सं. ५।४।१०, का. सं. २२।२.

८ तै. सं. ५।४।१०.

स्तोत्र-पाठ के बाद अर्थात् तृतीय-सवन की समाप्ति पर। ये उल्लेख स्पष्टत. इस अग्निचिति को सोमयाग की उत्तरवेदि के रूप मे मान्य करते हुये प्रतीत होते हैं।

किन्तु अग्निचिति के स्वतन्त्र एवं व्यापक प्रयोजन को देखते हुये और इन उल्लेखों का अन्त के प्रकरण में नगण्य-सा वर्णन मिलने के कारण यह सम्भावना करना भी अनुचित न होगा कि प्रारम्भ में यह यज्ञ सृष्टिरचना के दार्शनिक-सिद्धान्त की अभिव्यक्ति के एक स्वतन्त्र प्रतीकयज्ञ के रूप मे प्रस्फुटित हुआ होगा। पर कालान्तर मे दार्शनिकता की अपेक्षा आभिचारिकता से सम्बद्ध कर[1] इस विधि को सोमयाग की 'महावेदि' के रूप मे भी मान्यता मिल गई होगी।

इस याग के मन्त्रों के गठन और अस्तव्यस्तता के विषय मे तो पहले ही बहुत विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है।[2] मन्त्रों का यह अस्तव्यस्त संयोजन भी इसके क्रमिक परिवर्धन और विकास का परिचायक माना जा सकता है।

यज्ञ की तुलनात्मक स्थिति

यह यज्ञ जितना विशाल और जटिल है उसी अनुपात मे प्रक्रियाओं की विविधता और मन्त्रों की विभिन्नता भी पर्याप्त है। मन्त्रों की अव्यवस्थित स्थिति के कारण यज्ञ-प्रक्रिया की क्रमिकता के अन्तर को निर्णीत करना सहज नहीं है। अन्य विभिन्नताओं को भी विस्तार से न लेकर संक्षेप में ही वर्णित किया जा रहा है। विभिन्नता को दो वर्गों में विभक्त किया है एक मैत्रायणी मे अनुपलब्ध मन्त्र या विधियाँ, और दूसरा मैत्रायणी मे ही उपलब्ध मन्त्र और विधियाँ।

इस याग की कई प्रक्रियायें ऐसी हैं, जो तैत्तिरीय अथवा काठक संहिताओं के अतिरिक्त मानवश्रौतसूत्र में भी वर्णित हैं, पर मैत्रायणी मे उनका संकेत नहीं है। यद्यपि ऐसी क्रियाओं की कुल संख्या ४० से अधिक है, पर इनमे से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं —

(१) गले मे धारण करते समय उख्याग्नि को कृष्णाजिन मे समन्त्रक बांधना[3]।

(२) उख्याग्नि के वात्सप्र-उपस्थान के बाद अवान्तर दीक्षा-सम्बन्धी निर्देश[4]।

(३) भस्म बहाने के लिये ले जाते समय उख्याग्नि को गाड़ी पर समन्त्रक रखना[5]।

---

१ वै ध द, २।४४०-४१

२ देखिए तीसरे अध्याय के पृष्ठ ३२ से ३७ तक।

३ तै स ४।१।१०।१३, तै स भा. ६।२६७६, मा श्रौ सू ६।१।४।८
(मै स. (३।२।१) मे यह अमन्त्रक अभीष्ट है)

४ तै स ५।२।१, मा श्रौ सू ६।१।४।१६

५ तै स ५।२।२, मा श्रौ सू ६।१।४।२८

(४) अश्व द्वारा चयन-स्थल का समन्त्रक अतिक्रमण[1]।

(५) प्रथम स्वयमातृण्णा इष्टका के आधान के साथ ही एक अविद्वान् ब्राह्मण को भी बिठाना[2]।

(६) पशुसिरों के आधान के बाद एक सर्वसिर के आधान की उपकल्पना[3]।

(७) नक्षत्रेष्टकाओं के बाद पूर्णिमा और अमावस सम्बन्धी इष्टकाओं का भी समन्त्रक आधान[4]।

(८) ब्रह्मवर्चसकामी या स्वर्गकामी के लिए वृक्ष पर प्रदीप्त अग्नि से उख्याग्नि सम्पादन का विधान।[5]

(९) छीके का समन्त्रक ग्रहण।[6]

(१०) हिरण्यपात्र में मधु भरकर ब्रह्मा को समन्त्रक देना।[7]

इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित अनेक इष्टकाओं यथा—ऋषभ[8], वज्रिणी[9], स्वयंचिति[10], भूतेष्टका[11], यशोदा और धृता[12] नामक इष्टकाओं आदि के आधान का वर्णन मैत्रायणी संहिता में अन्यत्र भी कहीं नहीं मिलता है।

(ख) अनेक मन्त्र अथवा क्रियायें मैत्रायणी संहिता में वर्णित होते हुए भी अन्यत्र या तो निर्दिष्ट ही नहीं है, अथवा अमन्त्रक ही या भिन्न-क्रम में निर्दिष्ट हैं। ये इस प्रकार हैं—

(१) मिट्टी खोदने के स्थल पर अश्व द्वारा अतिक्रमण के समय अभिचार-मन्त्र।[13]

---

१ तै. सं. ४।२।८।१, तै. सं. भा. ६।२७६४, मा. श्रौ. सू. ६।१।६।१७
(मै. सं. (३।२।५) में यह अमन्त्रक निर्दिष्ट है।)

२ तै. सं. ५।२।८, मा. श्रौ. सू. ६।१।७।६.

३ तै. सं. ५।२।६, मा. श्रौ. सू. ६।१।८।३.

४ तै. सं. ४।४।१०।२८-३६, तै. सं. भा. ६।३०२८, मा. श्रौ. सू. ६।२।३।८.

५ का. सं. १६।१०, मा. श्रौ. सू. ६।१।३।२७.

६ का. सं. १६।१२।१३८, मा. श्रौ. सू. ६।१।५।१४.

७ तै. सं. ५।७।१., का. सं. २२।८।२३, मा श्रौ. सू. ६।२।६।१५.

८ ,, ५।७।२.

९ ,, ५।७।३.

११ ,, ५।७।८

,, ५।६।३.

१२ ,, ५।३।१०.

१३ मै. सं. ३।१।४।५ (तै. सं. ५।१।२ और का. सं. १९।३ में यह विवरण अमन्त्रक है।

(२) पुष्करपर्ण पर मिट्टी डालने के लिए तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के लिए अलग-अलग मन्त्र ।[१]

(३) उख्याग्नि-सम्पादन से पूर्व दी गई छह आहुतियो का अभिचारात्मक प्रयोग ।[२]

(४) उख्याग्नि मे दसवी समिधा का आधान-मन्त्र ।[३]

(५) नैऋत इष्टकाओ का समन्त्रक जल-सिंचन और परिक्रमा करना ।[४]

(६) हल को अनुमन्त्रित करना ।[५]

(७) पुन कर्षण के मन्त्र ।[६]

(८) बैलो को अनुमन्त्रित करना ।[७]

(९) प्रथमचिति मे हिरण्य पुरुष से पूर्व दायें-बायें दो स्रुचाओ का समन्त्रक आधान ।[८]

(१०) प्रथमचिति मे भ्रातृव्य-नाश के लिए स्वयमातृण्णा का समन्त्रक व्यूहन ।[९]

(११) समन्त्रक हिरण्येष्टका का आधान ।[१०]

(१२) प्रथमचिति मे 'कुलायिनी' नामक इष्टका का समन्त्रक आधान ।[११]

(१३) पचमचिति मे 'क्लृप्ती' नामक इष्टकाओं का आधान ।[१२]

---

१ मैं २।७।३ (तै म ४।१।३, ५।१।४ का म (१६।३) और वा म (११।३२। ३७) मे वैश्य के मन्त्र नही हैं। यद्यपि का श का ब्राह्मण-भाग (१९।४) वैश्य के लिए पृथक् मन्त्र प्रयोग का सकेत देता है।)

२ मैं स ३।१।६

३ ,, २।७।७।९२

४ ,, ३।२।४।५।६

५ ,, २।७।१२।१६२

६ ,, २।७।१२।१६३

७ ,, २।७।१२।१६४

८ ,, २।७।१५।२०९-२११ ३।२।६। तै स (५।२।७) और का स (२०।५) मे इन स्रुचाओं को तूष्णी भाव से ही रखने का विशेष उल्लेख है। पर यह भी उल्लेखनीय है कि का म (१६।१५।१९४-१९५) में मैत्रायणी के समान आधान मन्त्र भी दिये गये हैं।)

९ मैं म ३।२।६ (यह प्रक्रिया का म (२०।६) में भी है।)

१० मैं स ।२।७।१५।२१२, ३।४।७। तै म के ब्राह्मण-भाग (५।५।५) में इस इष्टका का आधान-वर्णन अमन्त्रक है, और अवान्तर-प्रकरण में है।)

११ मै सं २।७।१५।२१३

१२ ,, २।८।११।२३, ३।३।१

(१४) प्रथमचिति में पुरुषचिति के लिए ३६ इष्टकाओं का समन्त्रक आधान।[1]

(१५) पंचमचिति में साम-सम्बन्धी इष्टकाओं के बाद वेदि के सन्धि-स्थलों पर १७ इष्टकाओं का समन्त्रक आधान।[2]

(१६) 'उपशीवरी' नामक इष्टकाओं का समन्त्रक आधान।[3]

(१७) 'इन्द्र' नामों वाली इष्टकाओं का समन्त्रक आधान।[4]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मैत्रायणी-संहिता और अन्य संहिताओं की विधि में काफी परिवर्तन-परिवर्धन है। मन्त्रों के विनियोग पाठ भेद आदि के अन्य अन्तरों से इस विभिन्नता को और चौड़ा किया जा सकता है, किन्तु इन समस्त अन्तरों के होते हुए भी अग्निचिति का सामान्य रूप प्रायः सर्वत्र समान है।

---

१ मै. सं. २।१३।१४, ३।५।१.

२ ,, २।१३।१५,.

३ मै. सं. २।१३।१६ (यह का. सं. (३९।९।४८-५०) में है)

४ ,, २।१३।१७ (तै. सं. ४।४।८, तै. सं. भा. ६।३०१८ में एक अन्य मन्त्र से 'इन्द्रतून' नामक इष्टका के आधान का विधान अवश्य मिलता है।)

सप्तम अध्याय

यज्ञ में मन्त्र-विनियोग के स्वरूप

वैदिक-यज्ञ अपनी गहनता मे ही नही, जटिलता में भी अनुपम है। यह जटिलता सिर्फ कर्म काण्ड की विधियो मे ही नही है, अपितु विधियो में विनियुक्त मन्त्रो मे भी दीख पड़ती है। सामान्य क्रिया को भी मन्त्रपूर्वक करना यज्ञ की सर्व-प्रमुख विशिष्टता है। किस क्रिया मे कौन-सा मन्त्र विनियुक्त हो, इसका निर्देशन तो सूत्रग्रन्थों मे स्पष्ट है, पर अमुक मन्त्र का विनियोग क्यों किया गया, इसका स्पष्टीकरण ब्राह्मण ग्रन्थों मे है। यज्ञ की व्यापकता, क्रियाओ की बहुलता और ब्राह्मण-व्याख्यानों की विविधता के कारण विनियोग का स्वरूप भी एक-सा नही है। फिर भी इस लेख में विभिन्न ब्राह्मण-विवरणों के आधार पर इसे वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है।

ब्राह्मणों के व्याख्यानों से व्यक्त होता है कि विनियोग का मूलाधार यज्ञ-कर्म और मन्त्रार्थ मे एकरूपता लाना है। महीदास ऐतरेय[1] ने इसी एकरूपता को "यज्ञ की रूपसमृद्धि" का पारिभाषिक नाम देकर उसकी व्याख्या दी है—"एतद्वै यज्ञस्य समृद्ध यद्रूपसमृद्ध यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।" गोपथकार[2] इस व्याख्या में ऋग् के साथ यजुष् शब्द को और जोडकर इसे अधिक व्यापक बनाता है। यह उल्लेख-नीय है कि यह परिभाषा अन्य किसी ब्राह्मण—शतपथ में भी इतने स्पष्ट रूप में अथवा इन शब्दो मे उपलब्ध नहीं है। इस परिभाषा के अनुसार रूपसमृद्ध विनियोग का प्राथमिक स्वरूप है कि क्रिया का अनुवादक मन्त्र पढ़ा जाए। यथा—पुरोडाश को फैलाने की क्रिया के समय प्रथन-क्रिया से युक्त मन्त्र बोला जाता है।[3] अग्न्याधान के समय अग्नि-स्तुति के मन्त्रो का प्रयोग होता है,[4] और दीक्षा स्नान के समय आपोदेवी से शुद्धि की कामना वाला मन्त्र बोलते हैं।[5] इत्यादि.......।

---

१ ऐ १।१।४

२ गो २।२।३

३ मै स १।१।६।२८, ४।१।६।५७-५६

४ ,, १।४।१।१

५ ,, १।२।१।४,५

किन्तु "गोपदसि……[1]" से गार्हपत्याग्नि का पूजन[2], "देवानां परिपूतमसि"[3] से काटने योग्य बर्हि का निर्धारण,[4] तथा "देवानां वह्नितम्……विष्णोः क्रमोऽसि"[5] से हविर्धान-शकट को छूना, उसके चक्र पर पैर रखकर ऊपर चढ़ना,[6] आदि, मन्त्र-विनियोगों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो क्रिया की जा रही है, उसका मन्त्र में कोई उल्लेख नहीं है। फिर भी इन क्रियाओं को रूपसमृद्ध माना जाता है। यहाँ रूपसमृद्धि का स्वरूप यह है कि "जिस वस्तु के सम्बन्ध में क्रियायें की जा रही हैं, उन्हीं का वर्णन मन्त्रों मे है।" यथा—गार्हपत्याग्नि को ही "गोपद्" (—धनयुक्त) कहकर उसकी उपासना की गई है, देवयजन के लिये ही काटी जाने वाली बर्हि को "देवानां परिपूतमसि" कहा है, और हविर्धान को छूते समय, उस पर चढ़ते समय हविर्धान की ही विशिष्टताओं के द्योतक मन्त्र कि "तुम देवों के श्रेष्ठ वाहक, उत्तम शोधक, उत्तम पोषक, उत्तम सेवनीय और देवों को बुलाने वाले हो" का पाठ किया जाता है। इस तरह मन्त्रों में क्रिया का उल्लेख न होते हुये भी इन विनियोगों को रूपसमृद्ध मान लिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[7] तो एक शब्द या छन्द के अर्थ के आधार पर भी रूप समृद्धि मान लेता है। यथा—प्रवर्ग्ययाग में प्रयुक्त महावीर पात्र बड़ा और पक्की मिट्टी का होता है। अतः ऐतरेय ब्राह्मण उस पात्र को उठाते समय बोले जाने वाले मन्त्र के "पीपिवांसम्" शब्द से इस विनियोग को रूपसमृद्ध मानता है।[8]

इससे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त परिभाषा का "क्रियमाणं कर्म" सिर्फ किये जाते कर्ममात्र का ही वाचक नहीं है, अपितु उस कर्म से सम्बन्धित सभी संज्ञाओं, वस्तुओं आदि को भी संकेतित करता है। इस आधार पर रूपसमृद्ध का स्पष्ट स्वरूप यह होगा कि "जब ऋक् या यजुष् किये जाते कर्म को, अथवा जिन वस्तुओं आदि के लिये या सम्बन्ध में कर्म हो रहा हो, उनको वर्णित करता है, तब यज्ञ की रूप समृद्धि होती है।"

मैत्रायणी संहिता में "रूपसमृद्ध" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। किन्तु विभिन्न क्रियाओं का व्याख्यान करते हुये "रूपम्" शब्द बहुधा आया है। यथा—"बछड़ों को पत्तों वाली शमी शाखा से हटाया जाता है। शाखा पत्तों वाली होनी

---

१ मै. सं. १।१।२।२

२ ,, ४।१।२, मा. श्रौ. सू. १।१।१।२४

३ ,, १।१।२।४

४ ,, ४।१।२, मा. श्रौ. सू. १।१।१।२६

५ ,, १।१।५।१२

६ ,, ४।१।५ मा. श्रौ. सू. १।२।१।२५-२६

७ ऐ. १।४।२०, २१, २५

८ ,, १।४।२१

चाहिये, क्योंकि यह पशुओं का रूप है। (अत:) पशुओं वाला होता है। यदि (शाखा) पत्तों से रहित होगी, तो दण्ड का रूप (हो जावेगी)।"[1] "जो पूर्ण स्रुक् से (अर्थात् स्रुक् को पूरा भरकर) आहुति देता है, वह यजमान में ऊर्ज की स्थापना करता है, (क्योंकि) यह जो पूर्ण (स्रुक्) है, वह ऊर्ज का रूप है।"[2] "इस अहोरात्र का वही रूप है, जो कृष्णाजिन का है। (कृष्णाजिन का) जो शुक्ल रूप है, वह दिन का रूप है, और जो कृष्ण है, वह रात्रि का (रूप) है।"[3]

इस प्रकार "रूप" शब्द क्रिया और उसके प्रयोजन में वही सामञ्जस्य बताता है, जिसकी ओर रूपसमृद्धि संकेत करती है।

शतपथ ब्राह्मण में भी "रूपम्" शब्द का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। किन्तु "रूपसमृद्ध" शब्द सिर्फ दो बार आया है। प्रथम स्थल पर वर्णित है कि अश्वमेध में सौ वस्त्रों की दक्षिणा देना "रूपसमृद्ध" है।" इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "यह वस्त्र पुरुष का रूप है। (अतः) यह रूपसमृद्ध है, (क्योंकि) इस (अश्वमेध रूप प्रजापति पुरुष) को (वस्त्र की दक्षिणा के) रूप से ही समृद्ध करता है। (वस्त्र) सौ होता है, (क्योंकि) पुरुष भी सौ वर्ष की आयु का होता[4] है।" यहाँ रूपसमृद्ध के साथ ही "रूपम्" शब्द का प्रयोग उपर्युक्त विचार की स्पष्ट पुष्टि करता है। दूसरे स्थल पर अश्वमेध के प्रधान अश्व के विशेष रंगों का औचित्य बताते हुये कहा गया है कि "अश्व के सफेद, काले और सफेद धब्बे क्रमशः आंख, पलक और कनीनिका रूप होने से रूपसमृद्ध ही हैं।"[5]

मैत्रायणी संहिता में अश्वमेध का ब्राह्मण न होने से इन प्रसंगों की तुलनात्मक समीक्षा कर स्थिति स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। किन्तु यह अनेक आर में भी स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ-जहाँ "रूप" शब्द है, वह रूप-समृद्ध का अर्थ और प्रयोजन ही व्यक्त करता है। शतपथ ब्राह्मण में इसी कार्य को "तस्योक्त बन्धु" से भी स्पष्ट किया गया है[6] इतना अन्तर अवश्य है कि यह शब्दावलि उस प्रसंग में ही आई है, जहाँ रूपसमृद्धि के स्वरूप को व्याख्यान द्वारा पहले स्पष्ट किया जा चुका है। अत उस व्याख्यान की पुनरावृत्ति से बचने के लिए कह दिया गया है कि "उसका बन्धु (सम्बन्धभाव अर्थात् क्रिया या शब्द आदि का प्रयोजन या उद्देश्य से सामञ्जस्य का स्वरूप) कहा जा चुका है।"

---

१ मै. स ४।१।१
२ ,, ३।६।५
३ ,, ३।६।८
४ श. १३।४।१।१५
५ श. १३।४।२।४
६ श. ६।८।१।११-१२, ६।८।२।११, ७।१।१।३३, ४१, ७।२।३।५-८, ७।४।१।१४, ७।५।१।३१-३२, ८।१।२।६

किन्तु यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जहाँ "रूपम्" शब्द नहीं भी है, (और अधिकतः नहीं ही मिलता है), वहाँ भी ब्राह्मण का व्याख्यान रूप-समृद्धि की स्थिति को ही स्पष्ट करता प्रतीत होता है। यह बात निम्न विवेचन से स्पष्ट हो जायेगी।

तैत्तिरीय संहिता में "रूप समृद्धि" शब्द केवल एक स्थान पर आता है।[1] वहाँ अग्निचितियाग में उखापात्र के निर्माण के लिये मिट्टी खोदने वाला अभ्रि नामक उपकरण बाँस का बना हुआ, काला और छेद वाला क्यों होना चाहिये, इसका व्याख्यान करते हुये कहा गया है कि "एक बार देवों से छिपकर अग्नि बाँस में घुस गया। उसके बाँस में संचरण करने से बाँस में छेद हो गया, इसलिये अभ्रि छेद वाली होती है। और जहाँ-जहाँ अग्नि गया, वह वह स्थान काला पड़ता गया, इसीलिये अभ्रि भी काली होती है। यह सब रूप समृद्धि के लिये है।"

मैत्रायणी संहिता[2] में भी सामान्य-सी आख्यान-भिन्नता के साथ यही व्याख्यान है कि "होत्रा अग्नि भयभीत होकर चला गया। वह सब भूतों में रहा। वनस्पतियों में वह बाँस में रहा। जहाँ उसने जला दिया, वहाँ वे (आवास-वस्तुयें) काली पड़ गईं। उसके चलने से छिद्र हुआ, और जहाँ वह रहा, वहाँ पर्व (गाँठ) पड़ गई। अतः यह जो बाँस की अभ्रि होती है, उससे अपनी ही योनि (मूलस्थान, से इस (अग्नि) को प्राप्त करता है। "मैत्रायणी के इस सम्पूर्ण व्याख्यान में न "रूपसमृद्धि" शब्द है और न "रूपम्" शब्द। किन्तु तैत्तिरीय संहिता में स्पष्टतः रूपसमृद्धि शब्द के साथ जिस अभिप्राय को व्यक्त किया गया है, वही अभिप्राय यहाँ भी अभिप्रेत है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि ब्राह्मण-व्याख्यानों का कार्य ही मुख्यतः यज्ञविधियों के इस रूपसमृद्ध अर्थ को बताना है, भले ही उनमें यह शब्द न मिलता हो।

यहाँ यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त तीनों स्थलों पर आया "रूपसमृद्ध" शब्द मन्त्र और क्रिया की संगति को स्पष्ट करने में न होकर यज्ञ-विधि अथवा यज्ञ-उपकरण की विशिष्टता का औचित्य सिद्ध करने में प्रयुक्त हुआ है। "रूपम्" शब्द भी प्रायशः इसी प्रयोजन के लिये आया है। मन्त्र और क्रिया के उचित सम्बन्ध को प्रायशः फल-प्राप्ति का कथन करते हुये विविध शब्दावलि द्वारा स्पष्ट किया जाता रहा है। यथा—"इषे त्वा" मन्त्रांश से पलाश या शमी की शाखा को तोड़ने की क्रिया में मन्त्र की महत्ता बताते हुए ब्राह्मण कहता है कि "इससे यज्ञ और यज्ञपति में अन्न और बल की स्थापना करता है।" पात्र-प्रक्षालन में प्रयुक्त मन्त्र "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे" की संगति को बताते हुये कहा गया है कि "इससे देवों के लिये ही इन (पात्रों) को शुद्ध करता है।[4]

१ तै. सं. ५.१.१
२ मै. सं. ३.१.१
३ ,, ४.१.१
४ ,, ४.१.३

"वसूना पवित्रमसि" मन्त्र से शाखा पवित्र को ग्रहण करने की सार्थकता बताते हुये कहते हैं कि "यह (शाखा पवित्र) वसुओं का ही भागधेय है। अत इन (वसुओं) के लिये ही इसे (ग्रहण) करता है।"[१]

इस तरह ब्राह्मण-व्याख्यान मन्त्रगत शब्दों का न केवल क्रिया से सम्बन्ध बताते हैं अपितु शब्द और क्रिया के प्रयोजन को भी समझाते हैं। ब्राह्मण-व्याख्यान इस रूपसमृद्धि के कार्य को ही सम्पन्न करते हैं, इसकी पुष्टि मैत्रायणी संहिता के इस उद्धरण से बहुत स्पष्टतापूर्वक हो जाती है, जहाँ ऐतरेय ब्राह्मण की उपर्युक्त परिभाषा से बहुत मिलते-जुलते शब्दों में कहा गया है कि "यत्र वै यज्ञस्यानुरूपं क्रियते तद् यजमान ऋध्नोति। उत्क्रामोदक्रमीदित्यनुरूपं वा एतत् क्रियते यज्ञस्यावरुद्ध्यै।"[२] यहाँ "उत्क्राम" और "उदक्रमीत्" शब्दों वाले मन्त्रों के विनियोग को सार्थक बताते हुये कहा गया है कि जब यज्ञ के अनुरूप किया जाता है तब यजमान समृद्धि को प्राप्त करता है। अत इन क्रियावाची शब्दों वाले मन्त्रो से यह (अश्व द्वारा उत्क्रमण-क्रिया करवाना) यज्ञ की प्राप्ति के लिये उचित ही हुआ है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र और क्रिया में सामञ्जस्य बताने के जिस कार्य को "रूपसमृद्धि" नाम दिया गया है, वही कार्य यज्ञ की प्रत्येक क्रिया के औचित्य को सिद्ध करते हुये समस्त ब्राह्मण अपने व्याख्यानों द्वारा इस शब्द का प्रयोग न करते हुये भी सफलता से करते रहे हैं। इसीलिये मैत्रायणी-संहिता में "रूप-समृद्ध" विनियोग को देखने का और उसे वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है।

इन रूपसमृद्ध विनियोगों को मुख्यत तीन भागों में रखा जा सकता है—

१ अर्थ प्रधान रूप समृद्धि—इसके पुन तीन उपविभाग किये जा सकते हैं—क्रिया साम्य पर आधारित, वर्ण-साम्य पर आधारित और विशिष्ट अर्थ के अनुसार विनियुक्त।

२ भावाश्रित रूप समृद्धि।

३ प्रतीकाश्रित रूप समृद्धि।

इन तीनों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(क) अर्थाश्रित

इस प्रकार की रूप समृद्धि में मन्त्र के सीधे और सामान्य अर्थ की प्रमुखता रहती है। इसमें पहली समानता क्रिया की है। रूप समृद्धि की परिभाषा के अनुसार जो कर्म किया जाता है, मन्त्र उसी कर्म के विषय में कहता है। अत विनि-

---

१ मै. सं ४।१।३

२ ,, ३।१।८

३ ,, २।७।२।२३-२४

योग का मूल स्वरूप यज्ञ की क्रिया और मन्त्र की क्रिया में सीधी समानता का होना है। जैसा हम देखते भी हैं कि पुरोडाश को फैलाते समय "उरु प्रथस्व" क्रिया वाला मन्त्र[1] बोला जाता है, दीक्षा स्नान के समय जलों से शुद्धि की प्रार्थना करने वाला मन्त्र[2], गायों को प्रेरित करने में "प्रार्पयतु" क्रिया का मन्त्र[3], अश्वपर्शु को तपाने में तपन क्रिया के परिणामस्वरूप राक्षसों और शत्रुओं के जल जाने का मन्त्र[4], प्रयुक्त किया गया है। वर्हि को लपेटने, उस पर गांठ बांधने, उठाने, लेकर जाने और फिर वेदि के पास रखने में स्पष्टतः क्रमशः 'संनह्नं, ग्रन्थिं ग्रथ्नातु, उद्यछे, हरामि और सादयामि" क्रियाओं के मन्त्र हैं।[5] दूध को जमाने वाले मन्त्र[6] में "आतनच्मि" क्रिया है। इत्यादि……… ।

इस क्रिया-साम्य के बाद विनियोग का दूसरा स्वरूप वर्णन-साम्य का है, अर्थात् जिस वस्तु, यज्ञ उपकरण या सम्भार का ग्रहण, स्पर्श या अभिमन्त्रण किया जाता है, मन्त्र उसी वस्तु की स्तुति में होता है, यद्यपि मन्त्र में ग्रहण, स्पर्शन या अभिमन्त्रण क्रिया का उल्लेख नहीं है। यथा "गोपदसि"[7] से गार्हपत्य का पूजन 'देवानां परिषूतमसि"[8] से काटने योग्य वर्हि का निर्धारण-रूप ग्रहण, "देवानां वह्नितमं सस्नितम[9]……" से हविर्धान शकट को छूना, उसके चक्र पर पैर रखकर ऊपर चढ़ना, "आदित्यास्त्वगसि"[10] से कृष्णाजिन का और "पृथुग्रावासि वानस्पत्यः"[11] वृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः" से क्रमशः ऊलूखल और मूसल का ग्रहण किया जाता है। इन मन्त्रों में तत्तद् क्रियायें नहीं हैं, किन्तु वस्तु से सम्बन्धित कार्य हो रहा है, मन्त्र मे उसी वस्तु का वर्णन अभीष्ट है। अतः यह स्वरूप भी स्पष्टतः रूप समृद्ध है।

किन्तु उपर्युक्त इन दोनों स्वरूपों की रूपसमृद्धि के लिए ब्राह्मण बहुधा मन्त्रों को नये अर्थों के साथ विनियुक्त कर लेते है। ऐसी स्थिति में क्रिया या वर्णन में सामान्य समानता होते हुए भी मन्त्र का विनियोग मुख्यतः उसको विशिष्टार्थपरक बनाकर किया जाता है। अतः विनियोग के इस स्वरूप को दोनों से अलग विशिष्टा-

---

१ मै. सं. १।१।९।२०, ४।१।९.
२ ,, १।२।१।४-५
३ ,, १।१।१।१
४ ,, १।१।२।२
५ ,, १।१।२।६
६ ,, १।१।३।१०
७ ,, १।१।२।२
८ ,, १।१।२।४
९ ,, १।१।५।१२
१० ,, १।१।६।१४
११ ,, १।१।६।१४

र्थक स्वरूप वाला कहना अधिक उचित होगा। यथा—अग्नि को तीन ओर से परिधियों से संयुक्त करते हुए यजमान अग्निदेवताक "युनज्मि" क्रिया वाला मन्त्र[1] तो बोलता ही है, पर इस विनियोग की विशिष्टता "ब्रह्मणा दैव्येन" शब्द ही प्रतीत होते हैं, जो परिधि-रूप दिव्य-ज्ञान का बोधक होने के कारण ही परिधियाँ रखने में मन्त्र के विनियोग को पूर्णता देते हैं। दीक्षा-स्नान के बाद यजमान "विष्णोः शर्मासि"[2] मन्त्र से वस्त्र पहनता है। शतपथकार[3] इसके औचित्य को स्पष्ट करते हुए विष्णु का अर्थ यजमान लेता है "तुम यजमान के वस्त्र हो।" आगे एक स्थल पर ऐसे ही अन्य मन्त्र[4] से वस्त्र द्वारा यजमान को ढकने का आशय स्पष्ट करते हुए मैत्रायणीसंहिता के ब्राह्मण-भाग[5] में "विष्णो" का अर्थ यजमान के साथ-साथ यज्ञ भी दिया गया है। दीक्षा के लिए यजमान की आँखों में त्रिककुभ का सुरमा लगाते हुए "वृत्रस्यासि कनीनिका"[6] मन्त्र बोला जाता है। मैं स का ब्राह्मण[7] और शतपथ[8] एक आख्यान द्वारा स्पष्ट करते हैं कि सुरमा ही वृत्र (मेघ) की नेत्र-ज्योति है। इस तरह यह मन्त्र अंजन विशेष का बोधक स्वीकार करके विनियुक्त किया गया है। दर्भों से यजमान को पवित्र करते हुए पठित मन्त्रों "चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाचस्पतिस्त्वा पुनातु" तथा "तस्य ते पवित्रपते ......"[9] के विशिष्टार्थ को मैत्रायणी संहिता[10] "यज्ञो वै चित्पतिः, यज्ञो वै पवित्रपतिः" कहकर स्पष्ट करती है, तैत्तिरीय संहिता[11] "मनो वै चित्पतिः" और शतपथ[12] "प्रजापतिर्वै चित्पतिः" से अपना भिन्न अर्थ देते हैं। दीक्षित यजमान द्वारा मेखला बाँधते समय उच्चरित मन्त्र "ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा"[13] के ऊर्ग् शब्द के अर्थ को मैत्रायणी संहिता[14] "ऊर्ग्वा ओषधयः" से व्यक्त करती है। दीक्षित द्वारा व्रतपान (व्रतकालीन विहित दूध पीने) के लिए "ये

१ मैं. स. १।४।१४
२ मैं. स. १।२।१।६
३ श ३।२।१।१७
४ मैं स. १।२।२।१४
५ ,, ३।६।६
६ ,, १।२।१।६
७ ,, ३।६।३
८ श. ३।१।३।१०-१६
९ मैं स. १।२।२।८-९
१० ,, ३।६।६
११ तै सं. ६।१।१
१२ श. ३।१।३।२२
१३ मैं स १।२।२।१७
१४ ,, ३।६।७

देवा मनुजाता मनोयुजाः सुदक्षा दक्ष पितरस्ते नोऽवन्तु"[1] यह मन्त्र विहित है। मैत्रायणीका ब्राह्मण भाग[2] और शतपथ[3] इस मन्त्र के देवों का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि "ये जो प्राण हैं, ये ही मनुजात और मनोयुज देवता हैं।" इस दुग्ध-पान के तुरन्त बाद नाभि को छूते हुये एक मन्त्र[4] के जप का विधान है कि "हमारे भीतर पिए गए हे जलो ! तुम हमारे लिए सुखदायी और कल्याणकारी हो।" स्पष्टतः यहाँ जल से तात्पर्य पिये गए उस दूध से ही है, जो अब नाभि प्रदेश में पहुँच गया है। और दीक्षाहुति के समय जिस एक मन्त्र[5] से आहुति दी जाती है, उसके देवता "आपो देवी" को मैत्रायणी संहिता[6] "आपो हि यज्ञः" कहकर यज्ञ परक स्वीकार करती है। अग्निचिति-याग में उखानिर्माण के लिए पुरीष्य (मिट्टी) को लेकर जाते समय बोले जाते हुए मन्त्र "ऋतं सत्यं सत्यमृतम्"[7] के आवृत शब्दों को मैत्रायणी संहिता[8] भिन्न भिन्न अर्थवाची वर्णित करते हुए कहती है कि "यह पृथिवी ऋत है, यह द्युलोक सत्य है। (अतः इस मन्त्र से इस पुरीष्य को) इन दोनों के मध्य में ही प्रतिष्ठित करता है। दिन ही ऋत है, और रात्रि सत्य। (अतः) इन दोनों के मध्य में ही प्रतिष्ठित करता है। "तैत्तिरीय[9] संहिता" और काठक संहिता[10] इन आवृत्त शब्दों से भी सिर्फ लोकों का ही अर्थ ग्रहण करती है।

इस प्रकार ब्राह्मणों में नये-नये अर्थों के विनियोग के विशिष्टार्थक स्वरूप का बाहुल्य है, और इससे वैदिक-साहित्य की प्रचुर अर्थ-सम्पत्ति का भी दिग्दर्शन होता है।

(ख) भावाश्रित

किन्तु यज्ञ-प्रक्रिया का अध्ययन यह भी बताता है कि केवल बाह्य मन्त्रार्थ संगति ही पर्याप्त नहीं है, मन्त्रार्थ के अनुकूल मनः स्थिति भी विनियोग का एक परमावश्यक तत्त्व है। यों तो यज्ञ के प्रत्येक कार्य में मन का योग अपरिहार्य है, किन्तु अनेक स्थलों से स्पष्ट होता है कि वहाँ या तो क्रिया है ही नहीं, अथवा क्रिया गौण है, और मन्त्रार्थ का भावन ही सर्वप्रमुख है। उसी से फलसिद्धि सम्भव है।

---

१ मै. सं. १।२।३।२४
२ ,, ३।६।८
३ श. ३.२।१ १२-१३
४ मै. सं. १।२।३।२५
५ ,, १।२।२।१२
६ ,, ३।६।४
७ ,, २।७।४।५५
८ ,, ३।१।६
९ तै. सं. ५।१।५
१० का. सं. १९.५

सम्भवत इसी आधारभूत मानसिक भूमिका के महत्त्व को बताते हुये शत-पथकार कहता है कि "मनसा यज्ञस्तायते मनसा एव क्रियते।" "मैत्रायणी संहिता"[१] में मन के द्वारा ही यज्ञ प्राप्ति का उल्लेख है। इतना ही नहीं, मन को ही यज्ञ करने वाला यजमान, प्रजापति कहा गया है[२] क्योंकि वस्तुत "काम सकल्पोऽपि चिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव"।[३]

देखा जाये तो वि और नि उपसर्गपूर्वक युजिर् योग से निष्पन्न यह "विनियोग" शब्द अपने मे दो प्रकार के ही योगो का भाव लिये प्रतीत होता है। विशिष्टार्थक "वि" उपसर्ग विशिष्ट क्रिया से विशिष्ट मन्त्र के संयोग को सूचित करता है, और निष्ठात्मक "नि" क्रिया युक्त मन्त्र से मन को नि.शेषेण संयुक्त करने सकेत देता लगता है। छन्दोग्योपनिषद्[४] दो स्थलो पर उपनिषद् के उप और नि दोनो उपसर्गों के पृथक्-पृथक् अर्थों (सामीप्य और नितराम्) को गृहीत करके ही "उपनिषद्" की समग्र व्याख्या देता है।

इस मानसिक-भावना के विशेष महत्त्व को स्वीकार किये बिना उन मन्त्रों का विनियोग निष्प्रयोजन ही रह जायेगा, जो सिर्फ जप मे विनियुक्त हैं, अथवा जिनके प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये ब्राह्मण सिर्फ "आशिषमेवाशास्ते" या "रक्षसाम-पहत्यै" कहकर ही चुप हो जाते हैं।[५] निश्चय ही ऐसे स्थलों पर मानसिक धारणा पर ही पूरा बल दिया गया है।

किन्तु जहाँ क्रिया भी है, वहाँ भी मन्त्रार्थानुसार चिन्तन विशेष महत्त्व का है, इस बात का द्योतन निम्न प्रकरणों से होता है—

हवि निकालने के लिये हविर्धान पर से आच्छादन हटाते समय "मित्रस्य वश्चक्षुषा प्रेक्षे"[६] से हवि की ओर देखने का निर्देश है, और ब्राह्मण[७] इसके प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये कहता है कि "इससे इन (हविष्यान्नों) को मित्र ही बना लेता है।" ऐसा ही मन्त्र[८] हवि को पीसते समय भी उस हवि को देखने मे विनियुक्त है, और ब्राह्मण[९]

---

१ मै स ३।६।४
२ श ४।१।१।२२, तै. २।२।१।२, ३।७।१।२
  जै. उ १।३३।२, कौ १०।१।२६।२
३ श १४।४।३।६
४ छा उ २।२३।१, ७।८।१
५ मै स ४।१।१।१, ४।१।६।४४, ४।१।१०।६०
६ ,, १।१।५।१२
७ ,, ४।१।५
८ ,, १।१।७।१५
९ ,, ४।१।७

उसका भी यही प्रयोजन बताता है। यद्यपि यहाँ सामान्य क्रिया साम्य का सूचक "प्रेक्षे" शब्द तो है ही, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस दर्शनमात्र से विनियोग का पूर्ण प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। वस्तुतः यहाँ देखने का महत्त्व नहीं है, अपितु महत्त्व है मित्र दृष्टि का, मित्र भावना का, और यह बाह्य-कर्म द्वारा नहीं, भीतरी भावन-चिन्तन द्वारा ही सम्भव है।

इसी प्रकार हविर्धान शकट की धुरी को छूते समय उससे अपने शत्रुओं के नाश की प्रार्थना करना,[1] हवि को लेने के बाद गाड़ी से उतरकर जाते समय "मैं वरुण के पाश से छूट आया हूं।" ऐसा मन्त्र[2] बोलना, पीसते समय गिरे हुये हविष्यान्न को सविता देव ग्रहण कर लें, ऐसी प्रार्थना[3] करना, इत्यादि अनेकों स्थल भी बाह्य क्रिया की अपेक्षा भीतरी अनुभूति की आवश्यकता को ही प्रमाणित करते हैं।

दीक्षा-संस्कार के समय कृष्णाजिन पर चढ़कर वरुण देवता का एक मन्त्र बोलता है कि "वरुण देव इस शिष्य (दीक्षित यजमान)[4] को ऐसी बुद्धि और उत्तम यज्ञ सिखायें, जिससे इन संतरण सुलभ (कृष्णाजिन रूपी) नौका पर चढ़े हुये हम सब कष्टों से पार हो जायें।" ब्राह्मण[5] इससे पूर्व के मन्त्र-व्याख्यान में कृष्णाजिन को ऋक् और साम का प्रतीक बताते हुये स्पष्ट करता है कि "कृष्णाजिन पर आरूढ़ यजमान को ऋक् और साम यज्ञ की पूर्णता तक पार लगा देते है।" इस विवरण के प्रकाश में उपर्युक्त मन्त्र की सार्थकता तदनुकूल भावन से भिन्न कुछ नहीं रह जाती है। ऐसी सार्थकता वाक्संयमी (मौनव्रती) यजमान द्वारा सूर्योदय होने पर पुनः वाणी प्रयोग करते हुये बोलने वाले मन्त्र[6] की है, जिसमें विभिन्न देवताओं से अपनी विविध वाणियों के पुनः प्राप्त होने की प्रार्थना की गई है। ऐसे मन्त्र भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ विनियोग ऐसे भी हैं, जिनमें क्रिया और मन्त्रार्थ कुछ अलग-अलग प्रतीत होते हैं। यथा बर्हि को काटने के बाद एक मन्त्र[7] द्वारा उसके कटे भाग को और फिर आगे को छूकर दोनों के फलने-फूलने की कामना की गई है। एक मन्त्र[8] द्वारा केश काटते समय स्वधिति (उस्तरे) से यजमान का हिंसन

---

१ मै. सं. १।१।४।११, ४।१।४
२ ,, १।१।५।१२, ४।१।५
३ ,, १।१।७।१५
४ ,, १।२।२।१५
५ ,, ३।६।६
६ ,, १।२।३।२६, ३।६।१०
७ ,, १।१।२।५
८ ,, १।२।१।२

करने की प्रार्थना की जाती है। ऐसे स्थलों पर भी मन्त्रार्थानुकूल मानसिक-भावना ही दोनों में सम्बन्ध बिठाती है, अन्यथा स्पर्शन और सम्वर्धन कामना का तथा कर्त्तन-क्रिया और अहिंसन की प्रार्थना का सीधा सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता है।

इतना ही नहीं, मन्त्रार्थपरक चिन्तन को विनियोग में स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने पर ही विनियोग सम्बन्धी कई विसंगतियों को भी दूर किया जा सकता है। यथा अग्निष्टोम के दीक्षा-संस्कारों के बाद व्रतपान से पूर्व हाथ धोने में जो मन्त्र[1] विनियुक्त है, उसमें यज्ञवाहिका कल्याणकारिणी बुद्धि का आह्वान किया जाता है, हवि निकालने के लिये सूर्य और अग्निहोत्रहवणी को छूते समय अग्नि और अन्य देवों को हवि भक्षण के लिए बुलाया गया है,[2] उखा निर्माण के लिए बांधकर लाई गई मिट्टी को खोलते समय अग्नि से शत्रुओं के नाश और अपने प्रति अनुकूलता[3] की कामना की गई है,[3] बँधे हुये सोम की स्तुति वरुण देवता के मन्त्र से[4] की जाती है। प्रथम मन्त्र के व्याख्यान में ब्राह्मण[5] मन्त्र और क्रिया के सम्बन्ध पर प्रकाश न डालता हुआ व्रत-पान रूप अन्न की प्राप्ति के लिए जल के प्रयोग के औचित्य को ही स्पष्ट करता है। दूसरे मन्त्र के अर्थ और क्रिया के उल्लेख के बदले भी ब्राह्मण[6] पात्रों को देवता का ग्रह (भाग निकालने वाला) कहकर रह जाता है। तीसरे के लिये ब्राह्मण[7] सिर्फ इतना ही कहता है कि "अनुरूप से ही वरुण पाश को खोलता है।" और चौथे के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये भी ब्राह्मण[8] इतना ही कहता है कि "इस (मन्त्र) से इस सोम को वरुण ही बना देता है।

स्पष्टतः ये स्थल क्रिया और मन्त्रार्थ की एकरूपता को प्रदर्शित नहीं करते हैं। किन्तु यदि यह मानें कि इन क्रियाओं को करते समय कर्त्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मन्त्रार्थ के अनुसार अपने में भावना रखे, चिन्तन-धारण करे, तो विनियोग की उपयोगिता भी स्पष्ट हो जाती है, और विनियोग में क्रिया की अपेक्षा भावना का महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है। यज्ञ की प्रारम्भिक क्रिया-रूप व्रतपान को करने से पूर्व हस्त-प्रक्षालन के समय यदि यजमान "यज्ञधारिणी, समर्था, कल्याणकारिणी, पवित्र बुद्धि" का आह्वान करता है, तो यह समयोचित भावना है। पर इसमें मन्त्रार्थ क्रिया पर आधारित नहीं है, यह निर्विवाद है। इसी प्रकार दूसरे

---

१ मैं म १।२।३।२४
२ ,, १।४।१।३
३ ,, २।७।५।५८
४ ,, १।२।६।३६
५ ,, ३।६।६
६ ,, १।४।५
७ ,, ३।१।६
८ ,, ३।७।८

दृष्टान्त में हवि निकालने से पूर्व यजमान अपने में इस भावना को भरता प्रतीत होता है कि "हवि निकालने का यह कर्म मैं देव-यजन के लिए कर रहा हूँ, (अपने लिए नहीं) अतः देवगण और उनको लाने वाला अग्नि प्रसन्न मन से इसके भक्षण के लिए आयें। वस्तुतः प्रत्येक आहुति के बाद बोले जाने वाले 'इदं न मम" की भावना के अनुरूप ही यजमान की यह प्रार्थना है। तीसरे प्रसंग में पुरीष्य (उखानिर्माण के लिए लाई गयी मिट्टी का याज्ञिक नाम)—जिसे अग्निरूप ही माना गया है, क्योंकि इसी में अग्नि जलाई जाती है,—को खोदते समय उसके अग्निरूप को स्मरण करते हुए ही अग्नि से शत्रुनाश की प्रार्थना करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु इसमें भी बल खोदने की क्रिया को मन्त्रार्थ से मिलाने पर नहीं, मन्त्रार्थ-भावन पर ही है। चौथे स्थल पर तो सोम को वरुण—मन्त्र से वरुण ही बना देना स्पष्टतः भावना-आश्रित है। हाँ—ब्राह्मण[1] इसका आधार स्पष्ट करते हुए कहता है कि "बँधा हुआ सोम वरुण-देवता का ही होता है।" वरुण के पाश ही बन्धन का कार्य करते हैं। अतः प्रत्येक बंधी वस्तु को वरुण से सम्बद्ध किया जाता है। उखानिर्माण के लिए लाई गई मिट्टी विशेष को जब बाँधा जाता है, तब इसी आधार पर ब्राह्मण[2] उसे भी वरुणमेनि-वरुणकृत कष्ट से युक्त-वर्णित करता है।

इससे स्पष्ट होता है कि जहाँ मन्त्र और क्रिया का सम्बन्ध अर्थ से अथवा कर्म से संयुक्त है, वहाँ मन का योग आवश्यक है। किन्तु जहाँ मन्त्रार्थ और क्रिया में कोई संगति बैठती प्रतीत नहीं होती है, वहाँ मन्त्रार्थानुसार मानसिक-चिन्तन ही विनियोग का आधारभूत तत्त्व प्रतीत होता है, वहाँ मन्त्र निर्देशक बनकर मन से अर्थानुकूल योग की अपेक्षा करता है। विनियोग का यह स्वरूप वस्तुतः बाह्यतः क्रियाश्रित रूप समृद्ध न होकर अर्थाश्रित भावसमृद्ध है, जो यज्ञ की पूर्णता में परमोपयोगी , ऐसा मानना चाहिए।

(ग) प्रतीकाश्रित

विनियोग के पूर्वोक्त दो स्वरूपों क्रिया और वर्णन पर आश्रित रूप समृद्ध एवं अर्थमात्र पर आश्रित भावसमृद्ध स्वरूपों के अतिरिक्त एक अन्य स्वरूप भी सामने आता है, जो प्रतीक पर आश्रित प्रतीत होता है। इस स्वरूप में क्रिया, वर्णन या अर्थ गौण तो नहीं है, पर प्रतीक को जाने बिना अपूर्ण रहते हैं। यों तो सम्पूर्ण यज्ञ ही एक प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड है, पर मन्त्रों के विनियोग में यह निर्देशक-तत्त्व के रूप में किस प्रकार प्रकट हुआ है, इतना ही यहाँ वर्णित है।

"प्रतीक" अर्थात् एक ऐसी वस्तु, जिसको किसी अन्य वस्तु के स्थान पर स्वीकार कर लिया जाता है। यथा—दीक्षित व्यक्ति को एक दण्ड—लकड़ी—दिया जाता है। ब्राह्मण[3] इसके प्रतीकात्मक औचित्य को स्पष्ट करते हुए कहता है कि

---

१ मै. सं. ३।७।८
२ ,, ३।१।६
३ ,, ३।६।८

दण्ड देने का तात्पर्य वाणी प्रदान करना है। इसीलिए दण्ड का परिमाण मुखद्घन—मुख तक लम्बा—होता है, क्योंकि वाणी मुख से उत्पन्न होती है। इससे स्पष्ट है कि दण्ड को यहाँ वाणी के स्थान पर—उसके प्रतीक रूप मे स्वीकार किया गया है। लकड़ी आदि से निर्मित वाद्यों की ध्वनि—राग—उत्पन्न करने की क्षमता से प्रकट होता है कि वनस्पतियों में भी वाणी है। अत वनस्पति निर्मित यह दण्ड वाणी का प्रतीक मान लिया गया। मेखला को बाँधने का औचित्य बताते हुए ब्राह्मण[1] कहता है कि इससे यजमान मे बल का आधान किया जाता है। अर्थात् मेखला बल के प्रतीक रूप मे स्वीकृत है। मेखला ओषधि-विशेष से बनाई जाती है, और ओषधि बलकारक होती है। अत मेखला को बल का प्रतीक स्वीकार किया गया। इसी प्रकार प्रायः सभी यज्ञ-क्रियायें किसी-न-किसी जीवनी-शक्ति या सृष्टि-तत्त्व के प्रतीक रूप मे की जाती हैं। अत मन्त्रों के विनियोग मे भी ये प्रतीक नियामक होते, यह स्वाभाविक है।

किन्तु कहीं-कहीं तो प्रतीक का स्थूल वर्णन ही मन्त्र मे होता है। जैसे—उपर्युक्त दण्ड और मेखला ग्रहण के मन्त्रों—"बृहस्पतेसि वानस्पत्य, ऊर्गस्यां-गिरस्यूर्णम्रदा"[2] से स्पष्ट है। ऐसे स्थलों पर प्रतीकात्मकता स्पष्ट न भी हो, तो भी मन्त्र के विनियोग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। किन्तु ऐसे स्थल भी अनेक हैं, जहाँ प्रतीकों को समझे बिना मन्त्र का विनियोग अस्पष्ट या असगत सा प्रतीत होता है। ऐसे ही प्रसगों को इस प्रतीक-समृद्ध स्वरूप के अन्तर्गत रखा गया है।

यथा—प्रस्तर (एक दर्भमुष्टि विशेष) को हटाते समय और उसे अग्नि में डालते समय यजमान कहता है कि "मेरी सेवनीय, व्यवहार योग्य, शुभ कामनायें देवों को प्राप्त होकर सत्य हो जायें।"[3] यहाँ मन्त्र मे गमन-क्रिया का साम्य होते हुए भी प्रस्तर का कोई सकेत नही है, और क्रिया के साथ मन्त्रार्थ-चिन्तन का सामजस्य भी स्पष्ट नही होता है। अत. इस विनियोग को समझने के लिये प्रस्तर की प्रतीकात्मकता समझनी आवश्यक है। यहाँ यह प्रस्तर यजमान की समस्त कामनाओं का प्रतीक है। सब कामनाओं का उद्भव पुरुष से ही होता है। अत. पुरुष और काम के अभेदत्व को प्रतिपादित करते हुए शतपथ[4] मे वर्णित है कि "काममय एवाय पुरुष।" अत ब्राह्मण[5] "यजमानो वै प्रस्तर" कहकर प्रस्तर को काममय यजमान के प्रतीक के रूप मे वर्णित करते हैं, और इसी प्रस्तर को अग्नि मे डालते हुए यज-

---

१ मै. स ३।६।७

२ ,, १।२।२।१७।१९

३ ,, १।४।१।१७, १।४।५

४ श १४।४।२।७

५ मै. स. ३।८।६, श १।८।१।४४,
तै ३।३।६।७, ऐ. २।३

मान मानो स्वतः ही देवलोक को प्राप्त करता है ।[1] यही यजमान की कामनाओं का सत्य होना है, जिसके लिए प्रस्तर को अग्नि में डालते हुए प्रार्थना की गई है। इस प्रतीक की पृष्ठभूमि में ही उपर्युक्त मन्त्र और क्रिया का विनियोग सार्थक होता है।

इसी प्रकार यज्ञ-पात्रों—स्रुव, जुहू, उपभृत् और ध्रुवों को मांजते हुए मन्त्र बोला जाता है कि "मैं आयु और प्राण को, चक्षु और श्रोत्र को, वाणी और पशुओं को तथा यज्ञ और प्रजा को मांजता-स्वच्छ-करता हूं।"[2] शतपथ[3] में वर्णित "प्राण एव स्रुवः" और मैत्रायणी संहिता[4] में चित्रित "असा आदित्यः स्रुवः, द्यौर्जुहूः, आत्मा जुहूः, अन्तरिक्षयुपभृत्, प्रजा उपभृत्, पृथिवी ध्रुवा, पशवो ध्रुवा" के आधार पर इन पात्रों की प्रतीकात्मकता को जानकर ही इस मन्त्र के विनियोग का स्वरूप स्पष्ट होता है।

दर्शपूर्णमासयज्ञ की समाप्ति पर अध्वर्यु जुहू और उपभृत् नामक स्रुचाओं को क्रमशः ऊपर उठाते हुए और नीचे ले जाते हुए जो मन्त्र[5] बोलता है, उसका भाव है कि "इस उठान—उद्ग्राभ—से मुझे समृद्ध करो, और इस अधोगमन निग्राभ से मेरे शत्रुओं का नाश करो।" इसकी संगति भी ब्राह्मण[6] के "यजमान-देवत्या वै जुहूः, भ्रातृव्योपभृत्" के प्रतीकपरक व्याख्यान से ही स्पष्ट होती है कि यजमान देवता वाली जुहू को उठाना मानो यजमान को ही समुन्नत करना है, और भ्रातृव्यदेवता वाली उपभृत् को नीचे करना मानो शत्रु को ही पराभूत करना है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ये दोनों स्रुचायें पूर्वोक्त एक प्रसंग में आत्मा और प्रजा की प्रतीत मानी गई हैं, और इस प्रकरण में यजमान और भ्रातृव्य से सम्बद्ध की गई हैं। इससे प्रसंगानुसार प्रतीकों का भिन्न-भिन्न अर्थों में लिया जाना भी स्पष्ट हो जाता है।

दीक्षा-संस्कार के समय कृष्णाजिन की श्वेत और कृष्ण वर्ण की रोम-पंक्ति को छूते हुए कहा जाता है कि "ऋक्सामयोः शिल्पे स्थ।"[7] इस विनियोग को भी ब्राह्मण[8] के निम्न प्रतीक-व्याख्यान के आधार पर ही समझा जा सकता है कि "ऋक् और साम यज्ञ का आधा (भाग) थे। ये दोनों अपने महत्त्व (पूर्ण भाग) को

---

१ तै. १।७।४
२ मै. सं. १।१।११।२५
३ ,, १।३।२।३
४ ,, ४।१।११-१२
५ ,, १।१।१३।३६-४०
६ ,, ४।१।१२
७ ,, १।२।२।१४
८ ,, ३।६।६

छिपाकर यज्ञ के पास गये। इनका वह (छिपा हुआ) महत्त्व (पूर्ण भाग) दिन और रात बन गया। यह जो कृष्णाजिन का रूप है, वह इन दोनों (दिन और रात) का ही प्रतीक है। जो शुक्ल है, वह दिन का और जो कृष्ण है, वह रात्रि का रूप है। सम्यक् पार जाने के लिए इन ऋक् और साम के इस महत्त्व—श्रेष्ठत्व—को ही प्राप्त करता है।" इससे ही स्पष्ट होता है कि कृष्णाजिन की सफेद-काली रोमराजि को छूते हुए इन्हें "ऋक्साम की शिल्प" क्यों कहा गया है। वस्तुतः यह प्रतीक-प्रधान विनियोग भाव-समृद्ध विनियोग की महत्ता और उपयोगिता को पुष्ट करता हुआ उससे अगला कदम ही है।

संक्षेपतः विनियोग के उपर्युक्त तीनों स्वरूपों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि विनियोग का पहला और स्पष्ट आधार क्रिया और वस्तु-वर्णन से मन्त्रार्थ की सीधी संगति है, जिसमें मन्त्रों के विशिष्ट अर्थ का विशेष महत्त्व है। किन्तु विनियोग के अन्य आधारों में मन्त्रार्थ का भावन और प्रतीकों का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यज्ञ की सार्थकता के लिए स्थूल-बाह्य आधार वाली रूप समृद्धि के साथ-साथ सूक्ष्म आन्तरिक भाव समृद्धि और प्रतीकसमृद्धि के स्वरूपों को स्वीकार करने पर कई मन्त्रों की अप्रासंगिक सी प्रतीत होने वाली स्थिति का समाधान हो सकता है।

अष्टम अध्याय

पर्याय-विवेचन

ब्राह्मण ग्रन्थ अपने व्याख्यानों में अपने आशय को स्पष्ट करते हुये बहुधा ऐसी वाक्यावलि-शैली का प्रयोग करते हैं कि जल ही यज्ञ है, वाक् ही पशु है, घृत ही तेज है, हिरण्य अमृत है, अग्नि संवत्सर है, यह (—पृथ्वी) कद्रू है।" इत्यादि....। इनमें एकता-तादात्म्य-बताते हुये एक को दूसरे के पर्याय के रूप प्रयुक्त किया गया है। किन्तु इन नाना प्रकार के पर्यायों के पीछे ब्राह्मणकार की क्या-क्या चिन्तन-धारायें रही होंगी, दुर्भाग्यवश आज यह जान पाने के स्पष्ट साक्ष्य सुलभ नहीं हैं। किन्तु प्रकरणों और यौगिक अर्थों के आधार पर इन पर्यायों के आधारों को समझने और वर्गीकृत करने का एक स्तुत्य प्रयास डॉ० नाथूराम पाठक ने अपने शोध प्रबन्ध "ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन" में प्रस्तुत किया है। इस विषय पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेख[1] डॉ० सुधीर कुमार गुप्त का है, जिसमे "पर्याय योजना" के नानाविध आधारों को स्पष्ट करते हुये इनका भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी संक्षिप्त अध्ययन किया गया है।

वस्तुतः ब्राह्मण-व्याख्यानों में नानाविध यज्ञों के प्रयोजन, यज्ञविधियों की सार्थकता और यज्ञ-साधनों की उपयोगिता को ही समझाया गया है, और इन्हीं सन्दर्भों में उपर्युक्त पर्याय दिये गये हैं। अतः एक ओर तो पर्यायों के केन्द्र-विन्दु को पकड़ने के लिये यज्ञों के स्वरूप को समझना आवश्यक है, और दूसरी ओर इन पर्यायों के आधारों को जाने विना यज्ञों के रहस्यों को पूर्णतः उद्घाटित करना असम्भव सा प्रतीत होता है। इससे इन पर्यायों के अध्ययन की आवश्यकता और इनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि इन पर्यायों का निर्माण नानाविध सम्बन्धों—जन्यजनक, कार्यकारण आधाराधेय आदि—के आधार पर भी हुआ है, जैसा डॉ० पाठक ने अपने उपर्युक्त पुस्तक के द्वितीय अध्याय में स्पष्ट किया है। किन्तु निम्न विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि सामान्यतः पर्यायों के मूल में यज्ञ का प्रतीकवाद भी निहित है। क्योंकि यज्ञविधियों का विवरण यह स्पष्ट करता है कि तात्विक रूप से यज्ञ एक रूपक है, जिसकी प्रत्येक क्रिया और वस्तु के द्वारा प्रतीकात्मक शैली में जीव-जगत्

---

१ "ब्राह्मणों में प्राप्त निर्वचनों के प्रकार और पर्याय-योजना"
("गुरुकुल-पत्रिका" अगस्त-सितम्बर-अक्टूबर १९६६ में प्रकाशित पृ० ८७-९९)

के रहस्यो को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। अग्निचितियाग इसका स्पष्ट और सर्वोत्तम उदाहरण है, जिसमे सृष्टि के तत्वो के प्रतीक रूप मे ही नानाविध इष्टकाओं का आधान किया जाता है।[1] अग्निष्टोमयाग के दीक्षा सस्कारो की क्रियाओ के द्वारा गर्भस्थ शिशु की स्थिति को चित्रित करना,[2] अनेको सोमग्रहो को प्राण-अपान, वाक्, दक्षक्रतु, श्रोत्र, नेत्र, आत्मा, वीर्य और वायु आदि के रूप मे वर्णित करना[3] भी स्पष्टत इसी प्रतीक शैली की पुष्टि करते हैं। अग्न्याधान मे गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—इन तीनो अग्नियो के आधानो को तीन प्राणों अथवा तीन लोको को स्थापित करने के रूप मे व्याख्यान करना[4] भी यज्ञ-विधि की प्रतीकात्मकता का ही प्रमाण देते है। अत पर्यायो को समझने के लिए यज्ञो की इस प्रतीकात्मकता को सदा ध्यान मे रखना भी आवश्यक है।

प्रतीको पर आधारित पर्यायो को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—

१ प्रतीकमात्र

इस वर्ग के पर्यायो मे किसी अप्रस्तुत, परोक्ष अथवा अज्ञात वस्तु के लिये कोई भी प्रतीक स्वीकार कर लिया जाता है, यद्यपि दोनो मे कोई साम्य नही होता है। यथा—

वैश्वदेव-पर्व मे द्यावापृथिवी के लिये एक कपाल पुरोडाश की हवि बनाते है। इस पुरोडाश को पहले घी से तर करते हैं, और फिर आहवनीय मे आहुति देते हैं। इस विधि मे प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "यजमानो वा एक-कपाल, आवहनीय स्वर्गो लोको।"[5] और इन दोनों पर्यायो के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये स्वत ब्राह्मण कहता है कि "यत् सर्वंहुत करोति हविर्भूतमेवैन स्वर्गं लोक गमयति।"[6] अर्थात् इस सारे पुरोडाश की आहुति देता है, (इससे मानों) हविरूप इस (यजमान) को ही स्वर्ग लोक भेजता है।" यहाँ पुरोडाश यजमान का प्रतीक मात्र है, और आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक का प्रतीक है। यही इन पर्यायों का मूल है। इसी प्रकार का "यजमानो वै प्रस्तर" भी केवल प्रतीक पर आधारित है।[7]

---

१ देखिए चतुर्थ अध्याय के पृष्ठ ८०, ८१ और पचम अध्याय का पृष्ठ २०७ से २१५ तक

२ देखिए चतुर्थ अध्याय का पृष्ठ ६३

३ देखिए पाँचवें अध्याय के पृष्ठ १३७ से १४३ तक मै म. ४।५।९

४ देखिए चौथे अध्याय का पृष्ठ ५६

५ मै. स १।१०।७

६ ,, ,,

७ इसके लिये सप्तम अध्याय का पृष्ठ २९५ देखिए

अग्निचितियाग में तीन स्वयमातृण्णा—प्राकृतिक छिद्र वाली—ईंटें रखी जाती हैं। इनके लिये ब्राह्मणकार कहते हैं कि "इयं वै प्रथमातृणा, अन्तरिक्षं द्वितीया, असौ तृतीया। इमानेव लोकानुपधत्त।"[१] स्पष्टतः इन ईंटों को तीनों लोकों का प्रतीक मानकर इनसे एकीकृत किया गया है और इनके आधान से तीनों लोकों की ऊर्ध्वस्थिति को ही व्यक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में इन ईंटों को प्राणों का प्रतीक मानकर कहा गया है कि "प्राण वै स्वयमातृण्णा।"[२] और इनके आधान का प्रयोजन है प्राणों का शरीर में निर्बाध संचरण करना।[३] इसी तरह तीन गायों को भी तीन लोकों की प्रतीक मानकर दुहा जाता है कि इनके दोहन से मानो तीनों लोकों को ही दुह लिया जाता है।[४]

द्विस्तना उखापात्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि "अन्तरिक्षं वा उखा, इमौ लोकौ स्तनौ।"[५] इनके द्वारा सृष्टि-रचना के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए उखा को अन्तरिक्ष और पार्श्ववर्ती दोनों स्तनों को द्युलोक-भूलोक का प्रतीक बताते हुये कहा गया है कि जैसे इस मध्यवर्ती सावकाशा उखा के दोनों ओर दो स्तन हैं, वैसे ही सावकाश अन्तरिक्ष मध्य में और इसके दोनों पार्श्वों में द्यावापृथिवी लोक हैं।

अन्यत्र "योनि वै सिकता, रेतः ऊषा"[६] कहकर सिकता-बालू को योनि और ऊषा-खारी मिट्टी-को रेतस् से एकीकृत करना भी स्पष्टतः प्रतीक के अन्तर्गत है। यह तथ्य इस ब्राह्मण व्याख्यान से ही स्पष्ट हो जायेगा...." यह जो सिकता को डालकर ऊषा को डालता है, (इससे मानो) योनि में रेतस् का ही आधान करता है। इससे योनि में रेतस् स्थापित होता है, और इसीसे योनि से रेतस् उत्पन्न होता है।[७] इसी सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का वर्णन इन पर्यायों की प्रतीकात्मकता को और भी स्पष्ट करता है। जिस सिकता को पहले योनि कहा गया है, उसी को यहाँ रेतस् मानकर कहा गया है "ताः (सिकताः) उत्तरवेदौ निवपति। योनिर्वा उत्तरवेदिः। योनौ तद् रेतः सिंचति।"[८] क्योंकि यहाँ सिकता को उत्तरवेदि पर बिछाने का वर्णन है, जबकि पहले में सिकता पर मिट्टी बिछाते हैं। अतः यहाँ सिकता रेतस्रूप है। अन्य प्रसंग में "योषा वा उखा, वृषा अग्निः"[९] के पर्याय के पीछे भी यही दृष्टि है, क्योंकि

---

१ मै. सं. २।३।६, तै. सं. ५।२।८, का. सं. २०।६
२ श. ७।४।२।२
३ ,, ,,
४ मै. सं. ४।१।३।२०, का. सं. ३१।२, तै. ३।२।३
५ ,, ३।१।७
६ ,, ३।२।३
७ ,, ३।२।३
८ श. ७।३।१।२७-२८
९ ,, ६।६।२।८

उखा-पात्र मे अग्नि को रखा जाता है और इसके प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये ब्राह्मणकार कहता है कि "इससे जब वृषा योषा को तपाता है—सन्ताप देता है इसीलिये इस (उखा) मे ही रेतस् (रूप अग्नि) का आधान करता है।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ उस वस्तु को योनि अथवा स्त्री के प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है, जिसमे किसी वस्तु का आधान किया जाये, और आधान की गई वस्तु को रेतस् का प्रतीक माना है।

स्रुव, जुहू, उपभृत् आदि को आयु, प्राण चक्षु और लोक आदि कहना भी इसी प्रतीक-वर्ग के अन्तर्गत है।[2]

२ मिश्रित प्रतीक

किन्तु अनेक पर्याय ऐसे भी हैं जिनमे प्रतीकात्मकता के साथ-साथ अन्य तत्त्वो भी की समानता मिल जाती है। इन तत्त्वों की समानता मे गुणो, क्रियाओ, सख्याओ, सम्बन्धो, स्वरूपो आदि अनेक पहलुओ का समावेश होता है।

यथा—वाजपेययाग मे प्रजापति के लिये सोम और सुरा के १७-१७ ग्रह लिये जाते हैं। इस प्रक्रिया के प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिये अनेक प्रतीक पर्यायों का प्रयोग करते हुये कहा गया है —"प्रजापतिर्वै सप्तदश, सप्तदश पुरुषो प्राजापत्य, श्रीर्वै सोम, पाप्मा सुरोपयामा।"[3] इन चारो पर्यायो मे दो सख्या पर आधारित प्रतीक है, और दो गुणो पर। प्रजापति अथवा पुरुष सप्तदश क्यो हैं—इसके लिए ब्राह्मण कहता है कि—सिर, ग्रीवा, आत्मा, चार प्रकार की वाणी और १० प्राण—इन सत्रह अगो से युक्त होने के कारण प्रजापति पुरुष सप्तदश है,[4] और इसी के प्रतीक रूप मे सोम और सुरा के १७-१७ ग्रह होने हैं। अत यह सख्या साम्य पर आधारित पुरुष के स्वरूप को बताने वाला प्रतीक है और सोम को श्री कहना उसके शरीर-पोषक गुण और सुरा को पाप्मा कहना उसके शरीर के स्वाभाविक रोग-दोषरूप गुण को स्पष्ट करता है। इस तरह ये पर्याय गुणबोधक हैं। किन्तु कुल मिलाकर इन पर्यायो और विधि का स्वरूप प्रतीकात्मक ही है, क्योकि सोम-ग्रहो को अनुकूलता से ग्रहण करने का प्रतीकात्मक प्रयोजन पुरुष शरीर के सत्रहो अगो को श्री से सम्पन्न करना है, और सुराग्रहो को प्रतिकूल गति से दूर करने का आशय सब अगों से दोषो का निराकरण करना है।[5]

यहा यह भी उल्लेखनीय है कि शतपथ ब्राह्मण[6] यहाँ प्रजापति को

---

१ श. ६।६।२।८

२ देखिए सप्तम अध्याय के पृष्ठ ३००

३ मै स १।११।६

४ ,, १।११।६

५ ,, ,, तै. १।३।३.

६ श. ५।१।२।१३.

सप्तदश न कहकर 'चतुर्चत्वारिंशद्' कहता है, और उसका आधार और प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट करता है कि ३३ देवता हैं, और ३४वां प्रजापति है। अतः १७ सोम और १७ सुरा—कुल ३४ ग्रहों के ग्रहण से प्रजापति को ही जीत लेते हैं।" प्रयोजन की सिद्धि में तात्विक अन्तर न होते हुए भी प्रतीक के आधार मे भिन्नता होने के कारण ही पर्याय में भी अन्तर पड़ गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] द्वारा इस प्रक्रिया के अनेक उद्देश्य और भिन्न पर्याय देने से प्रतीक-शैली और भी स्पष्टता से सामने आती है—"सोम देवों का अन्न है, और सुरा मनुष्यों का। (अतः सोम के बाद सुरा के ग्रहण से) परम (—उत्तम) अन्न द्वारा अवर (—निम्न) अन्न को वशवर्ती बनाते हैं। (अथवा) सोम ब्रह्म का तेज है, जिसे यजमान मे रखते हैं, और सुरा अन्न का शमल है जिसे यजमान से दूर कर देते हैं। (अथवा) सोम पुरुष है, और सुरा स्त्री है, प्रजनन के लिये इनका मिथुन होता है।"

ये तीन प्रकार के पर्याय तीन भिन्न पहलुओं को स्पष्ट करते हैं। प्रथम पर्याय सोम की उत्कृष्टता और हविरूप में देवों से उसके सम्बन्ध को तथा सुरा की हीनता और मनुष्यों से उसके सम्बन्ध को बताता है। यह पर्याय सम्बन्ध और स्तर को साथ-साथ अभिव्यक्त करता है। दूसरा पर्याय मैत्रायणी संहिता के आशय को ही कुछ भिन्नता के साथ कहता है कि सोम में ज्ञानवर्धक गुण है, और सुरा अन्न की विकृति है। यह पर्याय गुण पर आश्रित है और तीसरा पर्याय मात्र लिंग पर निर्भर है। तीनों प्रयोजनों में एक साथ इतनी भिन्नता पर्यायों की ही नहीं, यज्ञविधि की प्रतीकात्मकता को भी भली प्रकार स्पष्ट करती है।

यह वर्णन यह भी स्पष्ट करता है कि एक ही वस्तु को जब अनेक प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया जाता है, तब एक ही वस्तु के लिये अनेक पर्यायों का भी प्रयोग किया जाता है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य उदाहरण पर्याप्त होगा। अग्निष्टोमयाग में सोम खरीदते समय चतुर्गृहीत—चार बार लिये गये—आज्य में हिरण्य रखकर आहुति दी जाती है। इस विधि को व्याख्यात करते समय निम्न पर्यायों का प्रयोग किया गया है—चतुष्पादो वै पशवः, आग्नेयं घृतम्, अग्निजं हिरण्यम्, तेजो हिरण्यम्, पशवो वै घृतम्, रेतो हिरण्यम्"[2]। ये पर्याय संख्या, गुण, सम्बन्ध और प्रतीक पर साथ-साथ आश्रित हैं। इनके स्वरूप को समझने के लिए तत्सम्बन्धी व्याख्यान को देखना आवश्यक है। इस प्रसंग में कहा गया है कि—आज्य को चार बार लिया जाता है, (क्योंकि) पशु चार पैरों वाले हैं। (अतः चार बार आज्य लेने से चतुष्पाद) पशुओं को ही वश में करता है। हिरण्य को (आज्य में) रखकर आहुति देता

---

१ तै. १।३।३
२ मै. सं. ३।७।५

है, (क्योंकि) घृत आग्नेय—अग्नि-सम्बन्धी है, और हिरण्य अग्निज-अग्नि से उत्पन्न है। अतः शरीरयुक्त और तेजयुक्त आहुति देता है। यह जो घृत है, यह अग्नि का प्रिय शरीर है, और तेज हिरण्य है। (अत) जो हिरण्य को रखकर होम करता है, वह इस (अग्नि) के प्रिय शरीर को तेज से प्रदीप्त करता है। इस तरह रूपों का ही ग्रहण करवाता है। पशु ही घृत है, और रेतस् हिरण्य है। जो हिरण्य को रखकर आहुति देता है, (वह पशुओं में ही रेतस् को स्थापित करता है।"[1]

यहाँ एक आहुति देने की क्रिया के तीन प्रयोजन स्पष्ट करते हुये इन नानाविध प्रतीक-पर्यायों को दिया गया है। 'चतुष्पाद पशव' में एक ओर पशु के चार पैरों वाले रूप को व्यक्त किया गया है, और दूसरी ओर चार बार घी लेने की संख्या—समानता पर आधारित यह पर्याय आज्यग्रहण के प्रतीकात्मक प्रयोजन को स्पष्ट करता है। घृत को आग्नेय, अग्नि का प्रिय शरीर और पशु तथा हिरण्य को अग्निज, तेज और रेतस् कहा गया है।

घृतरूपी पशुओं में हिरण्यरूपी रेतस् की स्थापना का वर्णन तो स्पष्टतः प्रतीकमय है किन्तु इसमें समाविष्ट अन्य तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण हैं। घृत को पशु कहने के अनेक आधार हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ को पशु कहा जा सकता है,[2] अतः घृत पशु है। निघण्टु में घृत उदक नामों में पठित है,[3] और पशुओं को भी सलिल कहा गया है।[4] सम्भवतः इन दोनों का आधार गतिमयता है। घृत क्षरणदीप्त्योः से निष्पन्न दीप्त घृत शब्द क्षरणार्थक होने से गत्यर्थक भी हो जाता है, और सृ गतौ से निष्पन्न शब्द में भी गतितत्त्व की प्रधानता है। इससे ऐसा भी लगता है कि पशु शब्द भी किसी गत्यर्थक धातु से निष्पन्न होगा। छन्दों और प्राणों को पशु कहने से भी पशु शब्द में निहित गतितत्त्व की पुष्टि होती है। क्योंकि यज्ञ के वाहक होने से छन्द पशु हैं, और प्रकृष्टता से गमनशील होने के कारण प्राण पशु हैं। अतः इसी गति-साम्य के आधार पर घृत पशु है। घृत और पशु दोनों में पोषक तत्त्व की समानता भी है, इसलिए भी घृत पशु है। पोषक तत्त्व की समानता की पुष्टि में एक अन्य उदाहरण देना भी उचित होगा। वैश्वदेवपर्व की पूर्वोक्त एककपाल पुरोडाश की हवि पर घी के अभिधारण का एक अन्य प्रयोजन बताते हुये कहा गया है कि "यजमानो वा एक-कपाल, पशवो घृतम्। तदभिजूर्य, पशुभिरेवैन समर्धयति।"[5] यहाँ एक कपाल पुरोडाश तो यजमान का प्रतीकमात्र है, पर घृत पशुओं का प्रतीक होने के साथ-साथ पशुओं के पोषक तत्त्व का भी सार्थक प्रतिनिधित्व करता है। क्योंकि जिस प्रकार घृत

---

१ मै स ३।७।५
२ श ६।२।१।२
३ निघण्टु १।१२
४ मै. स. १।५।६
५ „ १।१०।७

शरीर को पुष्ट करता है, उसी प्रकार पशु यजमान की अर्थव्यवस्था को पुष्ट करता है। इसीलिये पुरोडाश को घी से तर करना यजमान का पशुओं से समृद्ध होने का सार्थक प्रतीक है। इस तरह दृश्यमानता, गतिमयता और पुष्टि इन तीनों गुणों की समानता के आधार पर घृत पशु है। दूसरी ओर हिरण्य रेतस का प्रतीक होने के साथ-साथ गुणों की समानता के आधार पर भी रेतस् है हिरण्य और रेतस् दोनों अग्नि से उत्पन्न हैं, और दोनों में बल, पुष्टि और संवर्धन की भी समान शक्ति है। अतः उत्पत्ति-स्थान और गुण की एकता के कारण भी हिरण्य रेतस् है।

घृत को आग्नेय और अग्नि का प्रिय शरीर कहना घृत में अग्नितत्त्व की प्रधानता और उसके अग्निवर्धक गुण को द्योतित करता है। इसी प्रकार हिरण्य को अग्निज और तेज कहना अग्नि से उसके जन्य-जनक सम्बन्ध और उसके तेजस् गुण पर आधारित है।

दीक्षा-दण्ड को वाणी और मेखला को वज्र के प्रतीक रूप में वर्णित करना भी प्रतीकों के साथ-साथ सम्बन्ध और गुण साम्य को द्योतित करता है।[1]

इस प्रकार प्रतीकात्मकता के साथ-साथ गुण, स्वरूप और सम्बन्ध आदि के बोधक पर्यायों की भी प्रचुरता है। किन्तु ऐसे पर्यायों की भी कमी नहीं है, जो इन दोनों वर्गों में समाविष्ट नहीं किये जा सकते हैं। ऐसे पर्यायों को मात्र वैशिष्ट्य व्यंजक, मात्र गुणव्यंजक अथवा मात्र आलंकारिक माना जा सकता है। कुछ उदाहरणों से इन्हें स्पष्ट कर प्रकरण समाप्त करते हैं।

विशिष्टता बोधक

"अग्निर्वै यज्ञमुखम्, गायत्री वै यज्ञमुखम्, जुहूर्वै यज्ञमुखम्, एतद् वै यज्ञस्य शिरो यदुखा" जैसे पर्यायों में यज्ञ में इन वस्तुओं की महत्ता और प्राथमिक स्थिति अर्थात् विशिष्टता को व्यक्त किया गया है। "अग्निर्वै यज्ञमुखम्" के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये सायण कहते हैं कि "अग्नि के बिना यज्ञ की प्रवृत्ति न होने के कारण अग्नि यज्ञ का मुख है।"[2] वस्तुतः शरीर में जो उपयोग और महत्त्व मुख का है, यज्ञ में वही अग्नि का है। देवताओं में जो यह स्थिति अग्नि की है, छन्दों में वह गायत्री की, और यज्ञपात्रों में जुहू की होने से ये दोनों भी यज्ञ का मुख—प्रारम्भ हैं। अग्नि-चितियाग में उखापात्र में ही अग्नि का समिन्धन होने से उस यज्ञ में इसकी वही महत्त्वपूर्ण स्थिति है, जो शरीर में सिर की है। इसी से उखा को यज्ञ का सिर कहा गया है। "यज्ञो वा आपः" के द्वारा भी यज्ञ मे जल के अत्यधिक महत्त्व को ही व्यक्त किया गया है। इस सम्बन्ध में स्वतः शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि "वह (अध्वर्यु) सुबह सर्वप्रथम जल को प्राप्त करता है, उसे लाता है। "जल ही यज्ञ है", क्योंकि इसे

---

१ देखिए सप्तम अध्याय के पृष्ठ २६६

२ तै. सं. भा. ३।८६१

प्राप्त करके सबसे पहले यज्ञ को प्राप्त किया जाता है। (अर्थात् जल को लाने से ही मूलतः यज्ञ का प्रारम्भ हो जाता है), जल को लाने से ही यज्ञ का विस्तार करता है।"[1]

गुण बोधक

इसी प्रकार *"अश्वो वै वृषा, अग्नि वृषा"* के द्वारा अश्व और अग्नि के सेचनसामर्थ्यरूप गुण को ही व्यक्त किया गया है। अर्थात् जिस प्रकार रेतस्-सिंचन से कामना-पूर्ति होती है, उसी तरह अग्नि भी अपने याजक की सभी कामनाओं को पूर्ण करता है। अतः वह भी वृषा है। सायण वृषा का अर्थ प्रायः "कामानां वर्षयिता" ही करते हैं। इसके अतिरिक्त विश्व के अग्नितत्त्व को ही रेतस् का धारक माना गया है,[2] अतः अग्नि अपने इस प्रधान गुण के कारण भी वृषा है। और अश्व अग्नि का प्रतीक होने के कारण[3] और सेचनसमर्थ होने के कारण भी वृषा है। एक स्थल पर कहा गया कि "वायुर्वा अग्नेस्तेजः।"[4] यह सुविदित तथ्य है कि वायु का संयोग अग्नि की प्रचण्डता को बढ़ाता है। अतः वायु में अग्नि की तेजस्विता को बढ़ाने की जो शक्ति है, उसे ही यहाँ *"वायु में अग्नि का तेज"* कहा गया है और इसीलिये तेजस् के इच्छुक को वायव्य पशुयाग का अनुष्ठान करने का निर्देश है।[5] वायु की तेजोवर्धक शक्ति को व्यक्त करने वाला होने से यह पर्याय गुण बोधक ही है।

काठक संहिता में इसी स्थल पर "वायु को पशुओं का प्रियधाम" भी कहा गया है।[6] अन्तरिक्ष स्थानीय होने से वायु जिस अन्तरिक्ष में रहता है, पशु भी उसी अन्तरिक्ष के मध्यवर्ती होकर विचरण करते हैं। इस तरह मानो पशु वायु में ही अवस्थित हैं। इसी से वायु पशुओं का प्रियधाम है। इस पाठक के अनुसार यह पर्याय आधार-आधेय सम्बन्ध के अन्तर्गत आ जाता है। पर यदि यहाँ पशु को अग्नि का वाचक मानें, तो यह पर्याय मैत्रायणी संहिता की तरह वायु के अग्निवर्धक गुण का बोधक होगा। और यह *"अग्नि द्वारा देखा जाता है* (दृश्यते जनैः यः) इसके *(प्रकाश के)* द्वारा पदार्थ देखा जाता है *(पश्यन्ति वस्तूनि जनाः अनेन)* इत्यादि अनेक व्युत्पत्तियों से अग्नि को पशु कहा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुष, गौ, अवि, अश्व और अज—इन पाँच पशुओं—प्राणियों—को प्रजापति रूप अग्नि

---

१ श १।१।१।१२

२ अग्निर्वै रेतोधाः (तै० २।१।२।११, ३।७।२।७)

३ देखिए चौथे अध्याय का पृष्ठ ७१

४ मै. सं. २।१।१०

५ ,, ,,

६ का सं. १९।१०

ने ही उत्पन्न किया, और विलुप्त हुये अग्नि को प्रजापति ने इन पांचों प्राणियों में ही देखा।[1] अतः उत्पत्ति और दर्शन के अपने विशिष्ट गुण के कारण अग्नि पशु है।

इसी तरह कुमुक की लकड़ी को अग्नि का प्रिय शरीर कहना—"एषा वा अग्नेः प्रिया तनूर्यत्कुमुकः"[2] कुमुक वृक्ष की लकड़ी से शीघ्र आग पकड़ने वाले गुण का ही बोधक प्रतीत होता है। तिल्वक की लकड़ी को "एष वै वनस्पतीनां वज्र"[3] कहकर इस लकड़ी की वज्रसदृश मजबूती को व्यक्त किया गया है। जल या घी को वज्र कहना[4] इनकी वज्रसदृश शत्रु—कीटाणु नाशक क्षमता को सामने रखा जाता है। इसीलिये जल छिड़कने के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये बहुधा कहा गया है "रक्षसामपहत्यै"[5] इसी से "आपो रक्षोघ्नी" भी कहते हैं।[6]

आलंकारिक

यों तो "प्रतीक" भी अलंकार के अन्तर्गत हैं, और इस दृष्टि से प्रतीकात्मक पर्याय भी तत्वतः आलंकारिक ही है। किन्तु यज्ञ में प्रतीक की मूल और विशिष्ट स्थिति होने से इसका स्थान अन्य अलंकारों से भिन्न है। अतः यह वर्ग प्रतीक भिन्न अलंकारों का है।

ऐसे पर्यायों का प्रयोग रूपक की तरह भी किया गया है। यथा—"सुषिरो वै पुरुषः"।[7] दीक्षा-संस्कार के समय यजमान द्वारा कुछ खाये जाने के औचित्य को व्यक्त करते हुये यह कहा गया है कि जिस प्रकार छिद्र में कुछ डालने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार पुरुषरूप इस छिद्र में हविरूप अन्नादि डाला जाना चाहिये।

कई स्थलों पर इस रूपक का प्रयोग करते हुये अन्य संगतियों का भी ध्यान रखा गया है। यथा—चरु के विषय में कहा है "धेन्वा वै घृतं पयः, अनुडुहस्तण्डुला"[8] वस्तुतः यहां यही बात स्पष्ट की गई है कि घी-दूध रूपी गाय और चावल रूपी बैल के मिथुन से चरुरूपी वत्स का जन्म होता है। अतः मूलतः यह रूपक है। किन्तु इस रूपक का विशिष्ट सौन्दर्य यह भी है कि घी-दूध गाय से ही

---

१ श. ६।२।१।१-५
२ मै. सं. ३।१।६
३ ,, ,,
४ ,, ४।१।४, ३।८।२
५ ,, ४।१।३
६ ,, ४।१।४
७ ,, ३।६।२
८ ,, ३।६।१

प्राप्त किया जाता है, अत कार्य-कारण की अभेदात्मकता के कारण घी-दूध को लक्षणा से भी और व्यवहारत भी गाय का पर्याय माना जा सकता है तथा दूसरी ओर बैल के द्वारा किये गये कृषिकार्य से ही चावल की उपलब्धि सम्भव है, अत यहाँ भी कार्यकारण अथवा साध्य साधन-सम्बन्ध से चावल को बैल का पर्याय कहा जा सकता है।

इस रूपकात्मक सम्बन्ध के अतिरिक्त इस पर्याय में कुछ गुण-साम्य भी मिल जाता है। घी दूध में स्त्री गाय-सुलभ कोमलता (—तरलता) का बाहुल्य है, और यह पोषक तत्त्व भी है, जो स्त्री-गाय-का प्रधान गुण है और उधर चावल मे पुरुष-बैल-के उपयुक्त दृढता (—काठिन्य) का प्राधान्य है, और इसे वीर्य का स्थानापन्न भी कह सकते हैं। किन्तु इन सब साम्यो को ढूंढते हुये भी हम यह न भूलें कि ब्राह्मणकार मुख्यत एक रूपक के माध्यम से अपनी बात को रोचकता से आलकारिक ढग से कहना चाहता है।

इस नानाविध आधारो, सम्बन्धो और गुणों का द्योतन करने वाले पर्याय ब्राह्मण-साहित्य की प्रचुर अर्थ-सम्पत्ति का दिग्दर्शन कराते हैं। वस्तुतः यौगिक धातुज अर्थों की व्यापकता के द्वारा प्राय समस्त पर्यायों का गुणबोधक स्वरूप खोजा जा सकता है, किन्तु यज्ञ के मूलत प्रतीकरूप होने के कारण पर्यायों के प्रतीकात्मक स्वरूप को भी जानना आवश्यक है।

परिशिष्ट (क)

यज्ञीय शब्दों, उपकरणों और हवियों का परिचय

अंशु— सोमलता की तोड़ी गई डोडियाँ अथवा प्रादेशमात्री टहनियाँ।
(य. त. प्र., पृ. ६८)

अग्निप्रणयन— अग्नि को गार्हपत्य के कुण्ड से निकालकर दूसरे कुण्ड आहवनीय में स्थापित करने के लिये ले जाना अग्निप्रणयन है। जिन प्रज्ज्वलित काष्ठों द्वारा अग्नि ले जाई जाती है, उन्हें भी अग्निप्रणयन कहते हैं।

अग्निमन्थन शकल— यह लकड़ी का समतल टुकड़ा है, जिस पर दो अरणियों को रगड़कर अग्नि-प्रज्ज्वलित की जाती है।
(श. ब्रा. भा. ३।१२७)

अग्निष्ठा— आठ कोण वाले यूप का जो कोण अग्नि की बिलकुल सीध में रखा जाता है, उसे "अग्निष्ठा" (अग्नि की ओर स्थित) कहते हैं। (तै. सं. भा. १।३८८)

अग्निहोत्रहवणी— विकंकत का बना चम्मचनुमा वह पात्र, जिससे अग्निहोत्र की आहुतियाँ दी जाती हैं। यह लम्बाई में प्रादेशमात्र, अरत्निमात्र अथवा बाहु मात्र की होती है। हंसमुख के समान आकार की होने पर इसका बिल—आगे का गड्ढा-आठ अंगुल का और शेष लम्बाई का दण्डभाग होता है। और यदि काकपुच्छ के आकार की बनाई जाये, तो पाँच या चार अंगुल का बिलभाग और शेष दण्डभाग होता है।
(श्रौ. प. नि., ८।३८) "स्रुक्" भी देखिये।

अधिषवण—चर्म— सोम-छानने का वह चर्म जिसे अधिषवण-फलकों पर बिछाया जाता है।

अधिषवण—फलक— लकड़ी के वे तख्ते, जिन पर सोम को कूटते-पीसते हैं।
(श. ब्रा. भा. ३।१६४)

अनुमन्त्रण— किसी भी वस्तु को पवित्र अथवा यज्ञीय बनाने के लिये तत्सम्बन्धी मन्त्र का पाठ अथवा जप करना।

अनुवषट्कार— प्रथम वषट्कार के बाद, पुनः "वषट्" कहना अनुवषट्कार है।

अनुवाक्या— हवि को ग्रहण करने के लिये देवता को बुलाने हेतु होता द्वारा पठित ऋक् अथवा ऋक् समूह "अनुवाक्या"-मन्त्र कहलाता है। जिन यागो मे मैत्रावरुण होता है, उनमे ये मन्त्र मैत्रावरुण ही पढता है और तब इन्हें "पुरो अनुवाक्या" कहते हैं। देवता को अनुकूलता प्राप्त करने के लिये प्रयुक्त होने के कारण इन्हें 'अनुवाक्या' कहते हैं और याग आहुति होम से पूर्व पठित होने के कारण इनका नाम "पुरोऽनुवाक्या" है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार पुरोऽनुवाक्या वह पारिभाषिक शब्द है, जो यज्ञभाग ग्रहण करने के लिये देवता को आमन्त्रित करते समय उसके लिए प्रयुक्त सम्बोधन का वाचक है।

अन्वाहार्य— दर्शपूर्णमास के अन्त मे ऋत्विजों की दक्षिणा के लिए लाया जाने वाला भात (ओदन) "अन्वाहार्य" (अनुआह्रियते=बाद में लाया जाता है, इसलिये अन्वाहार्य) कहलाता है। (तै ब्रा भा १।६१)

अन्वाहार्यपचन— जिस दक्षिणाग्नि पर "अन्वाहार्य" की दक्षिणा-हवि पकाई जाती है, उसकी एक संज्ञा "अन्वाहार्यपचन" है, और दूसरी "ओदनपचन" है।

अन्वाहार्यस्थाली— अन्वाहार्य (ऋत्विजो की दक्षिणाहवि) को रखने वाला पात्र या थाली।

अपूतभृत्— दे सवनीय कलश।

अभिघारण— स्रुव से किसी भी वस्तु के ऊपर घी उडेलना अभिघारण है यह अभिघारण चरु-पुरोडाश आदि कठिन द्रव्यों वाली सभी हवियों पर विशेष रूप से किया जाता है।

अभिधानी— वह रस्सी, जिसमे दूध दुहने से पूर्व गाय को और अश्वमेध में अश्व-संस्कारो से पूर्व अश्व को बांधा जाता है। इसे रशना भी कहते हैं।

अभिमन्त्रण— दे अनुमन्त्रण।

अभिमर्शन— मन्त्र-पाठ पूर्वक किसी वस्तु को छूना। इस क्रिया का उद्देश्य वस्तु को यज्ञीय बनाना है।

अभ्रि— खोदने के काम मे लाई जाने वाली नुकीली लकडी विशेष को अभ्रि कहते हैं। (तै स भा १।३४६)

अभिषव— सोमलता को कूटकर उसका रस निकालना सोम का अभिषव अथवा अभिषवण करना है। इसी को सोम का सवन करना भी कहते हैं।

अरणि— यह वह विशेष लकड़ी है, जिसे रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते हैं। ये दो अरणियाँ होती हैं। एक अरणि को एक लकड़ी के टुकड़े पर पहले रखा जाता है, इसे अधरारणि कहते हैं, और दूसरी अरणि को इसके ऊपर रखते हैं, उसे उत्तरारणि कहते हैं। इन दोनों अरणियों को ही परस्पर रगड़कर-मन्थन करके-अग्नि जलाई जाती है।

ये दोनों अरणियाँ शमी वृक्ष पर उगे हुये अश्वत्थ वृक्ष की शाखा से बनाई जाती हैं। ये चार अंगुल ऊंची, १२ अंगुल लम्बी और १६ अंगुल चौड़ी होती है, जिन्हें बिना धूप लगाये सुखाया जाता है। (य. त. प्र., पृ. ३)

अरत्नि— २४ अंगुल की लम्बाई का द्योतक एक माप।

अर्क पर्ण— आक वृक्ष का पत्ता, इससे अग्निचिति के शतरुद्रिय होम में आहुति देते हैं।

अवभृथ— यज्ञान्त में यज्ञ-समाप्ति का सूचक स्नानविशेष।

अश्वपर्शु— यह दरांती के आकार का एक औजार है, जिससे बर्हि काटी जाती है। यह अश्व की पसलियों से बनाया जाता है, अतः इसे अश्वपर्शु कहते हैं। (द. पू. प्र., पृ. १५७)

आखुकिरि— चूहे द्वारा बिल बनाते समय खोदकर बाहर निकाली गई मिट्टी। (तै. ब्रा. भा. १।१७)

आघार— आहवनीयाग्नि के वायव्यकोण से लेकर आग्नेयकोण तक अग्नि पर स्रुव से अविच्छिन्न रूप से आज्यधारा को गिराना प्रथम आघार है और इसी तरह नैऋत्य कोण से लेकर ईशानकोण तक डाली गई आज्यधारा को "द्वितीय आघार" कहते हैं। वस्तुतः यह विशेष विधि से दी गई आहुति-विशेष ही है।

आज्यस्थाली— जिसमें यज्ञ के लिये आवश्यक घी को पर्याप्त मात्रा में सर्वप्रथम रखते हैं, वह आज्यपात्र आज्यस्थाली है। इसे आज्यधानी भी कहते हैं।

आमिक्षा— औटे हुये गर्म दूध में दही डालकर फाड़ते हैं, उस फटे हुये दूध के गाढ़े भाग को आमिक्षा कहते हैं।

आरण्य अन्न— वेणु तण्डुल (—बांस के चावल) श्यामाक (—जंगली बाजरा) नीवार (—तृण धान्य) र्जतिल (—जंगली तिल), गवीधुक (जंगली गेहूँ), अरण्यमर्कटक (?) और कुलुत्थ (?) को आरण्य अन्न अथवा आरण्य ओषधी कहते हैं, क्योंकि ये बिना खेती के जंगल में उत्पन्न होती हैं।

आर्षेय—वरण— यज्ञ के प्रारम्भ में यज्ञ की सुरक्षा और अविच्छिन्नता के लिए यजमान के पूर्वज-ऋषियों में से कुछ को चुन लेना ही आर्षेय-वरण है। इसी को प्रवर-वरण भी कहते हैं।

इनके वरण की संक्षिप्त प्रक्रिया यह है कि अपनी-अपनी शाखा के प्रवराध्याय में ऋषिकुलों के जिन वंशजों की सूची वर्णित है, (शा श्रौ सू ११।८ में आठ ऋषिकुलों—भृगु, जमदग्नि, अंगिरस, विश्वामित्र, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि और अगस्त्य-के वंशजों के नाम वर्णित हैं), उनमें से जो यजमान के पूर्वज हों, उनके नाम को होता अपत्यप्रत्यय के साथ (यथा-भार्गव, वैतहव्य, सावेदस) और अध्वर्यु नाम के आगे "वत्" जोड़कर (यथा-भृगुवत्, वीतहव्यवत्, सवेदोवत्) उच्चरित करता है, और इसी तरह आर्षेयों या प्रवरों का वरण कर लिया जाता है। इन वृणीत आर्षेयों की संख्या १, २, ३ या पाँच तक ही होती है। चार आर्षेय नहीं चुने जाते हैं। यदि यजमान अब्राह्मण हो, तो उसके कुल-पुरोहित के पूर्वजों में से प्रवर चुने जाते हैं।

आशिर— दूध मिला सोम।

आश्रावण— जुहू और उपभृत् को हाथ में लेकर अपने स्थान पर खड़ा होकर अध्वर्यु का आग्नीध्र को सम्बोधित करके "आश्रावय" (अर्थात् सुनवाइये अथवा उद्घोषणा करवाइये) कहना ही आश्रावण है।

आसन— ऋत्विजों और यजमान आदि के नीचे बिछाने के लिए दर्भ के बने आसन।

आसन्दी— यह लकड़ी की बनी चौकी है, जिस पर यथा समय यजमान बैठता है, अथवा इस पर सोम, उख्याग्नि या प्रवर्ग्यपात्र रखे जाते हैं।

आस्ताव— वह स्थल जहाँ सामों का गान होता है। यह सिर्फ सोमयाग में बनाया जाता है। अश्वमेध में तीन आस्तावों को बनाने का उल्लेख है।

इडापात्री— अरत्निमात्र लम्बा, चार अंगुल चौड़ा और चार अंगुल के दण्ड-भाग-वाला वह पात्र, जिसे मध्यभाग से भी पकड़ा जा सके। इस पात्र में ही हविरूपा इडा को रखकर उसका उपाह्वान किया जाता है।

इध्मकाष्ठ— अग्नि में डालने के लिए लाई गई लकड़ियाँ, जो खदिर, पलाश जैसे किसी यज्ञिय वृक्ष की ही होती हैं।

उखा— पतीली या घड़े के आकार का मिट्टी का पात्र, जिसमें दूध दुहा जाता है, और गर्म किया जाता है। प्रवर्ग्य में यह शकट के आकार का बनाया जाता है। इसका ढक्कन लकड़ी या लोहे का होता है। अग्निचितियाग में यह उखापात्र ऐसे बनाया जाता है मानों एक दूसरे पर तीन घड़े रखे हुए हों, और इस त्र्युद्धि उखा में अग्नि जलाकर रखी जाती है।

उख्याग्नि — उखापात्र में जलाई गई अग्नि को उख्याग्नि कहते हैं।

उत्कर— वेदि के उत्तरी अंस से चार कदम पश्चिम की ओर एक कदम उत्तर में बनाया गया एक गड्ढा, जिसमें धूल-तिनके आदि कूड़ा-करकट डाले जाते हैं। (तै. सं. भा. १।१२२, तै.आ. भा. १।२१६ श्रौ. प. नि. ११०।४७५)

उत्तरी अंस— आहवनीय की मध्यमकील के उत्तर में २४ अंगुल की दूरी पर जहाँ एक कील गाड़ते हैं, वही कील-स्थान वेदि का उत्तरी अंस कहलाता है। (श्रौ. प. नि. ६।२९-३०)

उत्तर श्रोणी— आहवनीय के आयतन से पश्चिम दिशा में छः अंगुल की दूरी पर एक कील गाड़ते हैं, और इस कील से उत्तर की ओर ३२ अंगुल की दूरी पर जो कील गाड़ी जाती है, वह कील-स्थान ही वेदि की उत्तरश्रोणी है। (श्रौ. प. नि. ६।२७-२८)

उद्वासन— किसी वस्तु को अग्नि में से बाहर निकालकर रखना उद्वासन है। किन्तु प्रवर्ग्य अथवा घर्म के उद्वासन का अभिप्राय प्रवर्ग्य को आहवनीय वेदि के पास से हटाकर दूसरे खर प्रदेश में रखना है।

उपभृत् — अश्वत्थ (=पीपल) की या अन्य यज्ञीय लकड़ी बनी एक स्रुक् विशेष. जो आकार-प्रकार में जुहू के समान होती है। ध्रुवा में से आज्य लेकर इसमें डालते हैं, और फिर इसमें से ले-लेकर जुहू द्वारा आहुति दी जाती है। होमकाल में यह सदैव जुहू के पास रखी जाती है (या च समीपे स्थित्वा आज्यं धारयति सा उपभृत्=य. त. प्र., पृ. ३९) इसलिए "उपभृत्" कहते हैं। इसके लिए स्रुक् भी दे.।

उपयाम—१. यह कटोरी अथवा छोटी कढ़छी के आकार का मिट्टी का पात्र है। सवनीय कलशों में रखे सोमरस को इसी पात्र द्वारा निकाल कर अन्य पात्रों में लिया जाता है। प्रवर्ग्य याग में इसमें घर्म-हवि भी ली जाती है।

२. इसके अतिरिक्त उपयाम नामक ऐसा पात्र भी है, जिससे गर्म बर्तन को रखकर उठाया जाता है। इसका आकार पलटे की तरह आगे से चपटा चौड़ा और कुछ पतला तथा पकड़ने की तरफ से लम्बा और मोटा होगा। इस उपयाम पर ही महावीर पात्र को रखकर उठाते हैं। इसी का दूसरा नाम "उपयमनी" भी है।

श्रौतपदार्थनिर्वचन (११८।८८०) में दिया गया यह निर्वचन "उप समीपे यम्यते ध्रियते अनेन इद वा इति उपयाम" दोनों प्रकार के उपयाम पर घटित हो जाता है। पहले प्रकार के उपयाम में इसके द्वारा हवि को समीप धारण किया जाता है, और दूसरे में पात्र को।

उपल— बट्टे जैसा कुछ गोल व कुछ लम्बा पत्थर, जिससे पीसा जाता है।

उपवेष — अंगारों को उठाने—हटाने आदि के लिये लकड़ी का एक चिमटानुमा पात्र, जो नौ अंगुल लम्बा होता है। इसी का दूसरा नाम धृष्टि है।

उपस्तरण— स्रुव से पात्र के तल पर घी फैलाना "उपस्तरण" कहलाता है।

उपाकरण— देवता को सम्बोधित करके हाथ में दो कुश और प्लक्षवृक्ष की शाखा लेकर इनसे पशु का स्पर्श करते हुये पशु को देवता के लिये समर्पित करना।

उपाकृत— उपाकरण का कृदन्त रूप।

उपांशु— आवाज किये बिना होठ हिलाकर मन-ही-मन मन्त्र का उच्चारण अथवा जप करना।

उपांशुसवन— जिस पत्थर विशेष से उपांशु नामक ग्रह के लिये सोम पीसा जाता है उसे उपांशुसवन कहते हैं। (तै. स भा २।४७२)

ऊखल— हविष्यान्न को कूटने के लिए बनाया गया लकड़ी का पात्र—जो १२ अंगुल ऊँचा होता है और इसके ऊपरी भाग में गड्ढा होता है। आजकल की ओखली के समान ही इसकी आकृति होती है। इसमें हविष्यान्न को डाला जाता है।

ऊषा— नमकीन जल से युक्त भूमि का भाग अर्थात् खारी मिट्टी अथवा उस मिट्टी वाला प्रदेश। (तै. ब्रा भा १।१५)

ऋजीष— कूट-पीसकर निचोड़ने के बाद सोमलता का रसहीन भाग (—छू ७)।

कपाल— ये मिट्टी के बने विविध आकार वाले १२ टुकड़े हैं, जो सामान्यतः तवे का सा काम देते हैं। निर्धारित संख्या में इन कपालों को जोड़कर इन पर ही पुरोडाश पकाये जाते हैं। जिस पुरोडाश को जितने कपालों पर पकाया जाता है, उतनी ही संख्या से उस पुरोडाश को अभिहित किया जाता है। इस तरह एक कपाल पुरोडाश से लेकर द्वादशकपाल तक के पुरोडाश होते हैं।

करम्भ— जौ के सत्तुओं में घी मिलाकर जो हवि बनती है उसे करम्भ कहते हैं। वरुणप्रघासपर्व में इसी करम्भ के पात्र भी बनाये जाते हैं। (य. त. प्र. पृ. ६७)

कृष्णाजिन— हविष्यान्न को कूटते-पीसते समय ऊखल-मूसल अथवा दृषद्-उपल के नीचे बिछाने के लिये तथा अन्यान्य कार्यों के लिये कृष्ण मृग का चर्म। राजसूय आदि में यजमान के नीचे बिछाने के लिये व्याघ्र और अज का भी एक-एक चर्म अपेक्षित है। अज चर्म को ही बस्ताजिन कहते हैं।

कृष्णविषाणा— मृग का काला सींग, जिसे दीक्षाकाल में यजमान को दिया जाता है।

खर— यज्ञपात्र रखने के लिये मिट्टी बिछाकर बनाया गया एक चौकोर चबूतरा, जो बाहुभर की लम्बाई का होता है। सोमयाग में यह दक्षिण हविर्धान के सामने बनाया जाता है, और इस पर सोमग्रह पात्र रखते हैं। प्रवर्ग्य में यह तीन जगहों पर गार्हपत्य के उत्तर में, आहवनीय के उत्तर में और उत्तरवेदि के सामने बनाते हैं, जहाँ यथा समय महावीर पात्र रखा जाता है।

ग्रहपात्र— सोमयाग में प्रयुक्त होने वाले ये १६ विशेष पात्र हैं। इनमें देवता विशेष के लिये अलग-अलग सोमरस का ग्रहण किया जाता है। इनमें देवताओं का ग्रह-भाग-रखा जाता है, इसी से इन्हें ग्रहपात्र कहते हैं।

अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, मन्थिन् और ध्रुव के सात ग्रहों के लिए कटोरीनुमा सात लकड़ी के पात्र होते हैं। इन पात्रों के एक सिरे पर गड्ढा-सा करके एक मुख बनाया जाता है, जिससे धारा गिराई जा सके। ऋतुग्रहों के लिए २ पात्र होते हैं, और इनके दोनों सिरों पर मुख बनाते हैं। उपांशु, आग्रायण, उक्थ्य और आदित्य के ग्रहों

के लिये मिट्टी की ४ थालियाँ होती हैं, और इनमें से उक्थ्य के एक और आदित्य के लिये दो काष्ठपात्र भी होते हैं, जो एक मुखी ही बनाते हैं। दधिग्रह के लिये उदुम्बर की लकड़ी का विशेषपात्र होता है, और अदाम्यअंशुग्रह के लिये यह पात्र चौकोर बनाते हैं। शेष ग्रह इन्हीं पात्रों में से किसी न किसी में लिये जाते हैं।

समस्त ग्रहों की आहुति उन उनके पात्रों से ही दी जाती हैं, किन्तु आग्रायण की आहुति के लिये लकड़ी का बना (सम्भवत चम्मचनुमा) एक विशेष पात्र होता है।

इस प्रकार इन ग्रहपात्रों मे १४ काष्ठपात्र, ४ मिट्टी की थाली और एक होमपात्र आते हैं।

मैत्रावरुण आदि प्रमुख ग्रहपात्रों को "वायव्यपात्र" भी कहते हैं। वायु ने जब सोम मे अपना भाग माँगा, तो विशिष्ट सोमग्रहपात्रों को वायुदेवता का मान लिया गया, और उन्हें वायव्यपात्र कहा जाने लगा।

ग्राम्य अन्न— तिल, माष (—उडद), व्रीहि (—धान), यव (—जौ), प्रियगु (—), अणु (—व्रीहि का एक भेद, चीना), और गोधूम (—गेहूँ) को ग्राम्य अन्न कहते हैं, क्योंकि ये ग्रामवासियों द्वारा की गई खेती मे उत्पन्न होते हैं। इन्हे ही ग्राम्य ओषधी भी कहा गया है। (तै. स भा. ६।३२७४-७६)

ग्रावाण— सोमलता को कूटने और पीसने वाला पत्थर।

चमस — यह तीन अगुल दण्डवाला, चार अगुल ऊँचा, छह अगुल चौड़ा—कुल प्रादेशमात्र लम्बा लकड़ी, ताँबे या काँसे का बना चम्मच है, जो जल-ग्रहण अथवा सोमयाग आदि के काम मे आता है। सोमयाग में यह १० से लेकर १०० तक की सख्या में प्रयुक्त होते हैं। (य त प्र. पृ ३५)

चरु — एक अन्न को पीसकर घी या दूध मे पकाकर यह हवि तैयार की जाती है। यह चावल, जौ, बाजरा, ज्वार, नाम्बा (स्वय उत्पन्न व्रीहि) तृण धान्य और गवीधुक् (जगली गेहूँ) की बनती है। राजसूय के मैत्र-बार्हस्पत्य चरु में चावलों को बिना पीसे ही दूध में और आज्य मे पकाया जाता है। वस्तुत यह चरु हलुये, खीर अथवा फिरनी का एक रूप प्रतीत होता है।

चरुस्थाली— इसमें चरु तैयार किया जाता है।

चषाल— चार अंगुल ऊँचा लकड़ी का बना एक छल्ला-सा, जिसे यूप के अग्रभाग में फिट कर दिया जाता है। इसी का दूसरा नाम "यूपकटक" भी है, क्योंकि आकृति यह में कटक अर्थात् चूडी के समान होता है।

चात्वाल— वेदि के उत्तरी अंश से दो कदम पश्चिम और दो कदम उत्तर में एक चौकोर स्थान बनाया जाता है, जिसकी एक ओर की लम्बाई शम्या के जितनी होती है। इस स्थल पर नानाविध यज्ञकर्म किये जाते हैं। इसका एक मुख्य प्रयोजन यह भी है कि इस स्थान की मिट्टी को उत्तरवेदि पर बिछाते हैं। अतः चात्वाल को यज्ञ की योनि भी कहा गया है।

छुरी— इससे पशु के अंगों को काटा जाता है। इसे स्वधिति भी कहा गया है।

जुहू— पलाश की बनी एक स्रुक विशेष, जो आकार में अग्निहोत्रहवणी के समान होती है। इसी से सब आहुतियां दी जाती है, (यया हूयते सा जुहू, य. त प्र पृ ३६) अतः इसे जुहू कहते हैं। (स्रुक् भी देखिये)

दक्षिण अंस— आह्वनीय की मध्यवर्ती कील के दक्षिण में २४ अंगुल की दूरी पर एक कील गाड़ते है, और यही दक्षिण कील स्थान दक्षिण अंस कहलाता है। (श्रौ. प. नि. ६।२६)

दक्षिण श्रोणी— आह्वनीय के आयतन से पश्चिम दिशा में छः अंगुल दूरी पर एक कील गाड़ी जाती है। उससे ३२ अंगुल दक्षिण की ओर एक और कील ठोकते हैं। इसी प्रकार उत्तर की ओर उतनी ही दूरी पर दूसरी कील ठोकते है। यह दक्षिणी कील का स्थान ही वेदि की दक्षिण श्रोणी है। (श्रौ. प. नि. ६।२७)

दर्भ— लम्बे तिनकों वाली, घास विशेष। जिससे "वेद" आदि वस्तुएँ बनाई जाती है और पवित्रीकरण की कुछ क्रियाएँ की जाती हैं।

दर्वी— लकड़ी की बनी कड़छी, जिससे साकमेध पर्व में निष्काप की आहुति दी जाती है।

दशा पवित्र— वह वस्त्र, जिससे कुटे सोम-रस के सब ग्रह (उपांशुग्रह के अतिरिक्त) भली प्रकार छाने जाते हैं।

दृषद्— सिल जैसा पत्थर जिस पर हविष्यान्न को पीसा जाता है।

द्रोण कलश— द्रोण-परिमाण वाला घट के आकार का वह पात्र, जिसमें कुछ ग्रहों के लिए सोमरस छानकर डाला जाता है।

धाना— भुने हुए जौ को धाना कहते हैं। (य त. प्र पृ ६७, वै इ १।४४७, श ब्रा भा २।६६ ख)

ध्रुवा— यह विकंकत की बनी वह आज्य स्रुक् है जिसमें होम के लिय आज्यस्थाली में से आज्य लेकर रखा जाता है। यह एक स्थान पर ही रखी जाती है, जुहू-उपभृत् की तरह इधर-उधर हिलाई नहीं जाती है, (या तु होमार्थं जुहूपभृताविव न चलति, सा स्थिरत्वाद् ध्रुवा) इसी से ध्रुवा कहते हैं। इस ध्रुवा में से स्रुव द्वारा आज्य लिया जाता है। (य. त प्र पृ ३६)
'स्रुक्" भी दे।

निदान— १ दूध दुहने से पूर्व गाय की टांगो मे बांधने वाली रस्सी।
२ बछड़े को बांधने वाली रस्सी।

निर्बाध— सोने बने सूत्र पर ऊपर की ओर उठाये गये पोले पोले दानों (-मनको) को निर्बाध कहते हैं। (तै. सं भा ६।२६७८)

निर्वाप अथवा—निर्वपन—सगृहीत धान्य में से विभिन्न देवताओं का नाम लेकर उनकी हवि के लिये निर्धारित अन्न भाग को निकालकर अन्य पात्र में (अग्निहोत्र हवणी में) रखना हवि-निर्वाप अथवा हवि-निर्वपन कहलाता है।

निर्लेहन— पात्र के दूध को जिह्वाग्र से छूकर चूमना।

निष्काष— चरू के ऊपर जमी गाढ़ी मलाई और चरू के बर्तन मे तले पर लगी खुरचन।

पंचबिल — पांच गड्ढों वाला ऐसा पात्र, जिसमें पांच प्रकार के चरू अलग-लग रखे जाते हैं।

पयस्या— इ आमिक्षा का पर्यायवाची शब्द है।

परिग्राह— इ सण्डासीनुमा पात्र है, जिससे महावीर को उसके कण्ठभाग पकड़ा जाता है। इससे चारों ओर से पात्र को पकडा जाता (परित गृह्यते अनेन इति) इसलिये इसे परिग्राह कहते हैं। इसी का दूसरा नाम शफ है।

परिधि— यह उन तीन काष्ठविशेषों का नाम है, जिन्हे आहवनीयाग्नि के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर रखा जाता है। इन तीनों से अग्नि को सीमा में आबद्ध किया जाता है, इसी से इनका नाम परिधि है। इनमें पश्चिम की परिधि मोटी, दक्षिण की लम्बी और उत्तर की पतली और छोटी होती है।

परिवाप— चावल के भुने हुए दाने। इन्हें चावल की खोलें भी कहते हैं।
(वै. इ. १।५६५, य. त. प्र. पृ. ६७)

परोगोष्ठ - इसके सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसके प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि यह यज्ञमण्डप और पशुशाला के बीच कुछ दूरी पर बनाया वह स्थल है, जहाँ यज्ञ-काल में शरीर-शुद्धि की जाती होगी।

पर्यग्निकरण— जलते तिनके या अंगार को किसी वस्तु के चारों ओर घुमाना।
(तै. ब्रा. भा. १।३६०)

पवित्र— वे दर्भ विशेष, जिनसे पवित्रीकरण की क्रिया की जाती है। सोम छानने के वस्त्र को भी पवित्र कहते हैं। (य. त. प्र. पृ. ६८)

पवित्रीकरण— पवित्र जल को छिड़कर, स्थान, वस्तु, व्यक्ति आदि को पवित्र बनाना।

पलाश शाखा— पलाश वृक्ष की पत्तों वाली एक शाखा, जिससे दर्शपूर्णमासेष्टियों में बछड़ों को गायों से अलग किया जाता है।

पिष्टलेप— पिसे हुए हविष्यान्न में पानी मिलाते समय पात्र में लगा हुआ अन्नभाग, जिसे धोकर आप्त्य देवताओं को अर्पित किया जाता है।

पिष्टलेपपात्र— जिस पात्र अथवा स्थाली में पिष्टलेप रखा जाता है।

पुरीष— यह उस मिट्टी का यज्ञीय नाम है जिससे अग्निचितियाग का "उखा-पात्र" बनाया जाता है। सायण के मत में यह मिट्टी सूखी और धूलि रूप होती है—"पुरीषशब्देन पांसुरूपा शुष्का मृदुच्यते। (तै. सं. भा. ६।२५५४)

पुरोडाश— जो अथवा धान की बनी विशेष हवि, जो स्वरूप और पकाने की विधि में बहुत-कुछ माल पूये से मिलती-सी है। पर इसका आकार गोल न होकर "कूर्मवत्" वर्णित किया गया है। वैदिक इण्डैक्स में इसे यज्ञीय चपाती या रोटी कहा गया है। कभी-कभी यह पुरोडाश मटर (—सतीन) आदि अन्य अन्नों का भी बनाया जाता है।

पुरोडाशपात्री— पुरोडाश रखने का वह बर्तन, जो प्रादेश मात्र लम्बा, चौकोर और छह: अंगुल गहरा होता है।

पुष्करपर्ण— कमल का यह पत्ता जलों की योनि (—मूल कारण, उद्गम, अग्नि-प्रजापति का प्रतीक है, जिसे उखा-निर्माण के लिये मिट्टी लाते समय कृष्णाजिन के ऊपर और मिट्टी के नीचे रखा जाता है।

पूतभृत् — दे सयशीप—कलश।

पूर्णपात्र— जिसमें समस्त हवि योग्य हविष्यान्न—१२८ मुट्ठी जौ और चावल आ जाये, उसे पूर्णपात्र कहते हैं।

यह शब्द १२८ मुट्ठी धान्य का परिमाणवाचक भी है।

पृषदाज्य— दही मिला हुआ घी।

(तै. स भा ३।८७२, श को २।६।२४)

पृषदाज्यधानी— पृषदाज्य को रखने की थाली।

प्रचरणी— यह जुहू आदि के समान एक स्रुक् विशेष होती है, जो सिर्फ सोमयाग मे प्रयुक्त होती है। इसके द्वारा जुहू और उपभृत की व्यापार दशा (?) मे अनुष्ठान किया जाता है। प्रचरन्त्य-नया जुहूपभृतोर्व्यापारदशायामिति प्रचरणी, सा स्रुग् भवति) इसलिये इसे प्रचरणी कहते। (श ब्रा भा ३।३।१७)

प्रत्याश्रावण— (अध्वर्यु द्वारा "आश्रावय" कहने के बाद) स्फ्य हाथ मे लेकर उत्कर मे दक्षिणाभिमुख खडे होकर आग्नीध्र का "अस्तु श्रौषट्" (अर्थात् ऐसा ही हो अथवा सुनवाया जाये) कहकर प्रत्युत्तर देना प्रत्याश्रावण है।

प्रवर्ग्य— गर्म खौलते आज्य में दूध डालकर बनाई गई हवि। इसे घर्म भी कहते है।

प्रवर वरण— दे आर्षेय—वरण।

प्रस्तर— यज्ञ के लिये लाई बर्हि में से प्रथम दर्भमुष्टि को "प्रस्तर" कहते हैं। इस पर आज्य पात्र रखे जाते हैं। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार यह यज्ञीय आसन के रूप में बिछी घास का द्योतक भी है।

प्लक्ष शाखा— इस शाखा को हाथ में लेकर यज्ञपशु को उपाकृत करते हैं, और इसी शाखा को पशु पर रखकर उस पशु का अंग-छेदन किया जाता है। यह प्लक्ष (—अंजीर) वृक्ष की होती है।

प्रादेशपरिमित— प्रजापति के अवतारूप यज्ञपुरुष के मस्तक से लेकर ठोडी तक की लम्बाई को "प्रादेश के परिमाण वाला" कहते है।

(तै ब्रा. भा १।५३)

यह नौ अंगुल के परिमाण अथवा फैले हुये हाथ की तर्जनी और अंगूठे के बीच के अन्तर के परिमाण वाला होता है। दर्शपूर्ण-मास प्रकाश (पृ १६१) में प्रादेश को १२ अंगुल का परिमाण वाला कहा गया है।

प्राशित्रहरण— गाय के कान के समान आकृति वाला वह पात्र, जिसमें ब्रह्मा को खाने के लिये उसका हविर्भाग दिया जाता है। ब्रह्मा के हविर्भाग को भी "प्राशित्रहरण" की संज्ञा दी गई है।

प्रैष— अन्य ऋत्विजों को यथासमय निर्धारित कार्य करने के लिये अध्वर्यु जो आदेश देता है, उसे प्रैष कहते हैं।

प्रोक्षण— पवित्र जल को छिड़कने की विधि प्रोक्षण कहलाती है।

प्रोक्षणी— जिन मन्त्रपूत जलों से प्रोक्षण किया जाता है, उन्हें प्रोक्षणी कहते हैं। इन जलों को ही प्रणीता भी कहते हैं, क्योंकि ये विशेष रूप से लाये गये हैं।

श्रौत पदार्थ निर्वचन के अनुसार ये जल अग्निहोत्र-हवणी में लिये जाते हैं। संस्कृत जलों को प्रोक्षणी कहते हैं।
(श्रौ. प. नि. २१।१३४)

प्रोक्षणी पात्र— इस पात्र में मन्त्रपूत जल रखा जाता है, और इसी पवित्र जल के सिंचन से यथावसर पवित्रीकरण की क्रिया की जाती है। इस पात्र को "प्रणीता पात्र" भी कहते हैं।

फलीकरण— चावल की सफेदी को ढकने वाले बारीक छिलकों को दूर करने के लिये धान को पुनः कूटना "फलीकरण" है। इन निकले हुये छिलकों को भी फलीकरण कहते हैं।

फलीकरणपात्र— फलीकरण—धान के बारीक छिलकों को रखने वाला वर्तन।

बर्हि— वेदि पर बिछाई जाने वाली घास।

बस्ताजिन— अज का चर्म। कृष्णाजिन भी दे.।

ब्रह्मौदन— यह ब्राह्मण ऋत्विजों को दक्षिणारूप में दिया जाने वाला ओदन (भात) है, जो यज्ञ-विधि से पूर्व की गई एक संक्षिप्त होमविधि में बनाया जाता है। इस होमविधि में ब्रह्मदेव को उद्दिष्ट करके घृतयुक्त समिधाओं की आहुति दी जाती है।
(तै. ब्रा. भा. १।५२)

ब्राह्मौदनिक अग्नि— जिस अग्नि पर ब्रह्मौदन पकाया जाये।

मदन्ती— गर्म जल को "मदन्ती" कहते हैं। इसे पीसी गई हवि में मिला कर हवि को पुरोडाश के लिये तैयार किया जाता है। यजमान सम्मार्जन के लिये भी इसका प्रयोग करता है। इसी को "उपसर्जन्य" भी कहते हैं।

मदन्तीपात्र— "मदन्ती" नामक जलों को रखने वाला वर्तन।

मध्यम कारी—	होता अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता (अथवा आग्नीत्) इन प्रधान ऋत्विजों को "मध्यम कारिण" कहते हैं।
मध्यमपर्ण—	इसका शाब्दिक अर्थ "मध्य का बीच का-पत्ता" है। पर यह किस वृक्ष-वनस्पति का होगा, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। चातुर्मास्य के तृतीय पर्व साकमेध सम्बन्धी त्र्यम्बक हवियाग में इस पत्ते से आहुति दी जाती है। डॉ सुधीर कुमार गुप्त त्र्यम्बक को नारिकेल मानते हैं। अत यह पर्ण नारिकेल का भी हो सकता है।
मन्थ—	दूध में मिले हुए सत्तुओं की हवि मन्थ है। (तै स भा ३।६२०)
महावीर—	घड़े के आकार का उखा के समान एक पात्र, जिसमें प्रवर्ग्य तैयार किया जाता है।
मूसल—	ऊखल की आधी लम्बाई से तिगुना लम्बा एक डण्डा, जिससे ऊखल में डाले गये हविष्यान्न को कूटकर उनका ऊपरी छिलका अलग किया जाता है।
मेखला—	दीक्षा-काल में यजमान की कटि पर बांधी जाने वाली शर की बनी रस्सी।
मेक्षण—	पिसे हुये हविष्यान्न में जल को मिलाने के लिये बनाया लकड़ी का एक लम्बा, कुछ चपटा-सा पात्र।
मैत्रावरुणदण्ड—	मैत्रावरुण ऋत्विक् के पास एक डण्डा होता है, जिससे यथावसर काम लिया जाता है। यथा—यूप को और औदुम्बरी शाखा को गाड़ते समय इसी दण्ड से मिट्टी को गड्ढे में दबाया जाता है।
यजमान दण्ड—	यजमान के मुख जितनी ऊँची लकड़ी, जो उसे दीक्षा काल में दी जाती है।
यवागू—	वैदिक इण्डैक्स के अनुसार यह हलुवे की तरह जौ से बनाई हवि है। अमरकोश (२।९।५०) में भी हलुये और लपसी का पर्याय कहा गया है। किन्तु भैषज्यरत्नावली और अन्य निवरण के अनुसार बहुत अधिक पानी में पके हुए अत्यन्त-द्रवरूप चावलों को भी यवागू कहा गया है। तैत्तिरीय-संहिता (५।४।३.२) में जर्तिल और गवीधुक से बनी हवि के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है।
याज्या—	हवि की आहुति देने के लिये होता द्वारा देवतानुसारी पठित ऋक् अथवा ऋक्-समूह और यजुष् को "याज्या" मन्त्र कहते हैं इसी से वस्तुत यजन किया जाता है, इसे अत "याज्या" (इज्यते अनेन इति) कहा जाता है।

यूप— यज्ञपशु को बाँधने के लिए यज्ञमण्डप में गाड़ा गया काष्ठविशेष का खम्बा, जिसकी लम्बाई यथाप्रसंग और यथाभिरुचि ५ अरत्नि से लेकर ३३ अरत्नि तक हो सकती है। इस खम्बे के आठ कोण होते हैं। यह खदिर, बिल्व, पलाश और रोहितक वृक्ष के मध्यवर्ती मोटे तने से बनाया जाता है।

यूपशकल— यूप के लिये लकड़ी काटते समय का जो पहला टुकड़ा भूमि पर गिरता है, उसे यूप-शकल कहते हैं। यूप को गड्ढे में रखने से पूर्व इस शकल को गड्ढे में डाला जाता है।

योक्त्र— दीक्षा संस्कार में यजमान की पत्नी की कटि पर बाँधने के लिये मूँज की बनी एक रस्सी को "योक्त्र" कहते हैं, जो जन्‍ा के समान होती है।

वपा श्रपणी— काश्मर्य वृक्ष की लकड़ी के दो पात्र, जिसमें वपा को पकाया जाता है।

वर— वर श्रेष्ठ गाय (तै. ब्रा. भा. ३।३६०) अश्व (तै. ३ ६.२१) अथवा किसी भी श्रेष्ठ पदार्थ (तै. ब्रा. भा. ३।१३०७) को कहते हैं। "वर" की दक्षिणा दी जाती है य. त. प्र. (पृ. ५) में वर को गौ का वाचक ही माना जाता है।

वराहविहत - वराह-सूअर द्वारा खोदी गई गीली मिट्टी। तै. (१।१।३) में इस मिट्टी को "सूद" कहा गया है, और सायण (तै. ब्रा. भा. (१ १८) इसे सिर्फ जलयुक्त मिट्टी-कीचड़-ही कहते हैं। वराह द्वारा खोदे जाने का कोई सम्बन्ध यहाँ वर्णित नहीं है।

वर्त्मकरण— अग्नि से उठाई गई दूध की कुम्भी अथवा आज्यपात्र को भूमि पर रखकर अपने सामने खींचने से जो काली रेखा बनती है, उस काली रेखा का बनाना ही वर्त्मकरण अर्थात् मार्ग बनाना है।

वाल्मीकवपा— गीली मिट्टी को इकट्ठा करने मे समर्थ जन्तुओं द्वारा पृथ्वी के बल और रसरूप गीली मिट्टी को एकत्रित करके बनाया गया बिल या घर। दीमक जैसे जन्तुओं द्वारा इकट्ठी की गयी मिट्टी। (तै. ब्रा. भा. १।१७)

वषट्कार— होम के लिये मन्त्रपाठ के बाद आहुति देने से पूर्व अथवा आहुति देते समय "वषट्" शब्द का उच्चारण करना वषट्कार है। उच्चारण में "वौषट्" भी कहा जाता है।

वसाहोमहवणी— चम्मचनुमा वह पात्र, जिससे वसा की आहुति दी जाती है।

वाजिन— फटे हुए दूध का द्रवीभूत भाग।

वायव्य पात्र— मैत्रावरुण आदि प्रमुख ग्रहपात्रों का अपर नाम। दे ग्रहपात्र।

वितुषीकरण— धान के ऊपर के छिलके-तुष-को अलग करने की क्रिया। ऊखल-मूसल में हविष्यान्न को कूटने और बाद मे छाज से पिछोड़ने का उद्देश्य इसी प्रकार धान को वितुषीकृत करना है।

विधृति— ये दो तिनके विशेष हैं, जिन्हे बर्हि बिछी वेदि पर रखा जाता है, इनके ऊपर प्रस्तर रखकर, प्रस्तर पर जुहू नामक स्रुचा रखते हैं। ये तिनके जुहू को विशेष रूप से धारण करते हैं, अत. "विधृति" कहलाते हैं।

विष्टुति— स्तोम के गान का क्रम या प्रकारविशेष "विष्टुति" कहलाता है। यथा—पचदश स्तोम में प्रथम ऋचा को ३ बार, दूसरी और तीसरी को १-१ बार गाने पर प्रथम पर्याय, प्रथम और तीसरी को १-१ बार और दूसरी को ३ बार गाने पर द्वितीय पर्याय, तथा पहली-दूसरी को १-१ बार और तीसरी को ३ बार गाने पर तृतीय पर्याय होता है। ये तीनो पर्याय मिलकर पचदश-स्तोम की एक विष्टुति कहलाती है।

विहार— यज्ञानुष्ठान का स्थान।

वेद— दर्भों की बनी एक छोटी सी सम्मार्जनी (झाड़ू), जिससे वेदि साफ करने जैसी कुछ आवश्यक क्रियायें की जाती हैं।

व्याधारण— अभिघारण की क्रिया को ही विशेष रूप से करना।

व्याम— ८४ अगुल लम्बाई का द्योतक परिमाण विशेष।

व्यूहन— परस्पर विरोधी दिशाओं में लाना—ले जाना अथवा विविध प्रकार से ऊपर-नीचे ले जाना व्यूहन है।

शमी शाखा— इस शाखा से भी बछडो को दूर करने का काम लिया जाता है। यह शमीवृक्ष (—जाट) की होती है।

शम्या— गदा के समान आकार वाली बाहु के नाप वाली लकड़ी विशेष "शम्या" है। इसे दृषद्—सिल—के नीचे अथवा ऊपर लगाते हैं, ताकि पीसने में सुविधा हो, और हविष्यान्न नीचे न गिरे।

इसी शम्या से मापने का काम भी लेते हैं।

शराव— यह तश्तरी का पर्याय है, और यह हविष्यान्न आदि को नापने के काम में आता है।

शर्करा— छोटे-छोटे कंकड़ों वाली मिट्टी।

शाखापवित्र— दर्भों का बना एक चलनीनुमा पात्र, जिसे दूध दुहते समय कुम्भी अथवा उखा के मुख पर रखकर दूध छाना जाता है।

शिक्य (छींका)— यह मूंज और तिनकों आदि से बनाया जाता है, और इसमें छः अथवा बारह रस्सियां लगाई जाती हैं। जिस कुम्भी में दूध को जमाते हैं, वह कुम्भी इसमें रखकर इसे ऊपर लटका दिया जाता है। अग्निचितियाग में इसमें उख्याग्नि को रखकर यजमान गले में धारण करता है।

शूर्प— कूटे गये हविष्यान्न को पिछोड़कर साफ करने के लिये बांस का बना छाज।

शूल— कार्ष्मर्य का बना ऐसा कांटा, जिसमें पशुहृदय को पिरोकर पकाया जाता है।

संनहन— यजमान—पत्नी की कटि पर योक्त्र बांधने की क्रिया।

संवपन— पिष्ट (पिसी हुई) हवि में जल मिलाना।

संवपनपात्री— जिस वर्तन में पिसे हुए हविष्यान्न में पानी मिलाया है।

संस्रव— होम के बाद बचा हुआ पिघला घी संस्रव अथवा संस्राव कहलाता है। क्योंकि इस शेष घी को जुहू और उपभृत द्वारा धारा रूप में अग्नि में उंडेल दिया जाता है।

संज्ञपन— प्रहार किये बिना प्राण रोककर अर्थात् गला घोटकर पशु को मारना।

समिधा— अग्नि को जलाने के लिये अग्नि में सर्वप्रथम रखी जाने वाली लकड़ी विशेष को समिधा कहते हैं। यह उदुम्बर, अश्वत्थ, शमी, पलाश विकंकत, बिल्वक वृक्ष की लकड़ियों से बनाई जाती है। किस यज्ञ में किस लकड़ी की और कितनी समिधा होनी चाहिये, इसके बारे में अलग-अलग नियम हैं।

सम्मर्शन— मन्त्रपाठ सहित वस्तु आदि को अच्छी तरह छूना। अभिमर्शन और सम्मर्शन में सम्भवतः यह अन्तर है कि अभिमर्शन में अंगुलियों से ही स्पर्श किया जाता होगा, पर सम्मर्शन में हथेली का भी प्रयोग होता है। इसीलिये मिट्टी को फैलाकर अथवा दबाकर जमीन को सम बनाना भी सम्मर्शन कहलाता है।

सवनीय-कलश— सोम-सवन के बाद सोम-रस भरने के लिये मिट्टी के दो बड़े-बड़े कलशों को सवनीय कलश कहते हैं। इनमें एक में बिना छना सोम रस डालते हैं, अतः उसे "अपूतभृत्" कहते हैं, और दूसरे में छना रस रखते हैं, अतः उसे "पूतभृत्" कहते हैं।

सान्नाय्य— यज्ञतत्त्व प्रकाश (पृ० ३१) के अनुसार दूध और दही को मिलाकर बनाई गई हवि, जो प्रधानतः इन्द्र के लिये बनाई जाती है। मोनियर विलियम्स के संस्कृत-इंग्लिश-कोश (१२०३।३) में इसका वर्णन इस प्रकार है—"अग्निहोत्र की वह हवि—जो अमावस की शाम को दुहे गये दूध को अगले दिन ताजा दूध में मिलाकर विशुद्ध किये मक्खन के साथ होमी जाती है।"

सामिधेनी— अग्नि को समिधा द्वारा समिद्ध—प्रदीप्त—करते समय इसी अर्थ की द्योतक पढ़ी जाने वाली ऋक् को सामिधेनी कहते हैं।

सुरा— गेहूँ—जौ आदि की हरी बालियों को पीसकर उनका रस निकालते हैं, और १ से ३ रात इस रस को रखे रहने के बाद इसमें दूध मिलाकर यह हवि तैयार की जाती है।

सूद— तालाब की गीली मिट्टी।

सोम— सोमलता को पानी मे भिगो-भिगोकर कूट-पीसकर तथा निचोडकर उसका रस निकालकर सोमरस की हवि तैयार की जाती है।

स्फ्य— भूमि खोदने के काम में आने वाला खदिरकाष्ठ का बना वह औजार, जो आकार मे खड्ग की तरह होता है, और लम्बाई में अरत्निमात्र तथा चौड़ाई में चार अगुल का होता है। (श्रौ प नि ७।३४)

स्तोम— जिस आवृत्ति—लय - से स्तोत्र गाया जाता है, उसे स्तोम कहते हैं। जितनी बार आवृत्ति की जाती हैं, स्तोम को उसी संख्या वाला कहा जाता है। यथा—तीन ऋचाओ को तीन-तीन बार करके कुल ९ बार आवृत्ति करके गाया जाने वाला स्तोम त्रिवृत् (तीन का गुणा) स्तोम कहलाता है। इसी प्रकार सप्तदश स्तोम मे तीन ऋचाओं को ही १७ बार, एकविंश में २१ और सप्तविंश में २७ बार गाया जाता है। (य त प्र, पृ ९१)

स्तोत्र— सोमयाग मे ग्रह ग्रहण के बाद तत्तद् देवता को उद्दिष्ट करके उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता ऋत्विजों के द्वारा सदोमण्डप मे औदुम्बरी शाखा के समीप बैठकर ऋचाओं द्वारा जो गानात्मक स्तुति विशेष की जाती है, उसे "स्तोत्र" (स्तूयते अनेन इति) कहते हैं। एक स्तोत्र मे सामान्यत ३ ऋचायें होती हैं। (य त प्र, पृ ९१)

स्रुक्— यह आहुति देने अथवा आहुति योग्य आज्य आदि रखने के काम में प्रयुक्त चम्मचनुमा पात्र विशेष है, सामान्यतः जिसका मुख आठ अंगुल का, बिल चार अंगुल और दण्ड बारह अंगुल का होता है। (तै. ब्रा. भा. १।३६६)

यह स्रुक् पाँच प्रकार की होती है—अग्निहोत्रहवणी जुहू, उपभृत्, ध्रुवा और प्रचरणी। इन पाँचों का विशिष्ट प्रयोग इनके नामों में ही निर्दिष्ट है।

स्रुक् स्त्रीलिंग शब्द है। हिन्दी में इसके लिये स्रुचा शब्द का प्रयोग भी बहुधा मिलता है।

स्रुव— पलाश या उदुम्बर की लकड़ी का बना चम्मचनुमा वह पात्र, जिसकी लम्बाई अरत्निमात्र और अंगूठे के पर्वभाग जितना गोलाकार बिलभाग होता है। इससे आज्य, होम आदि की आहुति दी जाती है। इसमें से आज्य आदि द्रव्य का स्रवण होता है (स्रवत्याज्यादिद्रव्यमस्माद् श्रौ. प. नि. ६।४८) अतः इसे स्रुव कहते हैं।

स्वधिति— उस्तरा—इससे दीक्षा-काल में यजमान के बाल आदि काटे जाते हैं।

स्वरु— यूप-निर्माण के समय लकड़ी का जो टुकड़ा गिर जाता है, उसे जब गाड़े गये यूप के मध्य भाग में बंधी रस्सी के बीच लपेट देते हैं, तब उसी टुकड़े की "स्वरु" संज्ञा होती है।

स्वाहाकार— होम के लिये मन्त्रपाठ के बाद "स्वाहा" कहते हुये आहुति देना "स्वाहाकार" है।

हविर्धान शकट— हवि के योग्य अन्न से भरी गाड़ी, जिसमें से आवश्यकतानुसार हविष्यान्न निकाला जाता है।

होत्रक— प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण आदि सहायक ऋत्विजों को होत्रक कहते हैं। यहाँ "क" प्रत्यय "अल्पार्थकन्" से अल्प के अर्थ में हुआ है। अतः होत्रक का व्याकरणिक अर्थ है "छोटे ऋत्विज्।"

परिशिष्ट (ख)

निर्वचन-सूची

१. अग्निहोत्र का अग्निहोत्रत्व—

होत्रा वै देवेभ्योऽपाक्रामन्नग्निहोत्रे भागधेयमिच्छमाना, यद् 'अग्निहोत्रम्' इत्याह तेन होत्रा आभजति, तेनैना भागिनी करोत्येषा वा अग्रेऽग्ना आहुतिरहूयत, तदग्निहोत्रस्याग्निहोत्रत्वम्। (मै. सं. १।८।१)

२. (गायों का) अघ्न्यात्व—

ततो यत् प्रथमं रेतः परापतत् तदग्निना पर्यैन्द्ध, तदासामघ्न्यात्वम्।
(मै. सं. ४।२।१२)

३. अदाभ्य का अदाभ्यत्व—

देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त। ते देवा एतमपश्यन्, तमगृह्णत। तान् असुरा नादभ्नुवन्, तद् अदाभ्यस्यादाभ्यत्वम्। (मै. सं. ४।५।७)

४. अध्वर का अध्वरत्व—

तमेषां यज्ञमसुराणामन्वायन्। तेन वा एनानपानुदन्त। ततो देवा अभवन्, परासुराः। य एवं वेद भवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति। तेऽध्वृतोऽभूदित्यपाक्रामन्। तदध्वरस्याध्वरत्वम्। (मै. सं. ३।६।१९)

५. अप्रतिरथ का अप्रतिरथत्व—

एतेन (अप्रतिरथेन) वै देवा असुरान् प्रत्यजयन्, तदप्रतिरथस्याप्रतिरथत्वम्। (मै. सं. ३।३।७)

६. अश्वत्थ का अश्वत्थत्व—

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा रिरिचानोऽमन्यत। सोऽश्वो भूत्वा संवत्सरं न्यङ् भूम्यां शिरः प्रतिनिधायातिष्ठत्। तस्याश्वत्थो मूर्ध्न उदभिनत्। तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्। तस्मादेष यज्ञावचरः प्राजापत्यो हि।
(मै. सं. १।६।१२)

७. असुरों का असुरत्व—

तस्य (प्रजापतेः) वा असुरेवाजीवत् । तेनासुनासुरानसृजत, तदसुराणामसुरत्वम् । (मै. सं. ४।१।२)

८. असृक् का असृक्त्व—

प्रजापतिः पशूनसृजत । स वा असृगेव नासृजत । असृष्टं वा एतत् तदस्नोऽसृक्त्वम् । (मै. सं. ४।२।६)

९. आप्त्येयों का आप्त्येयत्व—

नै वै देवास्तं नाविन्दन्, यस्मिन् यज्ञस्य क्रूरमार्ष्यामहा इति । सोऽग्निरब्रवीदहं वस्तं जनयिष्यामि, यस्मिन् यज्ञस्य क्रूरमार्क्ष्यध्वा इति । सोऽपोऽगारेणाभ्यपातयत् । तत एकतोऽजायत । द्वितीयम्, ततो द्वितः । तृतीयम्, ततस्त्रितः । यदद्‌भ्योऽधिनिरमिमीत तदाप्त्येयानामाप्त्येयत्वम् । यदात्मनोऽधिनिरमिमीत तदात्मेयानामात्मेयत्वम् । (मै. सं. ४।१।९)

१०. आप्री—

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा रिरिचानोऽमन्यत । स एता आप्रीरपश्यत् । ताभिरात्मानमाप्रीणीत । (मै. सं. ३।९।६)

११. इडा का इडात्व—

यद्वै तदात्मानमैट्ट सेडाभवत्, तदिडाया इडात्वम् । (मै. सं. ४।२।३)

१२. उक्ष का उक्षत्व—

अथ या विप्रुष आसंस्तानीमान्यन्यानि रूपाणि । ततो यः प्रथमो द्रप्सः परापतत्, तं बृहस्पतिरभिहायाभ्यगृह्णात् । स उक्षाभवत् । तदुक्ष्ण उक्षत्वम् । अथो आहुर्यद्देवता अनुव्यौक्षत स उक्षाभवत्, तदुक्ष्ण उक्षत्वमिति । (मै. सं. २।५।७)

१३. उत्तरवेदि का उत्तरवेदित्व—

तेषां (असुराणां) यत् प्रियं वस्वासीत्तनाप्याधावंस्तेनेव चिन्मुच्यामहा इति । तद् देवा उत्तरवेद्याविन्दन्त । तदुत्तर वै श्रेयो विदामहीति, तदुत्तरवेद्या उत्तरवेदित्वम् । (मै. सं ३।८।३)

१४. उपरवों का उपरवत्व—

इन्द्रो वै वृत्रमहन् । स इमां प्राविशत् । तं देवताः प्रैषमैछंस्तन्नान्विदंस्तं भूतान्युपारवन्त । यो नोऽधिपतिरभूत्तन्न विन्दामा इति, तदुपरवाणामुपरवत्वम् । (मै. सं. ३।८।८)

१५ उपसदों का उपसत्व—

असुराणां वा एषु लोकेषु पुर आसन् अयस्मय्यस्मिंल्लोके, रजतान्तरिक्ष हरिणि दिवि । ते देवाः संस्तम्भ संस्तम्भ पराजयन्ताऽऽयतना ह्यासन् । त एता प्रतिपुरोऽमिन्वतहविर्धानं दिवि, आग्नीध्रमन्तरिक्षे, सदः पृथिव्याम् । तेऽब्रुवन्नुपसीदामोपसदा वै महापुर जयन्तीति । त उपासीदंस्तदुपसदामुपसत्वम् । (मै स ३.८.१)

१६ (गायों का) उस्रियात्व—

ततो यदत्यस्रवत्तद्, बृहस्पतिरूपागृह्णात् तदासामुस्रियात्वम् । (मै स ४ २।१२)

१७ औदुग्रभण का औदुग्रभणत्व—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायदुषसं तस्य रेतः परापतत् ते देवा अभिसमगच्छन्त । तस्माद् दीक्षितो न ददाति, न पचति । अथैनमभिसमगच्छन्ते, तदुदगृभ्णन्, तदौदुग्रभणस्यौदुग्रभणत्वम् । (मै स. ३।६।५)

१८. क का कायत्व—

कस्ताय कायो । यद्वै तद्वरुणगृहीतास्य कमभवत्, तस्मात् काय । (मै स. १।१०।१०)

१९. (इन्द्र का) कौशिकत्व—

चत्वारो वै पुरुषे स्वना आसन् । ततस्त्रिभिर्देवेभ्योऽजुहन् । कुशीभिरेकोऽनुगद्ध आसीत् । त वा इन्द्र एवापश्यत् । तेनेन्द्रायवाहरत्, तद् वा अस्य कौशिकत्वम् । (मै स ४।५।७)

२०. (गायों का) गोत्व—

गातुमविदामेति, तदासां गोत्वम् । (मै स. ४।२।१२)

२१. चतुर्होतृ का चतुर्होतृत्व—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति, यदेको यज्ञश्चतुर्होताथ कस्माद् सर्वे चतुर्होतार उच्यन्ता इति । चत्वारो वा एते यज्ञास्तेषां चत्वारो होतारः । तच्चतुर्होतॄणां चतुर्होतृत्वम् । (मै स. १।९।७)

२२. चित्य का चित्यत्व—

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता अनुप्राविशत् । सोऽब्रवीद्, यो मेतः संचिनवदर्धुकस्तस्य इति । तं देवाः समचिन्वंस्त आर्ध्नुवन्, तच्चित्यस्य चित्यत्वम् । (मै. स ३।४।८)

२३. छन्दों का छन्दत्व —

देवा असुरान् हत्वा मृत्योरबिभयुः । ते छन्दांस्यपश्यन् । तानि प्राविशंस्तेभ्यो यद्यदछदयत्तेनात्मानमछादयन्त, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् । (मै. सं. ३।४।६)

२४. जातवेदस् का जातवेदस्त्व –

अत्यग्निं ह्येवैते प्रविशन्त्यग्निरेतांस्तस्मात् सर्वानुतून्, पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति न ह्येत ऋतेऽग्ने । यज्जातः पशूनविन्दन्त तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् । (मै. सं. १।८।२)

२५. जुहू का जुहूत्व -

जुह्वा वै देवा विराजमह्वयन्त, तज्जुह्वा जुहूत्वम् । (मै. सं. ३।१।१)

२६. दक्षिणा का दक्षिणात्व—

घ्नन्ति वा एतत्सोमं यदभिषुण्वन्ति । यज्ञं वा एतद् घ्नन्ति । यद् दक्षिणा दीयन्ते यज्ञं वा एतद् दक्षयन्ति, तद् दक्षिणानां दक्षिणात्वम् । (मै. सं. ४।८।३)

२७. देवों का देवत्व—

तस्मै (प्रजापतये) पितृन्त्ससृजानाय दिवाभवत् । तेन देवानसृजत् तद् देवानां देवत्वम् । (मै. सं. ४।१।२)

२८. देवयजन का देवयजनत्व—

तं (यज्ञं) वै विष्णुराहरत् । यज्ञो वै विष्णुः । यज्ञो वै तद् यज्ञमसुरेभ्यो ऽऽयाहरत् । यज्ञेन वै तद् यज्ञं देवा असुराणामविन्दन्त । एतद्वा एषाभ्य॰ नूक्ता....

इतितद्वै देवा यज्ञमविन्दन् यद्वै तद् यज्ञमविन्दंस्तद्देवयजनस्य देवयजनत्वम् । (मै. सं. ३।८।३)

२९. निर्बाधों का निर्बाधत्व—

देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त । ते देवा एतान्निर्बाधानपश्यंस्तेरसुरेभ्यो लोकेभ्यो निरबाधन्त, तन्निर्बाधानां निर्बाधत्वम् । (मै. सं. ३।२.१)

३०. निवारों का निवारत्व—

देवा ओषधीषु पक्वास्वाजिमयुस्ता बृहस्पतिरुदजयत्, स एतान्निवारान् न्यवृणीत, तन्निवाराणां निवारत्वम् । (मै. सं. १।११।७)

३१. पर्ण का पर्णत्व—

तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत् । तं गायत्री श्येनो भूत्वाहरत् । तस्य पर्णमछिद्यत । ततः पर्णोऽजायत, तत् पर्णस्य पर्णत्वम् । (मै. सं. ४।१।१)

३२. पितरों का पितृत्व—

स· (प्रजापति·) असुरान्सृष्ट्वा पितेवामन्यत। ते पितॄनसृजत, तत् पितॄणां पितृत्वम्। (मै. स. ४·१।२)

३३. पुनर्वसु का पुनर्वसुत्व—

प्रजापतिं प्रजाकामा आधत्त। ता इमा प्रजा प्राजापत्या प्राजायन्त तेन ऋद्धम्। यो वै तमग्रा आधत्त, स तेन वसुना समभवत् तत् पुनर्वसो पुनर्वसुत्वम्। (मै स १।७।२)

३४. पूर्ववाट् (अश्व) का पूर्ववाट्त्व—

अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्। यत्प्राचमहरंस्तदर्थं पुरोऽभवत्, यत्प्रत्यञ्चमहरंस्तदर्थं पश्चाभवत्। तमश्वेन पूर्ववाहोदवहंस्तदश्वस्य पूर्ववाट् पूर्ववाट्त्वम्। (मै स १।६।४)

३५. प्लक्ष का प्लक्षत्व—

देवाअन्यो न्यस्मै पशुमालभन् स्वर्गं लोकमायन्। तेऽमन्यन्त अनेन वै नोऽन्ये लोकमन्वारोक्ष्यन्तीति। तस्य मेध प्लाक्षारयन्। स प्लाक्षोऽभवत् तत् प्लक्षस्य प्लक्षत्वम्। (मै स ३।१०।२)

३६. मनुष्यों का मनुष्यत्व—

स (प्रजापति) देवान् सृष्ट्वामनस्यतेव। तेन मनुष्यानसृजत। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। (मै. सं ४।१।२)

३७. यूप का यूपत्व—

यज्ञेन वै देवा स्वर्गं लोकमायन्। तं मन्यन्त·अनेन वै नोऽन्ये लोकमन्वारोक्ष्यन्तीति। त यूपेनायोपयन्, तद् यूपस्य यूपत्वम्। (मै. स· ३।६।४)

३८. रुद्र का निर्वचन—

सोऽरोदीत् तदा अस्यैतन्नाम रुद्र इति। (मै. स ४।२।१२)

३९. वशा का वशात्व—

छन्दांसि वै यज्ञाय नातिष्ठन्त। स वषट्कारोऽभिहृत्य गायत्र्या शिरोऽच्छिनत्। तस्माच् छीर्णच्छिन्नाद्यो रसोऽक्षरत् ता वशा अभवन्, तद् वशानां वशात्वम्। अथो आहुर्वंश वै ता अक्षरस्ता वशा अभवन्, तद् वशाना वशात्वमित्यथो आहुर्वशा वै सासित्, तद्वसा वा एता इति। (मै स २।५।७)

४०. वामभृत का वामभृत्व—

एतया ("वामभृत्" नाम्ना इष्टकया) वै देवा असुराणां वाम पशूनवृञ्जत तद् वामभृतो वामभृत्वम्। (मै स. ३।२।६।)

४१. वेद का वेदत्व—

(क) "यज्ञो वै देवेभ्यस्तिरोऽभवत् त देवा वेदेनान्विन्दंस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । यद्वेदेन वेद्यामास्ते यज्ञमेवास्मै विन्दति । (मै. सं. १।४।८)

(ख) वेदिर्देवेभ्योऽपाक्रामत । तां देवा वेदेनाविन्दन्, तद् वेदस्य वेदत्वम् । (मै. सं. ४।१।१३)

४२ वेदि का वेदित्व—

(क) ते देवा सलावृकीमब्रुवन् यावदियं त्रिः समन्तं पर्येति तदस्माकमिति । सा वा इमां त्रिः समन्तं पर्यैत्तद्वै देवा इमामविन्दन्त, तद् वेद्या वेदित्वम् ।

(ख) विष्णु व देवा आनयन्वामनं कृत्वा "यावदयं त्रिविक्रमते तदस्माकमिति ।" स वा इदमेवाग्रे व्यक्रमत । अथेदमथादः । तद्वै देवा इह मामाविन्दन्त, तद् वेद्या वेदित्वम् ।

(ग) देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्त । तद् यत्किंचासुराणां स्वमासीत् तद् देवा वेद्याविन्दन्त, तद् वेद्या वेदित्वम् । (मै. सं. ३।८।३)

४३. वैसर्जनों का वैसर्जनत्व—

सोमो वा एतद् राजा गृह प्राप । तस्य वै तर्हि तदैश्वर्यं । यदा वै स ततः प्रच्यवतेऽथ स तत्तभ्यो विसृजते, तद् वैसर्जनानां वैसर्जनत्वम् । (मै. सं. ३।९।१)

४४. (गायों का) शक्वरीत्व—

अशकामेति, तदासां शक्वरीत्वम् । (मै. सं. ४।२।१२)

४५. शमी का शमीत्व—

(क) अग्निर्वै सृष्टो विविदामवन्नतिष्टदसमिध्यमानः, स प्रजापतिरबिभेत् मां वावायं हिंसिष्यतीति । तं शम्या समेन्धत् तमशमयत्, तं शम्याः शमीत्वम् यं शमीमयीः समिध आदधाति समेनमिन्धे, शमयत्येव । स शं यजमानाय भवति शं पशुभ्यः । (मै. सं. १।६।५)

(ख) वनस्पतीन्वा उग्रो देव उदीपत् । तं शम्या अध्यशमयन्, तच् शम्याः शमीत्वम् । (मै. सं. ४।१।१)

४६. सांतपन मरुतों का सांतपनत्व —

प्रजाः सृष्ट्वा अंहोवयज्य सोऽकामयत "वृत्रं हन्यामिति ।" स एताभिर्देवताभिः । सयुग्भूत्वा मरुद्भिर्विशाग्निनानीकेनोपलायत । स वृत्रमेत्य वृत्र दृष्ट्वोरुस्कम्भगृहीतोऽनमिधृष्णुवन्नतिष्ठत्, तं मरुतोऽभ्यैयन्त, तेऽपेपन्, तस्य यदा मर्मागिच्छन्नथाचेष्टत्, सं दा एनं तदतपंस्तस्मात् सांतपनाः ।

ग्निना वा अनीकेनेन्द्रो वृत्रमहन्, तदनीकवत्यायेवेषो अग्नो अग्निर्वै देवानां सेनानी पत्सेनोत्थापनीयमेवैतदिन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुद्यम नाशक्नोत्, स एत मरुद्भ्यो भाग निरवपत् त वीर्याय समतपन्, त तेन वीर्येणोदयच्छन् रस वा एत तदतपस्तस्मात् सान्तपना । मध्यंदिनो चरुनिरुप्यस्तह्यु मा अग्नो तपति चरु स्यात् त हि सर्वतस्तपति देवा वै वृत्रस्य मर्म नाविन्दन्, त मरुत सुरपविना व्ययु, र वा एत तदतपस्मात् सान्तपना ।

(मं. स १।१०।१४)

०७. साम्नाय्य का साम्नाय्यत्व—

इन्द्रो वै वृत्रमहन् । स विष्वङ्-वीर्येण व्याछत् । तदिद सर्वं प्राविशदप ओषधीर्वनस्पतीन्, तेन देवा अश्राम्यन्, तत्समनयन् । तत्साम्नाय्यस्य साम्नाय्यत्वम् । तद्य एव विद्वान्साम्नाय्येन यजत ऋध्नोति ।

(मं स १।१०।५)

परिशिष्ट (ग)

संक्षिप्त संकेत विवरण
और
पुस्तक-सूची

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त-संकेत
अग्निपुराण	पूना (१९५७)	अ. पु.
अथर्ववेद-संहिता	अजमेर (वि. सं. २०१४)	अ. वे.
अमर-कोश मणिप्रभा टीका सहित।	बनारस, (१९५७)	अ. को.
उरु ज्योति	डा. वासुदेव शरण अग्रवाल, अमृतसर, (१९५३)	
ऋग्वेद-संहिता		ऋ. वे.
ऋग्वेद में यज्ञ-कल्पना	डा. नरेशचन्द्र पाठक लिखित शोध-प्रबन्ध, राजस्थान विश्व-विद्यालय पुस्तकालय, जयपुर (१९६५)।	ऋ. य. क.
ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन।	डा. नाथूलाल पाठक, जयपुर (१९६६)	

(वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं "वेदवाणी" (काशी) से उद्धृत।

का) ऐतिहासिक अनुशीलन। श्री युधिष्ठिर मीमांसक। ऐ. अनु.

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त-संकेत
काठक-संहिता	भट्टाचार्य श्रीपाद शर्मा सातवलेकर द्वारा सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, सतारा (१९४३)।	का. सं. (आं की संख्यायें क्रमशः स्थानक, अनुवाक और मन्त्रों की हैं।)

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त-संकेत
काठक-संहिता की प्रस्तावना।	भट्टाचार्य श्रीपादशर्मा सातव-लेकर द्वारा सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, सतारा (१९४३)।	का. सं. की प्रस्ता०
काण्व-संहिता	स्वाध्याय मण्डल सतारा (वि. सं. १९९७)।	काण्व सं.
कौषीतकि ब्राह्मण		कौ.
श्रीमद्भगवद्गीता		गी
गोपथ ब्राह्मण का उत्तरभाग।		गो. उ
गोपथ ब्राह्मण का पूर्वभाग।		गो पू
चरणव्यूहसूत्रम्।	आचार्य महिदास कृत भाष्य सहित, बनारस, (१९३८)।	च. व्यू.
छान्दोग्य उपनिषद्		छा. उ
जैमिनीय उपनिषद्		जै उ.
जैमिनीमीमांसा सूत्रपाठ	सम्पादक-केवलानन्द सरस्वती, प्राज्ञपाठशाला मण्डल, सतारा, (१९४८)।	जै. मी सू
ताण्ड्य ब्राह्मण		ता
तैत्तिरीय आरण्यक		तै. आ.
तैत्तिरीय आरण्यक का सायणकृत भाष्य (दो भाग)	पूना, (१९२६)	तै. आ. भा. (आगे दी गई संख्या क्रमशः भाग पृष्ठ की है।
तैत्तिरीय ब्राह्मण		तै
तैत्तिरीय ब्राह्मण का सायणकृत भाष्य (तीन भाग)	पूना, (१९३४)।	तै. ब्रा. भा. (इसके आगे दी गई संख्या क्रमशः भाग और पृष्ठों की है।)
तैत्तिरीय संहिता	अनन्तशास्त्री धुपकर द्वारा सम्पादित, स्वाध्यायम ण्डल सतारा, (१९४५)।	तै सं. (इसके आगे दी गई संख्या क्रमशः काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक और मन्त्र या कण्डिका की है।)

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त-संके
तैत्तिरीय संहिता का सायण-कृत भाष्य (आठ भाग)	सायणाचार्य, पूना, (प्रथम, द्वितीय, तृतीय और अष्टम भाग १९५१, शेष १९०१-१९०३ के प्रकाशन)	तै. सं. भा. (आगे दी गई संख्यायें क्रमशः भाग और पृष्ठ की हैं।)
'तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद" (The veda of the Black yajus Scdool Entilted taittirya sangthita) दो भाग.	डा. आर्थर बेरीडेल कीथ, देहली (१९६७)	तै. सं. अं. अ.
दर्शपूर्णमासप्रकाशः।	वामनशास्त्री, पूना, (१९२४)	द. पू. प्र.
निरुक्तम् (दुर्गाचार्य भाष्य सहित)	महामहोपाध्याय श्रीछज्जूराम शास्त्री और विद्यावागीश पं० देवशर्म शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद देहली, (१९६३)।	नि.
ब्रह्माण्डपुराण (पूर्व भाग)।	बम्बई	ब्र. पु. (पू. भा)
भागवत पुराण (द्वादश स्कन्ध) (हिन्दी व्याख्या सहित)।	वि. सं. २००८	भा. पु. (द्वा. स्क.)
भारतीय संस्कृति और साधना। (प्रथम खण्ड)	महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ कविराज, पटना (१९६३)	
भारतीय समाजशास्त्र: मूलाधार।	डा. फतहसिंह, कोटा, (१९५३)।	भा. समा. भू.
महाभारत शान्तिपर्व		महा. भा. शा.
मानवगृह्यसूत्र (अष्टावक्र भाष्य सहित)।	सम्पादक-श्री रामकृष्ण हर्ष जी शास्त्री पाठक, बड़ौदा, (१९२६)।	मा. गृ. सू.
उपर्युक्त मानवगृह्यसूत्र में सम्पादक की संस्कृत-भूमिका।	"	मा. गृ. सू. की प्रस्ता.

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त संकेत
उपर्युक्त मानवगृह्यसूत्र में श्री बी. सी लेले की अंग्रेजी भूमिका।		मा. गृ. सू का प्रीफेस
मानवश्रौतसूत्र।	डा. जीनेट एम वान गेल्डर द्वारा सम्पादित, नई दिल्ली, (१९६१)।	मा. श्रौ. सू.
उपर्युक्त मानवश्रौतसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद।	अनुवादक—डा. जीनेट एम वान गेल्डर, नई दिल्ली, (१९६३)।	मा. श्रौ. सू. का अ. अ.
मीमांसादर्शन	डा. मण्डन मिश्र	
मीमांसान्याय प्रकाश।	श्रीमदापदेव (प. चिन्नस्वामी शास्त्रि की व्याख्या सहित), बनारस, (१९४९)।	मी. न्या. प्र.
मैत्रायणी संहिता।	भट्टाचार्य श्रीपाद शर्मा सातवलेकर द्वारा सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, (वि. स १९९८, सन् १९४२-४३)।	मै. स., (इनके आगे की संख्यायें क्रमश काण्ड, प्रपाठक अनुवाक और मन्त्र या कण्डिका की हैं। कण्डिका शब्द का प्रयोग उस ब्राह्मण भाग का द्योतक है, जो अनुवाक का भी उपविभाग है।)
मैत्रायणी संहिता की प्रस्तावना।		मै. स. की प्रस्ता०
संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी	सर मोनियर विलियम्स देहली (१९६३)	मो. वि. को (सामने की संख्यायें क्रमश: पृष्ठ और कालम की हैं।)
वाजसनेयी-संहिता	अजमेर, २००७ (द्वितीय संस्करण)	वा. स.
वायु पुराण (पूर्वार्द्ध)	बम्बई	वा. पु. (पूर्वा)

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त संकेत
विष्णु पुराण (तृतीय अंश)	गोरखपुर, (वि. सं. १९९०) प्रथम संस्करण	वि. पु. (तृ. अं.)
वैदिक इण्डेक्स (दो भाग)	मेक डानल और कीथ कृत Vedic Index of Names and Subjects का रामकुमार रायकृत हिन्दी रूपान्तर, बनारस (१९६२)	वै. इ.
वैदिक कोश	हंसराज व भगवद्दत्त द्वारा संकलित और सम्पादित, लाहौर (१९२६)। ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकि, तांड्य, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्देश-स्थल इसी वैदिक कोश से लिये गये हैं।	वै. को.
वैदिक धर्म और दर्शन (दो भाग)	डॉ० आर्थर बेरीडेल कीथ की पुस्तक Religion and Phylosoplry of Vedas and Upnishad का डॉ० सूर्यकान्त कृत हिन्दी रूपान्तर। देहली, (१९६३)	वै. ध. द. (आगे की संख्या क्रमशः भाग और पृष्ठ की है।)
वैदिक वाङ्मय का इतिहास, (दो भाग)	पं० भगवद्दत्त, अमृतसर, (वि. सं. २०१३, द्वितीय संस्करण)	वै. वां इ.
वेद-विद्या	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, आगरा (१९५९)	वे. वि.
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति।	महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, पटना (१९६०)	वै. वि. भा. सं.
वैदिक साहित्य और संस्कृति।	डॉ० बलदेव उपाध्याय काशी (१९५८, द्वितीय संस्करण)	वै. सा. सं.
वैतानश्रौतसूत्र		वै. सू.

पुस्तक का नाम	लेखक, प्रकाशन का स्थान और समय	संक्षिप्त संकेत
यज्ञतत्त्वप्रकाश	श्री चिन्नस्वामी शास्त्री, मद्रास, (१९५३)।	य त प्र
यज्ञ-सरस्वती	पं० श्री मधुसूदन शर्मा, ओझा, जयपुर, (वि स २००३, प्रथम संस्करण)।	य स.
शतपथ ब्राह्मण		श (आगे की संख्यायें क्रमशः काण्ड, अध्याय, ब्राह्मण और कण्डिका की सूचक हैं।)
श्रीमद् वाजसनेयी-माध्यंदिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण का सायण और हरिस्वामी कृत भाष्य, पांच भाग,	बम्बई (१९४०)	श. ब्रा. भा. (इसके आगे दी गई पहली संख्या काण्ड की और दूसरी पृष्ठ की है।)
शांखायनश्रौतसूत्र		शा सू
श्रौतपदार्थनिर्वचनम्।	नागेश्वर शास्त्री, काशी, (१८८७)	श्रौ प नि (इसके आगे की संख्यायें क्रमशः पृष्ठ और पद की हैं।)
सैक्रिफाइस इन ऋग्वेद	डॉ० के. आर. पोतदार, बम्बई (१९५३)	
हरिवंश (महाभारतान्तर्गत) नीलकण्ठ की टीका सहित।	चित्रशाला पूना, (१९३६), प्रथम संस्करण	हरि०